पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ८६

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

भारतीय जीवन-मूल्य

लेखक

डॉ. सुरेन्द्र वर्मा

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ८९

प्रधान सम्पादक
प्रो. सागरमल जैन

भारतीय जीवन-मूल्य

डॉ. सुरेन्द्र वर्मा

पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी
१९९६

पुस्तक : भारतीय जीवन-मूल्य

लेखक : डॉ॰ सुरेन्द्र वर्मा

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई॰ टी॰ आई॰ मार्ग, करौंदी

वाराणसी — २२१ ००५

दूरभाष : ३११४६२

प्रथम संस्करण १९९६

मूल्य : रु॰ ७५.००

मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय

भेलूपुर, वाराणसी — २२१ ०१०

Book : Bhāratīya Jīvana-Mūlya

Author : Dr. Surendra Verma

Published by

Pārśvanātha Vidyāpīṭha

I. T. I. Road, Karaundi

Varanasi — 221 005

Phone : 311462

First Edition : 1996

Price : Rs. 75.00

Printed at

Vardhaman Mudranalaya

Bhelupur, Varanasi - 10

छोटी जीजी,
जिन्हें जीवन पर्यन्त मूल्यों की चिन्ता रही,
की पुण्य स्मृति में

प्राक्कथन

जीवन के विविध मूल्यों के स्वरूप और इनके आपेक्षिक महत्त्व का प्रश्न दर्शन का केन्द्रीय विषय है। हमारे देश के प्राचीन तथा मध्ययुगीन विचारक प्रायः मोक्ष की चर्चा करते हैं जो उनकी दृष्टि में जीवन का परम मूल्य है। उपनिषद् काल से ही मोक्ष की चर्चा होती आई है किन्तु रामायण, महाभारत के युग में नीति धर्म की चर्चा प्रधान थी। वाल्मीकि रामायण में तो मोक्ष नाम के पुरुषार्थ का संभवतः उल्लेख भी नहीं है। हमारे दो विशिष्ट महाकाव्य, रामायण और महाभारत का सरोकार मुख्यतः नैतिक प्रश्नों से ही रहा है।

आज के युग में यही नैतिक प्रश्न पुनः सर्वाधिक महत्त्व के हो गए हैं क्योंकि इधर के विचारशील लेखकों की चिंता का मुख्य केन्द्र इसी दुनिया, संसार का जीवन है, यहाँ क़दम क़दम पर व्यक्तियों और वर्गों के स्वार्थ एक दूसरे पर टकराते हैं।

आज समाज में भ्रष्टाचार एक महामारी की तरह फैल गया है। सारा विश्व ही उपभोक्ता संस्कृति की भंवर में फंस चुका है और आर्थिक लाभ ही एक मात्र पुरुषार्थ बन गया है। भारत में इस भौतिकवादी दृष्टिकोण के समर्थन के लिए अक्सर यह दलील दी जाने लगी है कि पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ और काम महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ हैं और उनका सेवन, अतः, निरापद है।

किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। अर्थ और काम पुरुषार्थ चतुष्टय की पद्धति में तभी मूल्यवान माने गये हैं जब धर्म द्वारा वे परिसीमित हों और उनका उदात्तीकरण किया जाए। अर्थ और काम की अंधी दौड़ तो अंततः और अवश्यमेव आत्मघाती ही सिद्ध होती है।

डॉ० सुरेन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक **भारतीय जीवन मूल्य** में इस बिन्दु को विशेष रूप से रेखांकित किया है। हिन्दी में अभी तक मूल्यों के विषय में अलग से सोचने और लिखने की प्रवृत्ति बलवती नहीं रही है। इस दृष्टि से भी डॉ० वर्मा की यह पुस्तक एक सुखद अपवाद प्रस्तुत करती है और नैतिक मूल्यों पर विशेषकर बल देती है। संप्रति डॉ० वर्मा वाराणसी स्थित 'पार्श्वनाथ विद्यापीठ' में उपनिदेशक हैं, फलतः उन्होंने अपने चिंतन के दायरे में जैन धर्म-दर्शन को विशेष स्थान दिया है, जिसका प्रभाव इस पुस्तक में स्पष्ट देखा जा सकता है।

डॉ० सुरेन्द्र वर्मा दर्शन के गम्भीर विद्वान और शिक्षक तो हैं ही, उनकी साहित्य में विशेष रुचि भी है। उनका हिन्दी माध्यम पर सुन्दर अधिकार है। उनकी भाषा प्राञ्जल और अभिव्यक्ति शैली सुठरी एवं प्रसादगुण संपन्न है। आशा है, भारतीय जीवन मूल्यों से संबंधित उनकी यह पुस्तक मूल्य-मीमांसा के विद्यार्थियों के लिए विशेषकर और समान्यतया दर्शन मात्र के जिज्ञासु पाठकों और उसका विधिवत अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

डॉ० नंदकिशोर देवराज

प्रकाशकीय

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में १९९४ से कुछ स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम आरम्भ किये गए हैं, इनमें से एक अहिंसा, शान्ति-शोध और मूल्य-शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रम भी है।

भारत में आजकल मूल्याधारित शिक्षा की बड़ी चर्चा है, किन्तु यह केवल चर्चा ही अधिक है। मूल्यों का क्या अर्थ है, क्या भारतीय प्राचीन परम्परा में मूल्यों की कोई मीमांसा हुई भी है या नहीं, क्या मूल्य केवल एक वैचारिक समझ के ही विषयमात्र हैं अथवा उनका मनुष्य के चरित्र और आचरण से भी कोई सह-सम्बन्ध है, इत्यादि, अनेक प्रश्न हैं जो अभी तक बहुत कुछ अनुत्तरित हैं।

भारतीय जीवन मूल्यों पर डॉ० सुरेन्द्र वर्मा की प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी में मूल्य-मीमांसा पर शायद पहला ही ग्रन्थ है। उन्होंने इस पुस्तक में भारत में प्राचीनकाल से स्वीकृत पुरुषार्थ व्यवस्था का विशद् विवेचन किया है। पुरुषार्थ व्यवस्था वस्तुतः मूल्यों का ही एक भारतीय मॉडल है। डॉ० वर्मा ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों मूल्यों की न केवल समीक्षा की है बल्कि उन्हें मूल्य क्यों माना जाय इस पर भी प्रकाश डाला है।

इस पुस्तक की एक विशेषता यह भी है कि इसमें जैनदर्शन को केन्द्र में रखकर एकाधिक अध्याय लिखे गए हैं जो जैनदर्शन में पुरुषार्थ के स्थान को सुनिश्चित करते हैं। तमिल काव्य "तिरुकुरल" जिसे दक्षिण भारत में पाँचवाँ वेद कहा गया है, मूलतः एक मूल्यविषयक काव्य ही है। प्रस्तुत पुस्तक के एक अध्याय में इस काव्य की भी हिन्दी भाषियों के लिये पहली बार मूल्य सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत की गयी है।

हमें प्रसन्नता है कि डॉ० सुरेन्द्र वर्मा ने अपने इस ग्रन्थ को प्रकाशनार्थ हमें उपलब्ध कराया है। विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने इसके शीघ्र प्रकाशन की प्रक्रिया में अपना विशेष सहयोग दिया है। इसी प्रकार शोध-सहायक डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी ने ग्रन्थ की सामग्री संकलित करने में भी डॉ० वर्मा की सहायता की है। एतदर्थ हम इन सबके प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

इस ग्रन्थ के लिये प्रो० सागरमल जैन ने अपनी भूमिका तथा डॉ० देवराज ने 'प्राक्कथन' लिखकर पुस्तक को अधिक मूल्यवान बना दिया है। हम उनके भी आभारी हैं।

संवत्सरी, १७ सितम्बर १९९६

भूपेन्द्रनाथ जैन
मानद सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ

प्रस्तावना

एक नवीन दार्शनिक प्रस्थान के रूप में मूल्य-दर्शन का विकास लौत्से, ब्रेण्टानो, एरनफेल्स, माइनाँग, हार्टमन, अरबन, एवरेट, मैक्स शेलर आदि विचारकों की रचनाओं के माध्यम से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होता है तथापि श्रेय एवं प्रेय के विवेक के रूप में, परम सुख की खोज के रूप में एवं पुरुषार्थ की विवेचना के रूप में मूल्य-बोध और मूल्य-मीमांसा के मूलभूत प्रश्नों की समीक्षा एवं तत्सम्बन्धी चिन्तन के बीज पूर्व एवं पश्चिम के प्राचीन दार्शनिक चिन्तन में भी उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः मूल्य-बोध मानवीय प्रज्ञा के विकास के साथ ही प्रारम्भ होता है। अतः वह उतना ही प्राचीन है, जितना मानवीय प्रज्ञा का विकास। मूल्य-विषयक विचार-विमर्श की यह धारा जहाँ भारत में 'श्रेय' एवं 'मोक्ष' को परममूल्य मानकर आध्यात्मिकता की दिशा में गतिशील होती रही, वहीं पश्चिम में 'शुभ' एवं 'कल्याण' पर अधिक बल देकर ऐहिक, सामाजिक एवं बुद्धिवादी बनी रही।

मूल्य क्या है ? इस प्रश्न के अभी तक अनेक उत्तर दिये गए हैं। सुखवादी विचार-परम्परा के अनुसार, जो मनुष्य की किसी इच्छा की तृप्ति करता है अथवा जो सुखकर, रुचिकर एवं प्रिय है, वही मूल्य है। विकासवादियों के अनुसार जो जीवन-रक्षक एवं संवर्द्धक है, वही मूल्य है। बुद्धिवादी कहते हैं कि मूल्य वह है जिसे मानवीय प्रज्ञा निरपेक्ष रूप से वरेण्य मानती है और जो एक विवेकवान प्राणी के रूप में मनुष्य-जीवन का स्वतःसाध्य है। अन्ततः पूर्णतावादी आत्मोपलब्धि को ही मूल्य मानते हैं और मूल्य के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः मूल्य के सन्दर्भ में ये सभी दृष्टिकोण किसी सीमा तक ऐकान्तिकता एवं अवान्तर कल्पना के दोष (Natuaralistic Fallacy) से ग्रसित हैं। वास्तव में मूल्य एक अनैकान्तिक, व्यापक एवं बहु-आयामी प्रत्यय है, वह एक अवस्था है, एक संस्थान है, उसमें भौतिक और आध्यात्मिक, श्रेय और प्रेय, वांछित और वांछनीय, उच्च और निम्न, वासना और विवेक सभी समन्वित हैं। वे यथार्थ और आदर्श की खाई के लिये एक पुल का काम करते हैं। अतः उन्हें किसी ऐकान्तिक एवं निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। मूल्य एक नहीं अनेक हैं और मूल्य-दृष्टियाँ भी अनेक हैं। अतः प्रत्येक मूल्य किसी दृष्टि-विशेष के प्रकाश में ही आलोकित होता है। वस्तुतः मूल्यों की और मूल्य-दृष्टियों इस अनेकविधता और बहुआयामी प्रकृति को समझे बिना मूल्यों का सम्यक् मूल्यांकन भी सम्भव नहीं हो सकता है।

भारतीय नैतिक चिन्तन में पुरुषार्थ-सिद्धान्त, जो कि जीवन-मूल्यों का ही सिद्धान्त है, पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय विचारकों ने जीवन के चार पुरुषार्थ या मूल्य माने हैं –

१. ***अर्थ*** (***आर्थिक मूल्य***) : जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिये भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है। अतः दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले इन साधनों को उपलब्ध करना ही अर्थ-पुरुषार्थ है।

२. ***काम*** (***मनोदैहिक मूल्य***) : जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाना अर्थ-पुरुषार्थ और उन साधनों का उपभोग करना काम-पुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में विविध इन्द्रियों के विषयों का भोग काम-पुरुषार्थ है।

३. ***धर्म*** (***नैतिक मूल्य***) : जिन नियमों के द्वारा सामाजिक जीवन या लोक-व्यवहार सुचारु रूप से चले, स्व-पर कल्याण हो और जो व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में ले जाए, वह धर्म-पुरुषार्थ है।

४. ***मोक्ष*** (***आध्यात्मिक मूल्य***) : आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण मोक्ष है।

सामान्यतया यह समझा जाता है कि निवृत्तिप्रधान जैनदर्शन में मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ है। धर्म पुरुषार्थ की स्वीकृति उसके मोक्षानुकूल होने में ही है। अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। जैन-विचारकों के अनुसार अर्थ अनर्थ का मूल है। सभी काम दुःख उत्पन्न करने वाले हैं। लेकिन यह विचार एकांगी ही माना जाएगा। कोई भी जिनवचन एकान्त या निरपेक्ष नहीं हैं। यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में जो अर्थ और काम बाधक हैं, वे जैन-दृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एवं हेय हैं। लेकिन दर्शन यह कभी नहीं कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय हैं। न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन विचारणा में समुचित स्थान है। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने जीवन के वासनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पक्ष को धर्मोन्मुखी बनाने तथा उनके पारस्परिक विरोध को भी समाप्त करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार मोक्षाभिमुख परस्पर अविरोध में रहे हुए सभी पुरुषार्थ आचरणीय हैं।

डॉ० सुरेन्द्र वर्मा की प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय जीवन-मूल्यों की विशद् व्याख्या की गई है। वह, जिसे आज हम 'मूल्य' कहते हैं, के लिये प्राचीन भारतीय वाङ्मय में कोई सटीक शब्द नहीं है। इसे सन्दर्भानुसार कभी 'श्रेय' तो कभी 'इष्ट', कभी 'प्रयोजन' तो कभी 'पुरुषार्थ' कहा गया है। डॉ० वर्मा ने इन सभी पदों के न केवल अर्थ स्पष्ट किये हैं बल्कि भारत में स्वीकृत दो मूल्य-प्रतिमानों – त्रिवर्ग और पुरुषार्थ-चतुष्टय की विवेचना भी की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने जैन दर्शन के सन्दर्भ में भी चारों पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सापेक्षिक

महत्त्व को भी रेखांकित किया है। इतना ही नहीं तिरुवल्लुवर, जो कि प्रथम शताब्दी के एक तमिल जैन कवि हैं, के सुप्रसिद्ध नीतिविषयक-काव्य "तिरुकुरल" को भी डॉ० वर्मा ने अपनी मूल्य-विवेचना का विषय बनाया है। "तिरुकुरल" में व्यक्त रूप से मोक्ष की विवेचना नहीं हुई है। उसका आदर्श केवल मूल्यों का त्रिवर्ग-प्रतिमान है। किन्तु "तिरुकुरल" में प्रच्छन्न रूप से मोक्षादर्श सर्वत्र विद्यमान है।

मूल्य केवल बौद्धिक विवेचना के विषय न होकर, चरितार्थ करने के लिये होते हैं और मूल्यों को चरितार्थ करने के लिये एक मनोदैहिक अनुशासन की आवश्यकता होती है। डॉ० वर्मा ने इसीलिये पञ्चव्रतों तथा योग के विभिन्न रूपों को भी अपनी पुस्तक में स्थान दिया है। बिना इसके शायद भारतीय जीवन-मूल्यों से सम्बन्धित यह ग्रन्थ अधूरा ही रह जाता।

भारतीय जीवन-मूल्यों पर हिन्दी में डॉ० सुरेन्द्र वर्मा का यह प्रथम ग्रन्थ है। अंग्रेजी में भी इस विषय पर दो-एक ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। अतः प्रस्तुत पुस्तक और भी मूल्यवान हो गई है। मैं हिन्दी जगत् में डॉ० वर्मा के इस प्रयास का स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि यह पुस्तक मूल्य-मीमांसा के साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाएगी।

डॉ० सागरमल जैन

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
१.	मूल्यों का स्वरूप निर्धारण	१
२.	भारतीय दर्शन की मूल्य व्यवस्थाएँ – त्रिवर्ग और पुरुषार्थ	१९
३.	पुरुषार्थ – धर्म और अर्थ	४४
४.	पुरुषार्थ – काम	६५
५.	पुरुषार्थ – मोक्ष और पंचकोष	८२
	अध्याय पाँच का परिशिष्ट	१०१
६.	कुरल में पुरुषार्थ	१०६
७.	जैन-दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय	१२७
८.	पंचव्रत	१५४
९.	साधना पक्ष : योग	१८४
१०.	उपसंहार	२१४
११.	अनुक्रमणिका (विषयानुसार)	२१९

अध्याय-1

मूल्यों का स्वरूप निर्धारण

प्राचीन दर्शनों में मूल्य-विवेचना

पिछले कुछ समय से मूल्य की समस्या दार्शनिक अभिरुचि का एक महत्त्वपूर्ण विषय हो गई है। इतना ही नहीं, आधुनिक वैज्ञानिक तक तथ्यों और संवृत्तियों की विवेचना में धीरे-धीरे मूल्यों के प्रति अब सजग हो गए हैं और वे घटनाओं को केवल तथ्यों के रूप में नहीं, बल्कि मूल्यगत दृष्टिकोण से देखने लगे हैं। उन्हें लगने लगा है कि तथ्य संबंधी उनके अनुमान और आकलन वस्तुतः मूल्यांकन ही होते हैं।

वह जिसे आज हम मूल्य-दर्शन कहते हैं वह स्वतंत्र विषय के रूप में अपेक्षाकृत कुछ नया अवश्य है किंतु दर्शनशास्त्र सदा से ही किसी न किसी रूप में मूल्यों से जुड़ा हुआ रहा है; और यह बात न केवल पाश्चात्य दर्शन पर बल्कि भारतीय दर्शन पर भी समान रूप से सही उतरती है। मूल्य-दर्शन, इसमें संदेह नहीं, अपने शास्त्रीय अर्थ में, और एक स्वतंत्र विधा के रूप में, न तो पाश्चात्य और न ही भारतीय परंपरा में पहले से प्राप्त है, किंतु दोनों ही परंपराओं में मूल्य संबंधी संदर्भ अवश्य देखे जा सकते हैं।

पश्चिमी दर्शन में प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त के साथ, एक तरह से वह जिसे आज हम मूल्य-मीमांसा (axiology) कहते हैं, का उदय हुआ। उसके दर्शन में शुभ के प्रत्यय में स्पष्टतः एक मूल्यबोध मिलता है। प्लेटो शुभ को आदर्श जगत् का एक चरम बिंदु मानता है। उसके लिए यह एक ऐसा प्रत्यय है जो अन्य सभी प्रत्ययों को संगठित और व्यवस्थित कर उन्हें एकता के सूत्र में पिरोता है। अतः कहा जा सकता है कि प्लेटो किसी भी वस्तु के अस्तित्व या भाव की अपेक्षा, उसके मूल्य को वरीयता प्रदान करता है और सर्वोच्च प्रत्यय का अस्तित्व उसके मूल्यवान होने में समझता है।

मूल्य-दर्शन का आरंभिक स्रोत हम अरस्तू के आचार-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र और तत्त्वविज्ञान में भी देख सकते हैं। स्टोइक और एपीक्यूरियस दार्शनिकों ने जीवन-मूल्यों के रूप में उच्चादर्श खोजे हैं। स्टोइक जहाँ जीवन की निवृत्तिवादी व्याख्या कर तपश्चर्या को जीवन का आदर्श मानते हैं, वहीं एपीक्यूरियन भोगवाद में जीवन

की सार्थकता देखते हैं। मध्यकालीन ईसाई दार्शनिकों ने अरस्तू के उच्चतम मूल्य का ईश्वर से तादात्म्य दिखाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार आधुनिक दार्शनिकों ने मूल्य के स्वरूप को निर्धारित करते समय उसके अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है। कांट ने सौंदर्य और धर्म विषयक मूल्यों की सबसे गहन विवेचना की है। हीगल के अध्यात्मवाद में भी आचार और धर्म तथा कला संबंधी मूल्यों को सर्वोपरि मान्यता मिली है और इन्हीं के समन्वय से उसने निरपेक्ष प्रत्यय की अवधारणा को विकसित किया है।

किंतु उन्नीसवीं शताब्दी से मूल्य-मीमांसा एक स्वतंत्र शास्त्र की तरह उभरी। अभी तक दार्शनिक विवेचना प्रमुख रूप से या तो ज्ञानमीमांसा थी अथवा तत्त्वमीमांसा। अधिक से अधिक वह नीति-मीमांसा थी। इन मीमांसाओं में मूल्यगत अभिरुचि केवल अव्यक्त रूप से ही निहित रहती थी। लेकिन पिछली शताब्दी में जब जीव-विज्ञान, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र जैसे विषयों में गहन अभिरुचि ली जाने लगी तो इन शास्त्रों के अंतर्गत मूल्यों की व्यावहारिक विवेचना भी की जाने लगी। दर्शनशास्त्र में नीत्शे ने पहली बार मूल्यों के तात्त्विक स्वरूप का निरूपण किया और मूल्य को एक दार्शनिक अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित किया। मूल्यों की विवेचना में नीत्शे ने 'मूल्यों के मूल्यांतरण' की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया और सभी स्वीकृत मूल्यों को चुनौती देते हुए एक नई मूल्य व्यवस्था बनाने पर बल दिया। इसी प्रकार शॉपेनहावर ने समस्त संसार को एक निराशाजनक स्थिति में पाया और मानवजीवन के लिए मूल्य के प्रश्न को केंद्र में रखा।

अरबन ने बीसवीं शताब्दी में सबसे पहले मूल्यमीमांसा पर एक व्यवस्थित ग्रंथ *वैल्यूएशन* (१९०९) लिखा। फिर तो मूल्य को केन्द्र बनाकर अनेक ग्रंथ प्रकाश में आने लगे। बोसाँके का *द प्रिंसिपल ऑव इंडिविडुएलिटी एंड वैल्यू* (१९१२), सरले का *मॉरल वैल्यूज़* (१९१८) और *द आइडिया ऑव गॉड* (१९२१), सेम्युअल एलेक्ज़ैंडर का *स्पेस, टाइम एंड डीयटी* (१९२०) ह्वाइटमैन का *एथिकी* (१९२६), आइ० बी० पैरी का *जनरल थ्योरी ऑव वैल्यू* (१९२६) तथा लेयर्ड का *द आइडिया ऑव वैल्यू*, इत्यादि अनेक ग्रंथ मूल्य-मीमांसा से संबंधित हैं।

जिस तरह पाश्चात्य दर्शन में मूल्य-मीमांसा एक नया विषय है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी मूल्य को केन्द्र में रखकर दार्शनिक चिंतन कुछ वर्षों से ही होना आरंभ हुआ है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन भारतीय दर्शन पूर्णतः

मूल्य-निरपेक्ष रहा है। सच तो यह है कि भारतीय दर्शन का उद्गम मूल्यगत चिंता में ही हुआ है। बौद्धिक जिज्ञासा भी बेशक चिंतन का स्रोत रही है, लेकिन भारत में दर्शन कभी भी बुद्धि का खेल मात्र नहीं रहा। वह हमारे बौद्धिक संदेहों का समाधान करके केवल बौद्धिक संतुष्टि ही नहीं देता, बल्कि इसका प्रयोजन एक उचित जीवन-पद्धति भी प्रदान करना है। इस अर्थ में दार्शनिक जिज्ञासा ने मनीषियों को मूल्यों को समझने और उनकी खोज की ओर अग्रसर किया है। भारत में केवल बौद्धिक विलास के लिए तत्त्वमीमांसा कभी नहीं कल्पित की गई। इसे विकसित करने का सदैव ही एक मूल्यगत आधार रहा। ऐसी तत्त्व या ज्ञान-मीमांसा जो मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से अछूती रह जाती है, यहाँ व्यर्थ मानी गई है। यह मानों, जैसा कि एक प्राचीन सूत्र कहता है, कौए के दाँत गिनना है।[1]

भारतीय दार्शनिक ने भौतिक जगत् और जीवन को किसी न किसी रूप में दोषपूर्ण पाया है। हमारे जीवन और जगत् की स्थिति, जैसी कि वह हमें दिखाई देती है, संतोषजनक नहीं कही जा सकती। यह दुःख, अज्ञान, मोह और अन्याय, आदि, की अपावन संवृत्तियों से परिपूर्ण है। समस्त भारतीय चिंतन को वस्तुतः इन्हीं अभद्र संवृत्तियों ने जन्म दिया है। बौद्ध दर्शन दुःख से जन्मा है। सभी कुछ दुःखमय है- सर्वं दुःखम्। इसी प्रकार सांख्य दर्शन में भी त्रिविध दुःखों- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक- की विवेचना की गई है। जैन दर्शन भी समस्त संसार को दुःख से व्याप्त मानता है क्योंकि यहाँ प्रत्येक प्राणी कार्मिक बंधनों से जकड़ा हुआ है। वेदान्त सारे संसार में अज्ञान को व्याप्त बताता है। *भगवद्गीता* में भी मोह और अकर्मण्यता को अभद्र माना गया है। इसी प्रकार आधुनिक भारतीय दर्शन में गांधी चिंतन की मुख्य समस्या अन्याय रही है। जीवन से जुड़ी इन तमाम व्यावहारिक समस्याओं ने भारतीय मनीषियों को सोचने के लिए बाध्य किया है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय-दार्शनिक-परम्परा में दर्शन का आरंभिक बिंदु कोरा बौद्धिक आश्चर्य न होकर, आध्यात्मिक असंतोष है कि जिससे यहाँ स्वतः एक मूल्यगत दर्शन विकसित हो सका है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय दर्शन का आरंभिक बिंदु नकार और निराशा है क्योंकि वह जीवन/जगत् को किसी न किसी अभद्र भावना से व्याप्त पाता है। लेकिन यह दार्शनिक चिंतन को प्रेरित करने के लिए उसका केवल आरंभिक सोपान है, अंतिम नहीं। दुःख और अज्ञान, अकर्मण्यता और अज्ञान जैसे निषेधात्मक पक्षों की विवेचना

कर, भारतीय दर्शन उनसे मुक्त होने का उपाय भी हमको बताता है। बौद्ध दर्शन का प्रथम आर्य-सत्य 'दुःख' अवश्य है किन्तु यह अंतिम आर्य-सत्य नहीं है। बुद्ध जहाँ हमें यह बताते हैं कि सारा संसार दुःखमय है, वहीं दुःख के कारणों को भी खोजकर वे दुःख-निरोध संभव ही नहीं बताते बल्कि दुःख-निरोध-मार्ग की ओर संकेत भी करते हैं। इसी प्रकार सांख्य-दर्शन केवल तीन प्रकार के दुःखों का प्ररूप-विज्ञान ही प्रस्तुत नहीं करता, वह इन दुःखों से छुटकारा पाने का तत्त्व-ज्ञान भी देता है। इसके अनुसार पुरुष जब तक प्रकृति से अपने आपको अलग नहीं कर लेता, उसे दुःख से मुक्ति नहीं हो सकती। पुरुष की मुक्ति-पुरुष और प्रकृति के भेद ज्ञान में ही है। यही वास्तविक अपवर्ग है। जैन दर्शन जो दुःख का अंतिम कारण कर्म-बंधन मानता है, कर्मों के क्षय से ही मोक्ष को संभव बनाता है और मोक्ष प्राप्ति के लिए वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के लिए 'त्रिरत्नों' की व्यवस्था करता है। गीता में आरम्भ से ही अर्जुन मोह और अकर्मण्यता से ग्रस्त हैं लेकिन वे इन अभद्र भावनाओं से चिरकाल तक ग्रस्त नहीं रहते। कृष्ण उन्हें इनसे मुक्ति के लिए निष्काम-कर्म की शिक्षा देते हैं। अद्वैत वेदान्त जगत् को मिथ्या ज़रूर बताता है लेकिन इस मिथ्याचार का, इस मायारूप अज्ञान का, निराकरण भी सुझाता है। यह निराकरण 'आत्मानुभूति' है। गांधी जहाँ सामाजिक स्थितियों में अन्याय देखते हैं, वहीं वे इससे सत्याग्रह द्वारा प्रतिकार का तरीक़ा भी बताते हैं।

सारांश यह है कि भारत के सभी दर्शन जीवन/जगत् की किसी न किसी अभद्र संवृत्ति को रेखांकित करते अवश्य हैं किंतु वे इसे स्थाई नहीं मानते। वे इससे बाहर निकलने का मार्ग भी सुझाते हैं और उपाय भी बताते हैं। भारतीय दर्शन का यह अभद्र से भद्र की ओर अधिगमन स्पष्ट ही एक मूल्यगत प्रस्थान है जिसके द्वारा विमूल्यों से युक्त संसार में से होकर मूल्यों के आलोक में पहुँचना उसका अभीष्ट है। वैदिक प्रार्थना-"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योर्तिगमय, मृत्योर्माममृतं गमय"-का सार विमूल्य (disvalue) से मूल्य की ओर अग्रसर होना ही है। परंपरागत भारतीय दर्शन आधुनिक अर्थ में मूल्य-मीमांसा न होते हुए भी एक प्रकार की मूल्य विवेचना करता है क्योंकि उसकी मुख्य अभिरुचि का विषय कोई न कोई व्यावहारिक समस्या है जिससे जूझने के लिए उसने किन्हीं मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है।

किंतु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि भारतीय चिंतन में बौद्धिक आश्चर्य या संदेह के लिए कोई स्थान नहीं है, ऐसा सोचना भी ग़लत होगा। वैदिक ऋचाओं

में अनेक ऋचाएँ हमें ऐसी मिलती हैं जो प्रकृति के व्यवहार के प्रति आश्चर्य प्रकट करती हैं। इस आश्चर्य के समाधान हेतु भारतीय मनीषियों ने एक स्पष्ट दार्शनिक सोच विकसित किया जो आगे चलकर अनेक दार्शनिक संप्रदायों में अपनी संपूर्ण बौद्धिक विवेचना के साथ तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के भव्य तंत्रों में देखने को मिलता है। लेकिन जिज्ञासा का यह पक्ष सदैव ही उस आध्यात्मिक असंतोष के अधीन बना रहा है जिसने मूल्यों की खोज को वरीयता प्रदान की।

सच तो यह है कि भारत की दार्शनिक और तत्त्वमीमांसात्मक अवधारणाओं का भी एक मूल्यगत आधार है। उदाहरण के लिए *ऋग्वेद* की ऋत और सत्य की अवधारणाएँ और उसका कर्म-सिद्धान्त ऐसे ही प्रत्यय हैं जो विश्व की संरचना में हमें मूल्यों की पहचान कराते हैं। इसी प्रकार आत्मन् की धारणा, जिसे ब्रह्मन् के समानार्थक माना गया है, एक मूल्यगत अवधारणा ही है। स्पष्ट ही यहाँ मूल्य से तात्पर्य एक आध्यात्मिक मूल्य से है जिसकी अनुभूति की जानी 'चाहिए'। इस अनुभूति के चरितार्थ के लिए एक प्रकार की नैतिक-आध्यात्मिक बाध्यता है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में कहा गया है कि आत्मन् पुत्र से भी अधिक प्रिय है, अर्थ से भी अधिक प्रिय है और अंतर्तर है। एक स्त्री को उसका पति, पति के रूप में प्यारा नहीं होता बल्कि वह 'आत्मनः कामाय' है।[२] तात्पर्य यह है कि वह सब जो हमारे अनुभव में अनिवार्यतः मूल्यवान है, मनुष्य के अंतर्तर के हित में है। भारतीय दर्शन इस प्रकार मनुष्य के अपने लिए, अपने वास्तविक स्वरूप के लिए, जो शुभ है, उसका अध्ययन है। इसमें शुभ या मूल्य का विचार उसकी आंतरिक संरचना में ही समाविष्ट है। इस अर्थ में यह कहना कि भारतीय दर्शन पहले मूल्य-दर्शन है और तत्त्वमीमांसा या ज्ञानमीमांसा बाद में है, अनुचित न होगा।[३]

मूल्यों का स्वरूप

मूल्यों का स्वरूप निर्धारण एक अत्यंत कठिन काम है। कुछ दार्शनिक तो मूल्य अपरिभाष्य मानते हैं और किसी हद तक उनका यह मत सही भी है। किंतु मूल्यों को अपरिभाष्य मानकर, उनके बारे में मौन हो जाना भी दार्शनिक दृष्टि से ग़लत होगा। स्पष्ट ही यदि कोई विषय अद्वितीय और अखंड हो तो वह विवेचना का विषय नहीं बन सकता; किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी विषय की विवेचना से उसके अद्वितीय या अखंड स्वरूप का पता नहीं चल सकता। वह वस्तु जो अद्वितीय है, अनेक

अन्य वस्तुओं के सदृश प्रतीत हो सकती है और विवेचना से उसकी वास्तविक अद्वितीयता को प्रतिष्ठापित किया जा सकता है।[४] अतः मूल्य को यदि अनिर्वचनीय भी माना जाए तो भी विवेचना द्वारा उसकी तथाकथित अनिर्वचनीयता को कम से कम सिद्ध तो किया ही जा सकता है।

विट्गेंस्टाइन ने भाषाई-खेलों के संदर्भ में कहा था-उनकी व्याख्या न करो, उन्हें केवल देखो! *डोंट थिंक बट लुक!*[५] क्या यही बात मूल्यों पर भी लागू नहीं होती! क्या मूल्यों की एक बेहतर समझ, बजाय इसके कि हम उनकी व्याख्या करें, हम केवल उनको 'देखकर' प्राप्त नहीं कर सकते? यह एक कठिन काम है कि हम उनका विश्लेषण करें। लेकिन उनके कार्यों को 'देखकर ही' उनके संबंध में बहुत सी बातें स्पष्ट हो सकती हैं। मूल्यों को समझने का बेशक यह एक बेहतर तरीक़ा है। लेकिन इस पद्धति की भी अपनी सीमाएं हैं। मूल्यों के संबंध में जब हम यह विधि अपनाते हैं तो हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि यह पद्धति स्वयं भी मूल्य निरपेक्ष नहीं है। जो भी हो, मूल्यों की अपरिभाष्यता से आतंकित होकर या मूल्यों की अर्थक्रिया में जो मूल्यगत पूर्वाग्रह है, उससे घबराकर मूल्यों की विवेचना का प्रयत्न ही छोड़ देना दार्शनिक बुद्धि-मत्ता नहीं होगी।

मूल्यों के संबंध में प्रायः कहा जाता है कि वे वस्तुओं पर आरोपित किए जाते हैं। वस्तुओं/वृत्तियों/घटनाओं को मूल्य होने का *श्रेय प्राप्त कराया जाता है।* मूल्य इस प्रकार *एस्क्रिप्टिव* हैं। उदाहरण के लिए हम एक गिलास को लें। इसे यदि पानी पीने के दृष्टिकोण से देखा जाए तो इसमें उपयोगिता का मूल्य परिलक्षित होगा। यह मात्र गिलास न रहकर एक उपयोगी गिलास हो जाएगा। किंतु इसी गिलास को यदि हम एक कलाकृति के रूप में लें तो उस पर हम सौंदर्यात्मक मूल्य आरोपित कर देगें। मानवी श्रम का एक उत्पाद होने के नाते, इसमें आर्थिक मूल्य भी देखा जा सकता है। इन सभी दृष्टियों से गिलास मात्र एक भौतिक वस्तु नहीं रह जाता बल्कि एक 'मूल्यवान' वस्तु हो जाता है। विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार उस पर उपयोगिता का मूल्य, या, आर्थिक मूल्य, या, सौन्दर्य मूल्य आरोपित कर दिया जाता है और उसे, इस प्रकार, एक मूल्य (वान) होने का *श्रेय प्राप्त* हो जाता है। कुछ-कुछ यही बात विचारों और अवधारणाओं पर भी लागू होती है। कुछ प्रत्यय भी इसी प्रकार मूल्य बन जाते हैं। वे सामाजिक आदर्श या आध्यात्मिक प्रयोजन हो जाते हैं और मूल्य ग्रहण कर लेते हैं। अतः मूल्य, कहा जा सकता है, आरोपित वस्तुएँ- एस्क्रिप्टिव एण्टिटीज़-हैं।

मूल्यारोपण स्पष्ट ही एक मानव कर्तृत्व है। मूल्यों को हम उनके मानव-संदर्भ से वंचित नहीं कर सकते। भारतीय-दर्शन में मूल्य के लिए जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह है-पुरुषार्थ। पुरुषार्थ से आशय पुरुष के प्रयोजन से है। 'पुरुषार्थ' में 'पुरुष' संयुक्त है। जहाँ कहीं भी मूल्य का संदर्भ आता है, मानव-संयुक्तता पूर्व-मान्यता के रूप में उसमें निहित रहती है। हम पशुओं या वस्तुओं के संदर्भ में मूल्यगत चिंता नहीं करते। मूल्यगत चिंता केवल मनुष्य के संदर्भ में ही संभव है-और यही वह चीज़ है जो मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्न बनाती है। एक सुभाषित के अनुसार, आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं में समानरूप से विद्यमान हैं, किंतु विवेकपूर्ण आचरण ही मनुष्यों को पशुओं से भिन्न बनाता है। स्पष्ट ही, यहाँ विवेकपूर्ण-आचरण से आशय उस व्यवहार से है जिसे मनुष्य मूल्यवान समझता है। *कठोपनिषद्* में 'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' में भेद किया गया है।[६] श्रेयस् से आशय यहाँ शुभ-आचरण से है और 'प्रेयस्' से आशय इंद्रियानुकूल आचरण से है जो मनुष्य को केवल क्षणिक-सुख देता है। 'प्रेयस्' तो पशु भी अपनाते हैं लेकिन 'श्रेयस्' का वरण केवल मनुष्य ही करता है, और इसी को 'मूल्य' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मूल्य मानव-निरपेक्ष नहीं हो सकते। मानव परिप्रेक्ष्य में ही वे अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं।

मनुष्य को हर बार वह जो मूल्यवान है और वह जो मूल्य रहित है, के बीच चयन करना पड़ता है। श्रेयस् और प्रेयस् के दोनों ही विकल्प उसके सम्मुख उपस्थित रहते हैं। उसे कभी-कभी कम श्रेयस्कर और अधिक श्रेयस्कर में भी चुनाव करना पड़ता है। उपनिषद् कहता है कि प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य प्रेयस् की अपेक्षा श्रेयस् का ही वरण करता है। लेकिन, स्पष्ट ही, यदि वह चाहे तो प्रेयस् का भी वरण कर सकता है। उसके लिए दोनों ही द्वार खुले हैं। अतः कहा जा सकता है कि मूल्य एक चुनाव की वस्तु है और इस चुनाव में व्यक्ति स्वतंत्र है। पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो मूल्य 'वरेण्य' हैं। उन्हें वरण किया जाता है। मूल्यों की यह वरेण्यता मनुष्य के स्वतंत्र संकल्प के द्वारा संभव हो पाती है। इस प्रकार मनुष्य का स्वतंत्र संकल्प स्वयं ही एक मूल्य हो जाता है। मूल्यों को हम सदैव मनुष्य की स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष्य में ही देख सकते हैं। यदि मनुष्य स्वतंत्र न हों तो मूल्य अपनी मूल्यवत्ता खो देते हैं। क्योंकि तब उन्हें वरण करने वाला कोई शेष नहीं रहता। मूल्य के लिए भारतीय दर्शन में जो 'पुरुषार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसके अर्थ में मानव प्रयत्न भी निहित है जो वस्तुतः मनुष्य के स्वतंत्र-संकल्प की ओर संकेत करता है।

मूल्य जहाँ एक ओर आरोपण के विषय हैं (श्रेय *दिया* जाता है) और उन्हें मनुष्य की स्वतंत्रता के संदर्भ में ही समझा जा सकता है, वहीं दूसरी ओर वे नियोजक *(प्रेस्क्रिप्टिव)* भी होते हैं। वे मानवी आचरण के प्रेरक हैं। वे स्वयं को विहित-वाक्यों के रूप में अभिव्यक्ति देते हैं। उनका स्वरूप आदेशात्मक है। यह बात विशेषकर नैतिक मूल्यों के संदर्भ में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उनकी प्रकृति 'यह करो' या 'न करो' के रूप में होती है। सत्य बोलो, हिंसा न करो, चोरी न करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो, परिग्रह मत करो, इत्यादि सभी नैतिक मूल्य नियोजक हैं। वे हमें क्या करें या क्या न करें के लिए मानों नियुक्त करते हैं।

मोटे तौर पर नैतिक मूल्यों के लिए भारतीय दर्शन में 'धर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। धर्म की परिभाषा देते हुए *मीमांसा सूत्र* में कहा गया है-'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।'[७] इसका तात्पर्य है कि धर्म का अर्थ प्रेरणा स्वरूप है। धर्म नियोजक है, विहित है। वेद-वाक्य, अन्य लक्षणों के अतिरिक्त विहित होने के नाते ही 'धर्म' है। स्पष्ट ही नैतिक मूल्यों के नियोजकत्व में, आदेश के बल के अनुसार, भिन्नताएँ हो सकती हैं। वेदों के जो निर्देश हैं वे प्रभु-सम्मित माने गए हैं क्योंकि उनमें आदेश का बल सर्वाधिक है। लेकिन जब आदेश का बल थोड़ा कम हो जाता है और आदेश लगभग 'निर्देश' का रूप ले लेता है तो वह मित्र-सम्मित कहा जाता है। उसमें 'चाहिए' का बल अपेक्षाकृत कम रहता है। कान्ता-सम्मित उपदेशों में यह बल अपने न्यूनतम रूप में परिलक्षित होता है। काव्यादि साहित्य में जो नैतिक उपदेश है वह वस्तुतः कान्ता-सम्मित रूप में ही प्राप्त है। जो भी हो, नैतिक काव्यों की यह विशेषता है कि वे नियोजक हों, और उनका यह नियोजकत्व उन्हें स्वयं नैतिक-मूल्यों से प्राप्त होता है।[८]

वस्तुतः जब हम कहते हैं कि मूल्य नियोजक हैं तो यह बात मूल्यों में निहित एक 'निश्चिति'/'अनिवार्यता' की ओर संकेत करती है। बेशक, मूल्यों की यह निश्चिति, तर्कीय या गणितीय अनिवार्यता नहीं है जिसके अनुसार '१ + १ = २' होना ही चाहिए, अथवा, सभी मनुष्य मरणशील हैं और राम एक मनुष्य है इसलिए राम को मरणशील होना ही चाहिए, इत्यादि। मूल्यों में जो 'निश्चिति' निहित है वह उसके मूल्य होने में है। मूल्य होने के नाते उनका चरितार्थ किया जाना आवश्यक है। यदि सत्य बोलना एक मूल्य है तो सत्य बोला जाना चाहिए। लेकिन मनुष्य के लिए विकल्प सदा खुला रहता है। वह चाहे तो झूठ भी बोल सकता है-लेकिन तब सत्य उसके लिए अपनी मूल्यवत्ता खो देगा। तब सत्य बोलने की बजाय, कुछ और बात उसके लिए अधिक मूल्यवान हो जाती है।

मूल्यों में निहित निश्चिति, या, कहें-'चाहिए' का भाव, उनकी चरितार्थता से संबंधित है। मूल्य एक आदर्श स्थिति है जिसे चरितार्थ किया जाना चाहिए। वरेण्य होने के नाते, मूल्य केवल ज्ञान या प्रज्ञा का व्यापार नहीं है बल्कि 'क्रतु' अथवा संकल्प का विषय है। अतएव मूल्यार्थी के लिए प्रयोजन-मूलक सदाचार परम आवश्यक है। केवल बुद्धि द्वारा मूल्य-प्राप्ति संभव नहीं है। एक बुद्ध या एक महावीर अथवा एक मस्करी गोशाल अपने अपने ढंग से, वह जिसे मूल्यवान समझते थे, उसकी प्राप्ति हेतु साधना करते थे। इसीलिए वे अपना पुरुषार्थ प्राप्त कर सके।

मूल्यों को सत्-असत् की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इनका संदर्भ चरितार्थ-अचरितार्थ की कोटि से है। मूल्य ऐसे सत्/भाव हैं जिन्हें होना *चाहिए* किन्तु, इसीलिए वे ऐसी अवस्था में हैं जो न 'हैं' और न 'नहीं हैं'। वे 'नहीं हैं' क्योंकि अभी उन्हें उपलब्ध किया जाना है। यह एक 'होने-योग्य' अवस्था है। मूल्यों में इस प्रकार एक ओर 'भवितव्यता' का दावा है तो दूसरी ओर उनके 'औचित्य' का विधान है। मनुष्य उन्हें ही लक्ष्य मानकर उनकी ओर अग्रसर होता है। मूल्यों को इसीलिए भाव-अभाव के कहीं मध्य स्थित माना जा सकता है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे प्रवर्तमान (बिकमिंग) हैं। वे आदर्श होने के नाते 'भव्य' नहीं है। किंतु उन्हें 'संभविन्' की कोटि में बेशक रखा जा सकता है। वास्तव में भाव-अभाव/सत्-असत् की कोटि मूल्यों के संदर्भ में अप्रासंगिक है।

निःसंदेह मूल्य आदर्श हैं किंतु वे ऐसे आदर्श नहीं है जो अप्राप्य हों। एक अप्राप्य आदर्श कभी मूल्य नहीं कहा जा सकता। वह ऐसे में मानव संदर्भ में निरर्थक हो जाएगा। वह मूल्य की कोटि से च्युत हो जाएगा। वह अनर्थ या विमूल्य *(डिस्वैल्यू)* बन जाएगा। मूल्यान्वेषण में मनुष्य मूल्य को लक्ष्य मानकर उसे चरितार्थ करने की ओर अग्रसर होता है। यदि वह चरितार्थ-योग्य ही नहीं है, अथवा, उसे चरितार्थ करना मानवी क्षमता के बाहर है, तो उस ओर अग्रसर होना बेमाने हो जाता है। मनुष्य स्वयं उड़ नहीं सकता अतः उड़ पाना उसके लिए आदर्श (मूल्य) नहीं बन सकता। चार्वाकी जब कहते हैं कि मूल्य असत् वस्तु की माँग है तो वे मूल्य को एक ऐसा आदर्श मान बैठते हैं जिसे प्राप्त किया ही नहीं जा सकता। सच तो यह है कि मूल्य न तो सत की माँग होती है, न असत् की। मूल्य तो वह अवस्था है जो बेशक प्राप्त की जा सकती है-जिसकी उपलब्धि पूरी तरह संभव है। मूल्यों को इसीलिए 'संभविन्' की कोटि में रखा जा सकता है।

मूल्य में निहित जो 'चाहिए' का तत्त्व है वह मूल्य को तथ्य से अलग करके उसके ग़ैरप्रकृतिवादी चरित्र की ओर संकेत करता है। किंतु यह सोचना कि मूल्य का कोई तथ्यात्मक या प्रकृतिवादी पक्ष है ही नहीं, ग़लत होगा। उदाहरण के लिए 'इष्ट' विषय के रूप में, अथवा 'अभिरुचि' या 'सुख' के रूप में मूल्य की कल्पना की जा सकती है। ऐसी प्राक्कल्पनाएँ वस्तुतः की भी गई हैं। किंतु इन सिद्धान्तों से मूल्य 'फलित' नहीं होता। प्रकृतिवादी पद मूल्य को 'परिभाषित' करने में असमर्थ हैं। ऐसा किया जाना 'प्रकृतिवादी-दोष'-*नैचुरलिस्टिक फैलसी* -(मूर) होगा।

मूल्य एक न होकर अनेक होते हैं, और मानवी जीवन पर उन सबका अपना अपना दावा होता है। मूल्यों को नैतिक, सामाजिक, सौंदर्य सम्बन्धी, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक क्षेत्रों में कोटिबद्ध किया जा सकता है। किंतु ये सभी प्रकार के मूल्य अपेक्षाकृत अपनी निजी पहचान बनाए रखते हुए भी, एक दूसरे से परिपूरित भी होते रहते हैं। हम प्रायः मूल्यों के विषय में कुछ इस प्रकार सोचते है कि मानों वे एक दूसरे से पूर्णतः स्वतंत्र हों। लेकिन मूल्यों की तथाकथित स्वतंत्रता निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। मूल्यों की स्वतंत्र पहचान का अर्थ यह नहीं है कि मूल्य परस्पर असंबंधित होते हैं। उदाहरण के लिए 'सुन्दर' निःसंदेह 'शुभ' और 'सत्य' से भिन्न है लेकिन इन तीनों के बीच परस्पर संबंध न केवल स्वाभाविक है, वरन् कदाचित् आवश्यक भी है। वे एक दूसरे को प्रभावित कर, एक दूसरे में प्रवेश तक कर जाते हैं। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे मानों एक ही मूल्य के तीन आयाम हों। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम जीवन और उसके मूल्यों की जटिलता को स्वीकार करते हुए, उनकी मूल्यगत एकता को भी पहचाने। वह जीवनानुभूति जिसमें एक से अधिक जीवन मूल्यों को चरितार्थ किया जाता है, ज़ाहिर है, एक अधिक समृद्ध जीवन अनुभूति होगी।

मूल्यों की यह बहुविध दृष्टि जो किसी भी व्यक्ति के समग्र जीवन को अधिक सम्पन्न बनाती है तभी मूल्यवान मानी जा सकती है जब विभिन्न क्षेत्रों के मूल्य एक-दूसरे के विरुद्ध आचरण न करें बल्कि सभी एक समन्वयात्मक पद्धति में संयुक्त हो सकें। तब वे मानों एक संगीत का निर्माण कर सकते हैं जिनमें विभिन्न वाद्ययंत्र और अनेक स्वर अपनी-अपनी डपली और अपना-अपना राग न बजाकर परस्पर सामंजस्य रखते हुए एक सुगठित संगीत को जन्म देते हैं।

भारतीय मूल्य व्यवस्था में जो त्रिवर्ग-पद्धति की कल्पना की गई है वह कुछ इसी

प्रकार की है। धर्म, अर्थ और काम अपने-अपने वर्ग में अनेक मूल्यों को समेटे हुए हैं। धर्म में नैतिक मूल्य, अर्थ में आर्थिक मूल्य और काम में मनोवैज्ञानिक मूल्य समाहित हैं। तीनों ही मूल्य-वर्ग इस प्रकार स्वतंत्र हैं कि उनकी पहचान बनी रहती है लेकिन उनकी मूल्यवत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि उनका सेवन एक दूसरे के लिए घातक न हो।[९] यह व्यवस्था दो प्रकार से चरितार्थ होती है। एक तो अर्थ और काम संबंधी मूल्यों को धर्म द्वारा मर्यादित करके और दूसरे धर्म को अर्थ और काम में परिपूरित करके। यदि अर्थ और काम धर्म द्वारा मर्यादित नहीं होते तो वे आत्मघाती हो जाते और अपनी मूल्यवत्ता खो देते। केवल मर्यादित अर्थ और मर्यादित काम ही मूल्यवान हो सकता है। धर्म जबतक अर्थ और काम में प्रवेश नहीं करता, उन्हें (अर्थ और काम) मूल्यवान नहीं समझा जा सकता। लेकिन दूसरी ओर यदि अर्थ और काम न हों तो धर्म किसे मर्यादित या नियोजित करेगा? इन दोनों के बिना धर्म केवल एक प्रत्यय मात्र बनकर रह जाएगा। इस प्रकार तीनों ही मूल्य-वर्ग समन्वित रहकर ही अपनी वास्तविक मूल्यवत्ता प्राप्त करते हैं।

यदि सभी मूल्य एक दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी सामंजस्य और संतुलन बनाए रखते हैं तो इसका अर्थ है, मूल्यों का एक तारतम्य या पदानुक्रम भी होना चाहिए क्योंकि जब तक उनका अपना-अपना पद और स्थान सुनिश्चित नहीं किया जाता तब तक उनमें समन्वय भी संभव नहीं है। यदि हम मूल्यों की भारतीय त्रिवर्ण-पद्धति को ही लें तो इसमें स्पष्ट ही सर्वोच्च स्थान धर्म को ही दिया जा सकता है क्योंकि धर्म न केवल अपने आप में मूल्यवान है बल्कि अर्थ और काम को भी मर्यादित और नियमित कर मूल्यवान बनाता है। जहाँ तक 'अर्थ' और 'काम' का परस्पर संबंध है। उसमें 'काम' 'अर्थ' की अपेक्षा एक उच्चतर पुरुषार्थ है क्योंकि अर्थ अपने आप में मूल्यवान न होकर केवल इसलिए मूल्यवान है कि वह कामनाओं की संतुष्टि (सुख) में सहायक है। किंतु काम एक 'स्वतः मूल्य' है। काम के संदर्भ में यह प्रश्न बेमाने हो जाएगा कि वह क्यों कर मूल्यवान है? कि हम काम (सुख) क्यों चाहते हैं? काम की संतुष्टि अपने आप में ही मूल्यवान है।[१०]

मूल्यों का वर्गीकरण अनेक तरह से किया जा सकता है।[११] सबसे उपयोगी वर्गीकरण साध्य-मूल्यों और साधन-मूल्यों की निःश्रेणी है। इन्हें क्रमशः स्वतः मूल्य और परतः मूल्य भी कहा जा सकता है। परतः मूल्य वे मूल्य हैं जिनका अन्वेषण स्वतंत्र रूप से स्वयं उन मूल्यों के हेतु न होकर, दूसरे उद्देश्यों (मूल्यों) की प्राप्ति के

लिए किया जाता है। ये मूल्य स्वतः मूल्यों की प्राप्ति के लिए एक साधन या माध्यम-मात्र होते हैं। स्वतः मूल्य (या साध्य-मूल्य) स्वयं अपने आप में ही मूल्यवान होते हैं इन्हें प्राप्त कर लेना मानव लक्ष्य/प्रयोजन बन जाता है।

परतः मूल्यों के बीच हम भौतिक और आर्थिक मूल्यों में अंतर कर सकते हैं। आर्थिक मूल्य अपने आप में मूल्य न होकर केवल विनिमयमूल्य (value in exchange) हैं जिनसे कि हम लेन-देन कर सकते हैं। भौतिक मूल्य भी इसी प्रकार स्वयं में मूल्यवान न होकर केवल इसलिए मूल्यवत्ता ग्रहण कर लेते हैं कि वे हमारे उपयोग में आते हैं। उन्हें उपयोगी मूल्य (value in use) कहा जा सकता है। त्रिवर्ण पद्धति में अर्थ एक परतः (साधन) मूल्य है जो काम की संतुष्टि में सहायक होता है। अर्थ की दृष्टि से काम एक साध्य है। वह अपने आप में ही मूल्यवान है क्योंकि हम यह नहीं पूछते कि कामनाएँ क्यों कर संतुष्ट की जाएँ!

किंतु, अर्थ की तरह, काम भी निरपेक्षतः स्वतः मूल्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह तभी मूल्यवान हो पाता है कि जब धर्म उसे मर्यादित/नियमित/निर्धारित करे। निरपेक्ष काम आत्मघाती हो जाता है। 'धर्म', इस तरह 'अर्थ' और 'काम' दोनों का ही साध्य है। किंतु यदि हम पुरुषार्थ-योजना के अधीन धर्म को देखें तो धर्म भी मोक्ष का साधन ही है।

तात्पर्य यह है कि वह मूल्य जो एक स्तर पर स्वतः मूल्य होता है, अपने उच्चतर स्तर पर परतः मूल्य हो जाता है। अर्थ की अपेक्षा काम स्वतः मूल्य है, लेकिन 'धर्म' की अपेक्षा से 'काम' स्वतः मूल्य नहीं रहता। काम और अर्थ की दृष्टि से धर्म स्वतः मूल्य है लेकिन पुरुषार्थ-योजना में धर्म अंततः मोक्ष का साधन होने के नाते, स्वयं भी साधन मूल्य (परतः मूल्य) बन जाता है।

मूल्यों की एक अन्य निःश्रेणी सापेक्ष और निरपेक्ष मूल्यों की है। निरपेक्ष मूल्यों से तात्पर्य उन परम मूल्यों से है जो अपने आप में, और सदैव ही, साध्य-मूल्य हैं। सत्यम्, शुभम् और सुन्दरम्, इत्यादि, ऐसे ही मूल्य हैं। व्यावहारिक स्तर पर मनुष्य सापेक्ष मूल्यों के स्तर पर ही अपना काम चलाता है। ये सापेक्ष मूल्य वे सभी भौतिक और आर्थिक मूल्य हैं जो कभी परम साध्य नहीं हो सकते। परम साध्य ही निरपेक्ष मूल्य हो सकते हैं क्योंकि ऐसे मूल्य किसी भी अपेक्षा से-सापेक्षित-नहीं होते।

क्या वस्तुतः ऐसा कोई मूल्य है जो सदैव निरपेक्ष हो? क्या निरपेक्ष मूल्य एकाधिक

हो सकते हैं? क्या निरपेक्ष मूल्य, यदि वे एकाधिक हैं, परस्पर संबंधित हैं? यदि हाँ, तो उनके मध्य किस प्रकार का संबंध है, इत्यादि, अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिन पर मूल्य-दार्शनिकों में मतभेद हैं।

भारतीय मूल्य समीक्षा के अनुसार स्वयं पुरुष ही, जिसे आत्मन् भी कहा गया है, एक मात्र परम और निरपेक्ष मूल्य है। व्यक्ति अपने पुरुषत्व को प्राप्त करे यही उसका सर्वोच्च साध्य है। वे सारे मूल्य और मूल्यांवेषण, जो इस आत्मसाक्षत्कार की ओर प्रस्थवन करता है, साधन/सापेक्ष मूल्य हैं।

वस्तुतः पुरुषार्थ से आशय ही उस प्रयोजन से है जिसे पुरुष सिद्ध करना चाहता है। और यह केवल उसकी अपनी सच्ची वास्तविकता ही हो सकती है। व्यक्ति की अपनी सच्ची वास्तविकता की उपलब्धि तभी संभव है जब वह अपने निम्नतर स्तरों से मुक्त हो सके। वह जब अपने जैविक और मनोवैज्ञानिक स्तरों का अतिक्रमण कर आध्यात्मिक स्तर पर उठता है तभी 'मोक्ष' प्राप्त कर पाता है। मोक्ष, इस प्रकार, जहाँ एक ओर अपने जैविक और मनोवैज्ञानिक बंधनों से मुक्त होना है, वहीं वह दूसरी ओर, अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करना भी है।

फिर भी, भारतीय मनीषा के अनुसार मूल्य कोई उद्‌गामी तत्त्व नहीं है। इसका उद्‌गम देश-काल संरचना में नहीं हुआ है (सेम्युअल एलेक्ज़ैंडर)। इनकी सृष्टि जीवन के किसी अंध सर्जनात्मक सिद्धान्त द्वारा भी नहीं हुई है (बर्गसाँ)। वे न तो मनुष्य की विषयीगत कोई कामनाएँ या अभिरुचियाँ (पैरी) हैं और न ही वे ऐसे अनन्य प्रत्यय हैं जिन्हें प्रत्यक्षानुभूति द्वारा जाना जाता है (मूर)। सच तो यह है कि मूल्य व्यक्ति के आध्यात्मिक स्वरूप में पहले से ही अंतर्वर्ती हैं। जैसे-जैसे मनुष्य अपने निम्नतर सोपानों से मुक्त होता जाता है और आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता जाता है, वह अपने सर्वोच्च मूल्य (मोक्ष) को प्राप्त करता जाता है। अंततोगत्वा आत्मानुभूति ही सर्वोच्च मूल्य है। शेष सभी आत्म-सापेक्ष हैं। सापेक्ष मूल्य "आत्म-संकेत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[१२] आत्मसंकेत में ही उनकी मूल्यवत्ता निहित है।

मूल्य और तथ्य

दार्शनिकों ने प्रायः मूल्यों और तथ्यों के बीच अंतर को स्वीकार किया है। तथ्य वे हैं जो वस्तुनिष्ठ हैं और जिनका देश-कालिक अस्तित्व है। इसके विपरीत मूल्य वस्तुगत नहीं होते। उनमें एक प्रकार की आत्मनिष्ठता होती है। वे तथ्यों पर मानों

आरोपित किए जाते हैं और यह आरोपण किसी न किसी व्यक्ति या समाज द्वारा होता है। उदाहरण के लिए यदि हम वस्तु की ओर संकेत करते हुए कहें कि यह एक गिलास है तो यह एक तथ्यगत कथन होगा जो एक निश्चित देश-काल में अवस्थित एक वस्तु के संदर्भ में किया गया है। किंतु यदि हम कहें कि यह गिलास उपयोगी या सुन्दर है तो यह एक मूल्यगत निर्णय होगा क्योंकि यहाँ हम वस्तु के ऊपर उपयोगिता या सुन्दरता का मूल्य आरोपित कर रहे होते हैं; या, यूँ कहें-कि गिलास को उपयोगी/सुन्दर होने का श्रेय दे रहे होते हैं।

तथ्यों और मूल्यों में अंतर एक अन्य प्रकार से भी किया गया है। मूल्य क्योंकि आदर्श होते हैं, इसलिए वे 'चाहिए' की कोटि में आते हैं। उनका संदर्भ भविष्य में उन्हें प्राप्त करने में; या, चरितार्थ करने में है। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि सत्य एक मूल्य है तो इससे आशय यह है कि सत्य को चरितार्थ या प्राप्त किया जाना चाहिए। तथ्यों में इस प्रकार का कोई भविष्योन्मुख संदर्भ नहीं होता। तथ्य केवल 'होते हैं', मूल्य 'होने चाहिए'। मूल्यों में एक नियोजकत्व (prescriptivity) है जो आगत की ओर संकेत करता है। तथ्य मूर्त रूप हैं । इनका संबंध वर्तमान या अधिक से अधिक विगत से है।

इसी अंतर को एक दूसरे प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है। तथ्य भाव-अभाव (being-not-being) की कोटि में आते हैं। वे या तो 'हैं' या 'नहीं हैं'। किंतु मूल्य भाव-अभाव की कोटि में नहीं आते क्योंकि वे एक अर्थ में होते भी हैं, एक अर्थ में नहीं भी होते। वे आदर्शों, प्रतिमानों, प्रयोजनों के रूप में मानवी आचरण को प्रेरित करने में सक्षम होने के नाते, "हैं", लेकिन तथ्यगत रूप से किसी देश-कालिक स्थिति में अस्तित्ववान 'नहीं हैं'। मूल्यों को चरितार्थ किया जा सकता है, और इस प्रकार उन्हें एक प्रकार की वास्तविकता प्रदान की जा सकती है। मूल्य भाव-अभाव की कोटि के बीच झूलते से प्रतीत होते हैं, फिर भी उन्हें भावाभाव (becoming) की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि ये सभी कोटियाँ-भाव-भावाभाव-अभाव-देशकालिक अस्तित्व की कोटियाँ हैं। मूल्यों को अधिक से अधिक हम 'संभविन्' कोटि में रख सकते हैं क्योंकि साधना द्वारा उन्हें चरितार्थ किए जाने की संभावना कभी नकारी नहीं जा सकती। वे मूल्य जिन्हें चरितार्थ किया जाना संभव ही न हो, मूल्य नहीं कहलाए जा सकते।

मूल्य मूल्यवान होते हैं और तथ्य अस्तित्ववान। एक तथ्य क्योंकि अस्तित्ववान है इसलिए वह अनिवार्यतः मूल्यवान नहीं बन जाता, और एक मूल्य जो मूल्यवान है, अनिवार्यतः अस्तित्ववान भी हो, ज़रूरी नहीं। वस्तुतः दोनों में एक कोटिगत अंतर है। वस्तुओं का अस्तित्व 'भाव' की कोटि में आता है, मूल्यों का अस्तित्व 'अर्हता' की कोटि में आता है। मूल्य अपनी 'अर्हता' में वर्तता प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार बर्कले ने 'दृश्यते इति वर्तते' (esse est percipi) सूत्र दिया था कि जिसके अनुसार वस्तु की वर्तता उसके देखे जाने में है, उसी प्रकार मूल्यों के संबंध में भी कहा जा सकता है कि मूल्यों की वर्तता उनकी अर्हता में है-'अर्हति इति वर्तते!' मूल्य संबंधी निर्णयों में मूल्य की अर्हता (worth) की आंतरिक पहचान आवश्यक है जो मूल्यगत निर्णयों का आधार बनती है।

बहुधा प्रश्न उठाया गया है कि मूल्य का अधिष्ठान (locus) क्या है? वह कहाँ स्थित है? वह 'विषय' में वर्तमान है या 'विषयी' में? सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि मूल्य का अधिष्ठान वस्तु नहीं है, व्यक्ति/समाज है। एक व्यक्ति/समाज ही वस्तु को मूल्यवान होने का श्रेय प्रदान करता है, वस्तुएँ अपने आप में मूल्यवान नहीं होती। मूल्यों को इस प्रकार पूरी तरह से विषयिनिष्ठ समझा गया है। इस विवेचना से तथ्यों और मूल्यों का जो परस्पर विपरीत स्वभाव रेखांकित किया जाता है, वह केवल अर्धसत्य ही है। व्यक्ति/समाज बेशक विषयों को मूल्यों की कोटि में लाने के लिए सहायक अवश्य होता है किंतु विषय में यदि उस 'अर्हता' का अभाव हो जिसके कारण व्यक्ति उसे मूल्यवान होने का श्रेय प्रदान करता है, तो वह विषय मूल्य की कोटि में कभी नहीं आ सकता। यह बात जब हम दो वस्तुओं की अपेक्षाकृत मूल्यवत्ता की तुलना करते हैं तो अधिक समझ में आती है। एक ही प्रसंग में, दो वस्तुओं में से एक अधिक मूल्यवान क्यों प्रतीत होती है? स्पष्ट ही इसका कारण उसमें मूल्यगत अर्हता का अधिक होना ही है। किसी भी विषय के संबंध में उसकी अपनी अर्हता की पहचान ज़रूरी है। वस्तु की अर्हता का यही आंतरिक बोध हमारे मूल्यांकन का आधार होता है।

मूल्य, अतः, पूरी तरह से विषयनिष्ठ अथवा एकांतिक रूप से विषयिनिष्ठ नहीं होते। दोनों में से किसी भी कारक की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मूल्यों को एकांतिक रूप से और पूर्णतः वस्तुनिष्ठ मानता उसे अयथार्थ बना देना है। मूल्य-अनुभव में व्यक्ति की अभिरुचि और उसकी आवश्यकताएँ एक अनिवार्य तत्त्व है। हम मूल्य को उसकी मूल्यवत्ता में, भला कैसे सुरक्षित रख सकेंगे यदि उससे व्यक्ति/समाज का हित पूरी तरह अलग कर दिया जाए!

लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि किसी वस्तु का मूल्यवान होना केवल एक वैयक्तिक वृत्ति का मामला है क्योंकि हमारी अभिरुचियाँ/आवश्यकताएँ भी बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती हैं कि हम आख़िर हैं क्या? और किस परिवेश में रहते हैं? हमारा प्रशिक्षण, हमारे मित्र, हमारी परिस्थितियाँ, हमारा स्वभाव और वृत्तियाँ-ये सभी बातें हमारी आवश्यकताओं/अभिरुचियों के निर्माण में सहायक होती हैं। पुनः मूल्यों का संदर्भ यद्यपि व्यक्ति की अभिरुचियों से तो होता ही है किंतु उसके वातावरण/परिवेश से भी उतना ही होता है। मूल्य और अभिरुचियाँ (अभीष्ट विषय) इस प्रकार पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ नहीं होतीं। उनमें वस्तुनिष्ठ तत्त्व स्पष्ट देखा जा सकता है।

मूल्यों के इस वस्तुनिष्ठ पक्ष को अपनी दृष्टि में बनाए रखना किसी भी मूल्यान्वेषण के लिए बहुत लाभप्रद है। यह हमें मूल्यों के प्रति एक वैयक्तिक मनमानी करने से बचा सकेगा। उदाहरणार्थ हम नैतिकता के क्षेत्र को ही लें। नैतिकता के क्षेत्र में 'शुभ' एक मूल्य माना गया है और 'शुभ' निःसंदेह एक आंतरिक और वैयक्तिक महत्त्व की चीज़ है। शुभ का मेरा आदर्श बहुत कुछ मेरा अपना, निजी होता है। किंतु, क्या शुभ सर्वव्यापी और वस्तुनिष्ठ नहीं है? क्या वह व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत दृष्टि से स्वतंत्र नहीं होता? सच तो यह है कि, विशेषकर नैतिकता के क्षेत्र में, आत्मनिष्ठता की पूर्ण स्वीकृति स्वयं नैतिकता को ही नकार देती है। नैतकता की वस्तुनिष्ठता ही वस्तुतः नैतिक स्वतंत्रता और नैतिक स्वच्छंदता में अंतर बनाए रख सकती है। शुभ केवल एक आकांक्षा मात्र नहीं है। वह केवल वैयक्तिक आदर्श नहीं है बल्कि वह समस्त विश्व का, एक महत्त्वपूर्ण रूप से, वस्तुनिष्ठ आयाम है। इसकी जड़ें वस्तुओं के स्वभाव में निहित है। और इसीलिए तो वह आकांक्षा का विषय बन पाता है!

तथ्यों और मूल्यों की उपर्युक्त विवेचना से हमारा आशय इन दोनों महत्त्वपूर्ण कोटियों के बीच अभेद स्थापित करना बिल्कुल नहीं है। मूल्य और तथ्य के बीच जो स्पष्ट अंतर है, उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। तथ्यों को मूल्य और मूल्यों को तथ्य बताना निश्चय ही भ्रांतिपूर्ण है। हमारा आशय केवल इतना ही है कि जिस तरह एक ओर सामान्यतया तथाकथित वस्तुनिष्ठ तथ्यों का एक आत्मनिष्ठ पक्ष भी होता है (क्योंकि तथ्य भी अंततः एक अनुभव ही है जो अनुभवकर्ता और अनुभव की वस्तु में एक आवश्यक संबंध बताता है। यदि कान संगीत में प्रशिक्षित नहीं है तो वह संगीत को केवल शोर समझेगा) उसी तरह, दूसरी ओर, तथाकथित आत्मनिष्ठ मूल्यों का

एक वस्तुनिष्ठ पक्ष भी होता है। तथ्यात्मक अनुभव जहाँ, एक ओर, वस्तुनिष्ठ होते हुए भी वैयक्तिक क्षमताओं पर निर्भर होते हैं, उसी तरह, दूसरी ओर मूल्य बहुत कुछ व्यक्तियों की अभिरुचियों पर निर्भर होते हुए भी वस्तुनिष्ठ भी होते हैं और वे केवल अभिरुचियाँ मात्र नहीं होते।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो विषय दृष्ट हो और व्यक्ति के लिए साध्य हो, उसी को मूल्य माना जा सकता है। प्रकारान्तर से मूल्य एक ऐसे विषय-विषयिभाव का संकेत करते हैं जिसमें विषय अपने तात्विक रूप में इष्ट और विषयी स्वतंत्र होता है और दोनों का संबंध साध्य-साधक संबंध होता है। मूल्य बोध में इस तरह आत्मांश और विषयांश दोनों का ही सामरस्य है। प्रत्येक मूल्य में अर्हता अथवा योग्यता, उत्कृष्टता और प्रशंसा-भाव निहित रहते हैं। मूल्य हो पाने की योग्यता ही अर्हता है। मूल्य के संबंध में बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है-अर्हति इति वर्तते! मूल्य की यह सहजतम परिभाषा है।

मूल्य वह है जिसमें मूल्यवत्ता हो। और इस मूल्यवत्ता को हम सदैव ही एक प्रशंसा-भाव से देखते हैं। मूल्य कभी निंदनीय नहीं होता। मूल्यों के प्रति दृष्टि सदैव अनुकूल होती है। वे अनुमोदन के विषय हैं। एक अन्य भाव जो मूल्यों में निहित है वह है परत्व का भाव। परस्पर प्रतिद्वन्द्वी होने की दशा में मूल्यों में अपेक्षाकृत उत्कृष्टता देखी जा सकती है। प्रत्येक मूल्य उत्कृष्टता की ओर उन्मुख होता है और यही कारण है कि उसे एक साध्य/प्रयोजन के रूप में स्वीकृति मिलती है। अंततः सभी मूल्य आदर्शोन्मुख हैं जिन्हें चरितार्थ किया जाना व्यक्ति का लक्ष्य होता है।

संदर्भ

१. देखें, टी०एम०पी० महादेवन, "सोशल, एथिकल एण्ड स्पिरिचुअल वैल्यूज़ इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी", शीर्षक से प्रकाशित निबंध-चार्लस ए मुअर द्वारा संपादित ग्रंथ, *द इण्डियन माइण्ड*, होनोलूलू, १९६७, पृ० १५२.

२. "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय प्रियो भवति" *बृहदारण्यक उपनिषद्* २.४.५.

३. देखें, महादेवन, टी०एम०पी० (उपर्युक्त) १९६७, पृ० १५२
हिरियन्ना, एम, *द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन*, मैसूर, १९५२ पृ०२१,
मैत्रा एस०के० *द स्प्रिट ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी*, बनारस, १९४७, पृ०२.
अण्टो ताहतिनेन, *फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ वैल्यू*, तुर्कू १९६८, पृ०१.

४. पांडे, गोविंद चंद्र, *मूल्य मीमांसा*, जयपुर १९७३, पृ० ३८.

५. जोशी, एच०एम० (सं) *रीसेंट एप्रोचेज टु एक्ज़िअलॉजि*, दिल्ली १९९१, पृ० ११३.

६. श्रेयस्य प्रेयस्य मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विनिक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।
-*कठोपनिषद्*, १.२.२.

७. मीमांसासूत्र, १.१.२.

८. तुलना करें-एयर ए.जे., *ट्रुथ, लैंग्वेज एण्ड रियलिटी*, लंदन, १९५१ पृ० १०८.

९. कामसूत्र, १.२.१.

१०. देखें, हिरियन्ना, एम० (उपर्युक्त), मैसूर, १९५२, पृ० १०२.

११. देखें, भट्टाचार्य, एच०एम० *प्रिंसिपल्स ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी*, कलकत्ता, १९४८.
अध्याय १०, पृ० ३६८.

१२. पांडे, गोविंद चंद्र (उपर्युक्त) पृ० ५८.

अध्याय-२

भारतीय दर्शन की मूल्य व्यवस्थाएँ- त्रिवर्ग और पुरुषार्थ

मूल्यार्थक पद और उनकी विवेचना

मूल्य-मीमांसा दर्शन शास्त्र का एक अपेक्षाकृत नया विषय है, किन्तु दार्शनिक विवेचनाएँ सदैव से ही मूल्याश्रित रही हैं और यह बात न केवल पाश्चात्य दर्शन के लिए बल्कि भारतीय दर्शन के लिए भी समान रूप से कही जा सकती है। भारतीय दर्शन में एक सुपरिभाषित मूल्य-दर्शन स्वतन्त्र रूप से शायद कभी नहीं रहा, लेकिन भारतीय दार्शनिक साहित्य में मूल्य सन्दर्भ की कमी कभी नहीं रही। भारत में दर्शनशास्त्र वस्तुतः मोक्षशास्त्र है। यह मुक्ति का विज्ञान है। अतः मोक्ष के विषय में ऐसा ज्ञान प्राप्त कराना जो उसकी उपलब्धि करा सके, दर्शनशास्त्र का विषय है।

भारतीय दर्शन में मूल्य के अर्थ में सामान्यतः पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग किया गया है। मोटे तौर पर पुरुषार्थ से तात्पर्य पुरुष के प्रयोजन से है। अतः पुरुषार्थ को आज की शब्दावली में मानव जीवन का मूल्य माना जा सकता है। परम्परागत भारतीय दर्शन में मूल्य शब्द का प्रयोग कभी नहीं हुआ, किन्तु ऐसे अनेक पदों का प्रयोग हुआ है जो मूल्यार्थी हैं या कहें जिनके अर्थ मूल्य की ध्वनि देते हैं। ऐसे में भारतीय दर्शन का सहज ही मूल्यरंजित हो जाना स्वाभाविक है।

हम जब भी मूल्यों की चर्चा करते हैं मूल्य के साथ विमूल्य (मूल्य का नकारात्मक स्वरूप, अंग्रेजी-डिसवैल्यू) के बारे में भी अवश्य सोचते हैं। कहा जा सकता है कि मूल्य यदि एक स्वीकारात्मक पद है तो विमूल्य 'मूल्य' का निषेध है। मूल्य और विमूल्य मानों एक ही निःश्रेणी के दो आयाम हैं, जिसके एक छोर पर निरपेक्ष मूल्य है और दूसरे छोर पर निरपेक्ष विमूल्य और इन दोनों के बीच अपेक्षाकृत न्यूनाधिक मूल्यवत्ता के बिन्दु हैं। इसी प्रारूप का अनुसरण करते हुए भारतीय दार्शनिक साहित्य में हमें मूल्य-विमूल्य की ओर संकेत करते हुए अनेक समानार्थक पद मिलते हैं। इनमें से तीन पद विशेष उल्लेखनीय हैं- १. इष्ट-द्विष्ट अथवा इष्ट-अनिष्ट २. अर्थ-अनर्थ और ३. श्रेय-प्रेय।

इष्ट-द्विष्ट

हिरियन्ना के अनुसार इष्ट, जिसका अर्थ 'इच्छा का विषय' है, संस्कृत में मूल्य के लिए प्रयोग किया गया है। इसका विलोम 'द्विष्ट' है, जिसका अर्थ है वह विषय-जिसकी इच्छा न की जाय या जिसकी इच्छा से बचा जाय।[1]

यदि 'इष्ट' को हम मूल्य मानते हैं तो भारतीय मूल्य दर्शन की स्थिति बहुत कुछ पाश्चात्य दार्शनिक आर०बी०पैरी के दार्शनिक मत के समान हो जाती है।[2] पैरी के अनुसार वह हर वस्तु जिसमें मौलिक रूप से, या सामान्य अर्थ में मूल्य है वह अनिवार्यतः अभिरुचि का विषय होता है। मूल्य को अभिरुचि का विषय बताना बहुत कुछ मूल्य को इष्ट बताना है। इष्ट के रूप में मूल्य 'इच्छा का विषय' है और इच्छा का विषय होना या अभिरुचि का विषय होना लगभग एक ही बात है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह जो इष्ट है अथवा इच्छा का विषय है उसमें मूल्य का आभास तो अवश्य होता है, लेकिन उसे ही मूल्य बता देना उचित नहीं लगता। इसके एक से अधिक कारण हैं- एक तो यह कि हम सदैव अपनी इच्छा का विषय ठीक से समझ ही नहीं पाते और जैसा समझकर हम विषय को चाहते हैं, विषय सदैव वैसा नहीं होता। पुनः, इष्ट अनियत होता है। आज हमारी इच्छा का विषय कुछ है, कल कुछ और हो सकता है। इष्ट इस प्रकार परिवर्तित होते रहते हैं, क्योंकि मनुष्य की इच्छाएँ न कभी समाप्त होती हैं और न ही स्थिर रह पाती हैं। वे भटकती रहती हैं। जाहिर है उनके अनुसार मनुष्य अपना इष्ट भी नियत नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त इष्ट सदैव विषयि-प्रधान होता है, किन्तु मूल्य को हम पूरी तरह आत्मनिष्ठ नहीं बना सकते। मूल्य में विषयनिष्ठता और विषयिनिष्ठता, दोनों का एक तादात्म्य होता है। मूल्यबोध जैसा कि हम बता चुके हैं आत्मांश और विषयांश दोनों का सामरस्य है।

इष्ट 'इच्छा का विषय' है और इच्छा अपने विषय की अनुकूलतया कल्पना करती है।[3] दूसरे शब्दों में वह अपने प्रयोजन के अनुसार विषय ढूँढ़ती है। ऐसे में मूल्य केवल इष्ट नहीं रह जाता बल्कि एक प्रयोजन बन जाता है। मूर्त रूप से कहें तो इच्छा अपने विषय की प्रयोजनानुसार कल्पना करती है। इच्छा का विषय उसके प्रयोजन को साधता है। यह प्रयोजन क्या है? इच्छा अपने विषय में किसकी अनुकूलता तलाश करती है? सभी जीवों का आचरण जिस प्रयोजन से संचालित होता है वह है, 'प्राण-रक्षा'। प्राणरक्षा

में देहरक्षा और आत्मरक्षा दोनों ही आ जाते हैं। आत्मरक्षा में केवल शरीर की ही नहीं बल्कि सम्पत्ति, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा आदि की रक्षा भी सम्मिलित रहती है। संक्षेप में इसमें वे सभी प्रयोजन निहित हैं जो व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार की सुरक्षा देते हैं-शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक इत्यादि। ये सभी प्रयोजन अपनी इच्छा का विषय चुनने में मूल्य बन जाते हैं। इन्हीं की अनुकूलता से इच्छा अपना विषय चुनती है।

लेकिन प्रयोजन और भी हो सकते हैं। आत्मरक्षा का प्रयोजन मूलतः जैविक प्रयोजन है। किन्तु एक बार जैविक प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तो मनुष्य जैविक प्रयोजनों का संक्रमण कर उच्चतर प्रयोजनों की ओर अग्रसर होता है। वह केवल सुरक्षा ही नहीं ढूँढ़ता बल्कि सुख भी ढूँढ़ता है। वह अपनी इच्छा का एक ऐसा विषय तलाशता है जो न केवल उसे सुरक्षा प्रदान करे बल्कि उसके लिए सुखकारी भी हो और इस प्रकार सुख मनुष्य का वह मूल्य बन जाता है, जिसे प्रयोजन मानकर व्यक्ति अपने इष्ट को निर्धारित करता है। किन्तु जैसा कि हम निर्देश कर आए हैं, एषणा के सभी विषय यदि व्यक्ति को कोई सुख देते भी हैं तो भी वह सुख क्षणिक ही रहता है और आगे चलकर दुःख का कारण भी बनता है। अतः मनुष्य का वास्तविक प्रयोजन सुखात्मकता का भी अतिक्रमण कर जाता है।

मनुष्य का प्रयोजन क्षणिक सुख न होकर अन्ततः निःशल्य और अत्यन्त सुख है।[४] यह कष्टरहित और पूर्ण-सुख है। इसे निरतिशय, सुख भी कहा जा सकता है। यह केवल नकारात्मक रूप से दुःखाभाव (दुःख से मुक्ति) नहीं है बल्कि जिसे उपनिषदों में 'आनन्द' कहा गया है, की प्राप्ति की तलाश है। यह आनन्द व्यावहारिक जगत् में जिसे हम सुख और दुःख कहते हैं, उससे परे है। इतना ही नहीं यह आत्मा का अपना स्वरूप है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। इसलिए मुनष्य का इष्ट या परम प्रयोजन उसे अपना स्वरूप प्राप्त करना है। अतः इच्छा के सभी विषय जिन्हें मूल्य कहा जा सकता है न्यूनाधिक आत्म-अनुकूलता की ओर अग्रसर होते हैं।

हमने इष्ट को सामान्य अर्थ में मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है क्योंकि इच्छा के सभी विषय मूल्य नहीं हो सकते। इच्छा के केवल वे ही विषय मूल्य होते हैं जो किसी न किसी रूप में आत्मसिद्धि के अनुकूल हों।

मूल्यों की खोज में न केवल विषयों का इच्छा के अनुरूप होना आवश्यक है बल्कि इच्छाओं का आत्मबोध के अनुरूप होना भी अनिवार्य है। अन्ततोगत्वा मूल्य

का स्वरूप आत्मसंकेत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मूल्यबोध इष्ट-अनिष्ट के द्वन्द्वात्मक सन्दर्भ में मूलतः आत्मोन्मुख होता है। वह जो आत्मसिद्धि के प्रयोजन से सामंजस्य स्थापित कर पाता है वही मूल्यार्थ में इष्ट बन पाता है।

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवों का प्रयोजन आत्मरक्षा या अधिक से अधिक सुखात्मकता से आगे नहीं बढ़ पाता। उनका इष्ट केवल अपनी और अपनी जाति के प्राणों की रक्षामात्र होता है। कुछ पशु बेशक सुख भी चाहते हैं। ऐसा कम से कम उनके आचरण से संकेत मिलता है क्योंकि स्पष्टतः यह नहीं कहा जा सकता कि वे अपनी सुखेषणा से अवगत होते हैं। यदि सुख उनका इष्ट है भी तो वे उसके बारे में स्वयं पूरी तरह अनजान ही रहते हैं, लेकिन मनुष्य के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। वेदान्त परिभाषा में इसीलिए प्रयोजन के दो अंग बताए गए हैं १. 'अवगत' और २. 'इष्यते'।[५] 'इष्यते' से अर्थ इच्छाओं से है किन्तु केवल इच्छाएँ ही प्रयोजन नहीं बनाती। इच्छाओं के साथ उनके स्वरूप के बारे में स्पष्ट चेतना भी आवश्यक है। दूसरे शब्दों में इच्छा के स्वभाव के प्रति अवगत होना भी इतना ही आवश्यक है, जितना कि स्वयं इच्छाओं का होना जरूरी है। इतना ही नहीं इच्छा और उसके प्रति अवगत होने के अतिरिक्त मूल्यों के सन्दर्भ में एक तीसरा तत्त्व भी है- वह है 'चाहिए,' अथवा, कर्तव्यता का तत्त्व। अर्थात् वह प्रयोजन जिसके अनुकूल इच्छाएँ अपना विषय चुनती हैं, और यह प्रयोजन भी ऐसा जो किसी न किसी रूप में आत्मा के वास्तविक स्वभाव की ओर उन्मुख हो।

अर्थ-अनर्थ

भारतीय दार्शनिक साहित्य में जहाँ 'मूल्य-विमूल्य' को 'इष्ट-अनिष्ट' शब्दद्वय से जाना गया है वहीं इसके लिए 'अर्थ-अनर्थ' का भी प्रयोग किया गया है। भारतीय वाङ्मय में 'अर्थ' एक अनेकार्थी शब्द है। इसका प्रयोग कम से कम चार तरह से किया जाता है।

१. अर्थ से तात्पर्य शब्द के अभिप्राय से है। अर्थ उस विषय की ओर संकेत करता है जो किसी शब्द का अभिप्राय होता है। जैसे-लोटा शब्द, उस पदार्थ की ओर संकेत करता है, जिसके लिए पद लोटा प्रयोग किया गया है। २. एक व्यापक अर्थ में 'अर्थ' से आशय व्यक्ति के अभिप्राय या प्रयोजन से है। अर्थ वह है जो व्यक्ति का प्राप्य है, उसका गन्तव्य है। इस अर्थ में अर्थ एक मूल्य बन जाता है और इसी अर्थ में

पुरुषार्थ व्यवस्था में अर्थ को पुरुष के एक प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया गया है। ३. अर्थ से आशय इन्द्रियों के विषयों से भी है। जैसे-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। ४. अर्थ से तात्पर्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन से भी लगाया गया है। धन, सम्पत्ति आदि इसी अर्थ में 'अर्थ' हैं।

फिलहाल हमारा मन्तव्य अर्थ के दूसरे तात्पर्य से है जो अर्थ को मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। 'अर्थ', इस अर्थ में, मनुष्य का 'प्राप्य' अथवा 'गन्तव्य' है।[६] इसे 'ऐक्य' भी कहा जा सकता है। वह जो मनुष्य प्राप्त करना चाहता है, अथवा, वह जो उसका गन्तव्य है कि जहाँ वह जाना चाहता है, व्यक्ति का 'अर्थ' है। व्यक्ति के ऐसे अनेक 'अर्थ' हो सकते हैं और इन अनेक अपने प्राप्यों में से, अथवा, कहें, गन्तव्यों में से, इसे एक चुनना पड़ता है। अर्थ इस प्रकार 'वरेण्य' है। मानवी संकल्प का विषय है। केवल ज्ञान का विषय न होकर क्रिया का विषय है। यह वह गन्तव्य है जिस ओर व्यक्ति अग्रसर होना चाहता है। बेशक इस गन्तव्य का स्पष्ट ज्ञान तो आवश्यक है ही लेकिन इस ओर अग्रसर होने का संकल्प भी जरूरी है। इस अर्थ में 'अर्थ' मनुष्य के बोध पक्ष से उतना जुड़ा हुआ नहीं है जितना कि उसके भाव और संकल्प पक्ष से जुड़ा है। एक तो इसमें *स्वतन्त्र संकल्प* निहित है क्योंकि बिना उसके दो प्राप्यों के बीच चयन करना असंभव है। दूसरे इसमें *प्रयत्न का संकल्प* भी सम्मिलित है। क्योंकि गन्तव्य की ओर बढ़ने के लिए यदि प्रयत्न का अभाव है तो भी व्यक्ति का प्राप्य निरर्थक हो जाता है।

व्यक्ति का गन्तव्य या प्राप्य क्या हो इसे सुनिश्चित कर पाना सरल नहीं है। दार्शनिक साहित्य में अर्थ की दो विधाएँ बतायी गयी हैं। १. प्रतीयमान और २. वास्तविक।[७] प्रतीयमान अर्थ वस्तुतः मनुष्य के अपने अभिप्राय नहीं हैं। वे केवल प्रथम दृष्ट्या गन्तव्य सरीखे लगते हैं किन्तु वस्तुतः वे 'प्राप्य' नहीं होते। वे केवल ऐसा आभास मात्र देते हैं कि मानों वे ही गन्तव्य हों लेकिन ऐसा है नहीं। वे जो वास्तविक 'प्राप्य' हैं, जिन्हें मनुष्य के सच्चे गन्तव्यों के रूप में समझा जा सकता है, वे ही वास्तविक अर्थ कहलाते हैं। प्रतीयमान और वास्तविक अर्थों के भेद को समझने के लिए हमें वस्तुतः प्रेय और श्रेय का अन्तर समझना होगा क्योंकि 'प्रतीयमान अर्थ' ही 'प्रेयस्' है और 'वास्तविक अर्थ' 'श्रेयस्' कहा गया है।

प्रेय और श्रेय

वैदिक काल में विश्व-नियामक व्यवस्था को "ऋत" का नाम दिया गया था।

ऋत न केवल प्रकृति (दृश्य जगत्) को नियमित करने वाली व्यवस्था थी, बल्कि मनुष्य द्वारा सृष्ट उसकी वृत्तियों को भी व्याख्यायित करती थी। यह धारणा धी-गम्य थी अर्थात् बुद्धि-प्रधान थी। किन्तु 'धी' शब्द के अर्थ में तब 'संकल्प' का अंश भी विद्यमान माना गया था। यही कारण था कि ऋत, 'दृष्ट' और 'सृष्ट' दोनों की ही व्याख्या कर पाने में, 'प्रकृति' और 'कृति' दोनों को ही नियामक करने में, सफल थी। अंग्रेजी के **Right** (सीधा, ठीक) और **Rite** (कर्मकाण्ड) दोनों ही शब्दों से 'ऋत' शब्द जुड़ा हुआ है। किन्तु उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्ड को ही प्रधानता दी जाने लगी।[८] फलतः श्रेयस् और प्रेयस् का भेद आचार-शास्त्र में प्रतिष्ठित हुआ। आत्मा के अपने निजी स्वभाव की खोज और उन सारे बंधनों से मुक्ति के लिए प्रयत्न जो आत्मा को बाँधते हैं 'श्रेयस्' माना गया और इन्द्रियों के द्वारा अनित्य वस्तुओं के सुख-भोग की इच्छा 'प्रेयस्' समझा गया। इस प्रकार इच्छा का यथार्थ विषय प्रेयस् हुआ तथा उसका आदर्श विषय श्रेयस्। अतः यदि इच्छा को उसके विषय से परिभाषित किया जाए तो यह भेद इच्छाओं के भेद के रूप में समझा जा सकता है और ऐसे में 'श्रेयस्' भी विशिष्ट प्रेयस् (वह प्रेयस् जिसका इष्ट विवेक द्वारा अनुमोदित आदर्श हो) बन जाता है। लेकिन यह केवल एक विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग मात्र है। अन्ततोगत्वा श्रेयस् परम साध्य है और यह साध्य है सभी बन्धनों से मुक्त होकर आत्मा के वास्तविक स्वभाव में अवस्थित होना। श्रेयस् वह लक्ष्य है जिसे हम स्वयं उसके लिए चाहते हैं। वह एक स्वतः मूल्य है, परतः मूल्य नहीं है। वह सदैव साध्य है, साधन नहीं।

कठोपनिषद् में दार्शनिक विवेचना 'श्रेय' और 'प्रेय' के अन्तर से आरंभ होती है। **उपनिषद् के अनुसार श्रेय और प्रेय ये दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं और दोनों ही पुरुष को बाँधती हैं।** किन्तु वे पुरुष को भिन्न-भिन्न विषयों से बाँधती हैं। इनमें से **जो श्रेय को चुनता** है उसका कल्याण होता है और जो प्रेय का वरण करता है, वह अपने प्रयोजन को पाने में असफल रहता है। प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य को प्राप्त हैं। बुद्धिमान मनुष्य दोनों की परीक्षा करता है और प्रेय की बजाय श्रेय को चुनता है। किन्तु एक मूर्ख जो अपनी इच्छाओं के वश में रहता है 'श्रेय' की अपेक्षा 'प्रेय' का वरण करता है।[९]

एस०के० मित्र ने श्रेय और प्रेय का अन्तर मूलतः 'मूल्य' और 'तथ्य' का अन्तर माना है। उनके अनुसार श्रेय वस्तुतः मूल्य का ही एक सामान्य नाम है। इसी प्रकार श्रेय का अर्थ भी केवल वह जो प्रिय अथवा सुखद है, से नहीं लगाना चाहिए। इससे

आशय वह सब जो ऐन्द्रिय है, अथवा तथ्यात्मक है, से लिया जाना चाहिए।

पुनः मित्र ने श्रेय का अर्थ केवल 'नैतिक शुभ' से ही नहीं लिया है। यह उनके अनुसार बहुत कुछ प्लेटो के दर्शन में 'शुभ के प्रत्यय' के समान है।[१०]

श्रेय को मूल्य के रूप में ग्रहण किया जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता। लेकिन श्रेय को कभी तो 'परम मूल्य' के रूप में लिया गया है और कभी इसे सामान्य अर्थ में मूल्य माना गया है। अपने द्वितीय अर्थ में श्रेयस् वह है जो अपेक्षाकृत अच्छा है, श्रेष्ठतर है। *वर्धनाद्रक्षणं श्रेयः*। *कठोपनिषद्* में श्रेय और प्रेय की तुलना में श्रेय को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ बताया गया है। यह तुलना दो 'श्रेयों' या 'मूल्यों' में भी की जा सकती है। इनमें से कोई एक बेहतर माना जा सकता है। भारतीय दर्शन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात् चतुर्वर्ग को भी श्रेय कहा गया है। जाहिर है इनमें सभी समान रूप से श्रेष्ठ नहीं है। लेकिन 'श्रेयस्' केवल अपेक्षाकृत श्रेष्ठ ही नहीं है, वह 'सर्वोत्तम' या 'परम-मूल्य' के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ में आत्मज्ञान के द्वारा आत्मावस्थित रूप मुक्ति ही श्रेयस् है।

मूल्य व्यवस्था-त्रिवर्ग

भारतीय दर्शन में मूल्यों का वर्गीकरण दो प्रकार से हुआ है। एक व्यवस्था के अनुसार मूल्यों के तीन वर्ग बताए गए हैं। इसे "त्रिवर्ग" कहा गया है। इसमें मोटे तौर पर नैतिक मूल्य (धर्म), आर्थिक मूल्य (अर्थ) और मनोवैज्ञानिक या सुखवादी मूल्य (काम) आते हैं। यह वर्गीकरण ऐतिहासिक रूप से पहला वर्गीकरण है। औपनिषदिक काल में इसमें चौथा मूल्य "मोक्ष" जोड़ दिया गया और इस प्रकार त्रिवर्ग, "चतुर्वर्ग" हो गया। मूल्यों के इस चतुर्वर्ग को प्रायः "पुरुषार्थ चतुष्टय" या केवल पुरुषार्थ कहा गया है। लेकिन पहले 'त्रिवर्ग' की विवेचना आवश्यक है क्योंकि यह ऐतिहासिक रूप से "पुरुषार्थ" व्यवस्था से पहले का मूल्य-वर्गीकरण है।

जैसा नाम से ही स्पष्ट है 'त्रिवर्ग' जीवन-मूल्यों को तीन वर्गों में विभाजित करता है- धर्म, अर्थ, और काम। धर्म के अन्तर्गत मोटे तौर पर सभी नैतिक मूल्य आ जाते हैं। 'अर्थ' के अन्तर्गत आर्थिक और राजनैतिक मूल्य रखे जा सकते हैं तथा 'काम' वर्ग में सभी मनोवैज्ञानिक मूल्यों का समावेश किया जा सकता है।

किन्तु त्रिवर्ग मूल्यों का केवल वर्गीकरण ही नहीं रहता। वह अपने-अपने वर्ग के सभी मूल्यों को स्वतन्त्र नहीं छोड़ देता और न ही उनके असीमित सेवन की वकालत

करता है। इतना ही नहीं, वह यह भी स्पष्ट करता है कि किसी भी वर्ग के तथाकथित एक मूल्य को आखिर मूल्यगत कोटि में क्यों सम्मिलित किया जाए। 'त्रिवर्ग' ये सारी व्यवस्थाएँ प्रदान करता है। इन सभी व्यवस्थाओं की व्याख्या आवश्यक है।

त्रिवर्ग में सम्मिलित मूल्यों के सभी वर्ग क्या अपने आप में मूल्यवान है? हम थोड़ी देर के लिए अर्थ को, जिसमें सभी नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश है, छोड़ भी दें (क्योंकि नैतिक आध्यात्मिक मूल्य को मूल्यवान मानने में शायद ही किसी को कोई आपत्ति हो) तो क्या शेष वर्गों-अर्थ और काम- को अपने आप में मूल्यवान माना जा सकता है? त्रिवर्ग के अनुसार, ऐसा मानना ग़लत होगा। अर्थ और काम अपने आप में मूल्यवान नहीं कहे जा सकते। अर्थ से मोटा आशय आर्थोपार्जन से है- भौतिक साधनों की प्राप्ति से है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या अर्थोपार्जन केवल अर्थोपार्जन के लिए ही किया जाता है और कि क्या अर्थोपार्जन कैसे भी अमर्यादित रूप से किया जा सकता है। स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति यदि उसकी मानसिकता ही विकृत न हो गई हो, अर्थोपार्जन केवल अर्थोपार्जन के लिए नहीं करता। वह उसे किसी अन्य उद्देश्य के लिए जैसे इच्छाओं की पूर्ति या सुख प्राप्ति आदि के लिए करता है। संक्षेप में, अर्थोपार्जन अपने आप में कोई मूल्य नहीं है, यदि उसे किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए न अपनाया गया हो। अर्थ को मूल्यवत्ता प्रदान करने वाला तो वह उद्देश्य है कि जिसके लिए उसे उपार्जित किया जाता है। उद्देश्य यदि मूल्यवान है तो अर्थ भी मूल्यवान हो जाता है, अन्यथा नहीं।

पुनः यदि अर्थ अपने मूल्यवान उद्देश्य के कारण मूल्यवत्ता ग्रहण भी कर ले तो भी क्या उसका उपार्जन किसी भी तरह, अमर्यादित ढंग से किया जा सकता है? और फिर भी वह मूल्यवान् बना रह सकता है? शायद नहीं। ऐसे में वह क्या चीज है जो अर्थ को वस्तुतः एक मूल्य बनाती है? त्रिवर्ग के अनुसार धर्म ही अर्थ को मूल्यवान बना सकता है। धर्मानुसार अर्जित और धर्मानुसार व्यय किया हुआ अर्थ ही मूल्यवान होता है। धर्म जब तक अर्थ को मर्यादित नहीं करता, उसे नियमित नहीं करता, उसके लक्ष्य को धर्मानुसार निर्धारित नहीं करता अर्थ मूल्यवत्ता प्राप्त नहीं करता। धर्म का कार्य मुख्यतः नियमन का है। यह वह नैतिक नियम है जो अर्थ और काम को नियन्त्रित और नियमित कर उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करता है। अर्थ और काम जो धर्म विरुद्ध नहीं होते, सिर्फ वे ही मूल्यवान कहे जा सकते हैं। गीता में कृष्ण ने कहा है कि मैं वह 'काम' हूँ जो धर्मविरुद्ध नहीं है।"

अर्थ की ही तरह काम भी धर्म विरुद्ध नहीं होना चाहिए, तभी वह मूल्य है। यदि 'काम' को धर्म मर्यादित न करे तो काम आत्मघाती हो जाता है और एक विमूल्य बन जाता है। मनुष्य की इच्छाएँ अपार हैं और उन सभी को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता, और जो इच्छा सन्तुष्ट हो भी जाती है उससे प्राप्त सुख कोई स्थाई सुख नहीं होता। वह न केवल क्षणिक होता है बल्कि आगे दुःख का कारण भी बनता है अतः यह आवश्यक है कि धर्म अपनी नियामक भूमिका निभाकर काम को सीमित, नियमित और मर्यादित करे। धर्मानुसार न रहने पर काम की मूल्यवत्ता स्वतः समाप्त हो जाती है।

वैसे अर्थ की तुलना में काम एक बेहतर स्थिति में है। अर्थ अपने आप में मूल्य कभी नहीं होता, उसकी मूल्यवत्ता इसी में है कि वह किसी मूल्यवान लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो उसके विषय में यह सार्थक प्रश्न सदैव उठाया जा सकता है कि अर्थोपार्जन क्यों और किसके लिए? लेकिन काम के सन्दर्भ में यह प्रश्न बेमाने हो जाता है। उदाहरण के लिए हम यह पूछ सकते हैं कि हम भोजन की तलाश क्यों करते हैं, लेकिन हम यह नहीं पूछ सकते कि हम, सन्तुष्टि जो भोजन के लेने से हमें प्राप्त होती है, क्यों चाहते हैं। काम से आशय कुल मिलाकर सुख से है और इसके सम्बन्ध से यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि हम सुख क्यों चाहते हैं। जबकि हम अर्थ क्यों चाहते हैं। ऐसा प्रश्न पूछा जा सकता है। स्पष्ट ही हम अर्थ चाहते हैं काम के लिए। अर्थ से काम सिद्ध होता है लेकिन काम से क्या सिद्ध होता है, यह प्रश्न अर्थहीन है।[१२] अर्थ और काम इस प्रकार *परतः और स्वतः मूल्य* के रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। काम या कामनाएँ स्वतः मूल्य हैं, किन्तु अर्थ स्वतः न होकर एक परतः मूल्य है, वह केवल आवश्यकताओं/इच्छाओं/कामनाओं की सन्तुष्टि के माध्यम के रूप में ही मूल्यवान है। काम, इस अर्थ में, परतः मूल्य नहीं है। सुख-सन्तुष्टि किसी अन्य के लिए नहीं स्वयं सुख/सन्तुष्टि के लिए होती है।

सांरव्यकारिका में स्वतः और परतः मूल्यों के अन्तर को एक अन्य रूप से भी प्रस्तुत किया गया है। परतः मूल्य (आर्थिक मूल्य) 'अनैकांतिक' होते हैं। वे असंख्य हैं। कामनाओं की सन्तुष्टि के अनेक साधन हो सकते हैं और इन साधन मूल्यों में ऐसी कोई सुनिश्चितता नहीं है कि वे उस उद्देश्य की प्राप्ति करवा ही देंगे कि जिसके लिए उन्हें अपनाया जा रहा है। पुनः एक साधन जो एक बार अपने उद्देश्य की प्राप्ति करता है, आवश्यक नहीं कि वह दुबारा भी उसकी प्राप्ति करा सके। इतना ही नहीं

जो साधन एक व्यक्ति के लिए उपयुक्त होता है, वह आवश्यक नहीं कि दूसरे व्यक्ति के लिए भी उपयुक्त हो, या उसी व्यक्ति के लिए किसी अन्य समय में भी उपयुक्त हो। इसके अतिरिक्त यदि वह साधन-रूप में सफल भी हो जाता है तो उससे प्राप्त सन्तुष्टि एक अंतरिम सन्तुष्टि ही होती है और देर-सबेर एक दूसरी कामना को जन्म दे देती है जिसके लिए किसी दूसरे साधन की आवश्यकता पड़ती है। परतः मूल्य इस प्रकार अनैकान्तिक होते हैं, किन्तु यदि परतः मूल्य 'अनैकान्तिक' हैं तो स्वतः मूल्य (काम) 'अनात्यन्तिक' हैं। उनकी पूर्ण सन्तुष्टि कभी संभव नहीं होती। उनसे प्राप्त सन्तुष्टि केवल मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि है। अतः उनकी मूल्यवत्ता केवल मनोवैज्ञानिक है, आत्मिक नहीं। वे आत्मिक सुख सन्तोष न देकर केवल क्षणिक संतोष देते हैं।[13]

अतः भारतीय दर्शन ये एक स्वतः मूल्य होने के वावजूद भी काम की मूल्यवत्ता केवल सीमित ही है। इसीलिए त्रिवर्ग में यद्यपि काम को एक मूल्य अवश्य स्वीकार किया गया है किन्तु, वह केवल उस हद तक ही मूल्यवान है, जिस हद तक वह धर्म से मर्यादित है। अर्थ और काम दोनों ही धर्मानुकूल होने पर ही मूल्य कहे जा सकते हैं, अन्यथा वे विमूल्य हो जाते हैं।

इससे यह भी स्पष्ट है कि अर्थ और काम के अपने-अपने वर्ग मूल्यों के स्वतन्त्र वर्ग नहीं है। दोनों में ही अर्थ जब प्रवेश पाता है तभी वे मूल्यवान् हो पाते हैं। त्रिवर्ग व्यवस्था इस प्रकार तीनों वर्गों की अलग-अलग पहचान बनाए रखते हुए भी उन्हें पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं छोड़ देती। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जहाँ एक ओर अर्थ और काम दोनों में ही धर्म का प्रवेश है वहीं अर्थ और काम के बिना धर्म भी रिक्त है। धर्म नियामक मूल्य है। उसका कार्य नियमित और मर्यादित करने का है। जाहिर है नियमित नियंत्रित रहने के लिए कोई 'वस्तु' चाहिए। कोई 'उपादान' चाहिए। बिना इस 'उपादान' के धर्म केवल एक रीता प्रत्यय मात्र है। धर्म की इस प्रत्ययात्मक रिक्तता को अर्थ और काम ही भरते हैं और इस प्रकार उसे एक 'मूर्त प्रत्यय' बनते हैं। तभी धर्म सार्थक हो पाता है और एक मूल्य की कोटि प्राप्त करता है। अतः अर्थ और काम यदि अपनी मूल्यवत्ता के लिए धर्म पर आधारित हैं तो धर्म भी अपनी सार्थकता के लिए काम और अर्थ पर आश्रित है। यदि धर्म का प्रवेश काम और अर्थ में जरूरी होता है तो काम और अर्थ भी धर्म में प्रवेश कर उसे मूल्य की कोटि में अवस्थित करते हैं अन्यथा वह एक रिक्त प्रत्यय मात्र बने रहने के लिए अभिशप्त है जिसका व्यावहारिक रूप से कोई मूल्य नहीं रहता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म अर्थ और काम तीनों ही एक-दूसरे पर निर्भर और आश्रित हैं। एक ओर अर्थ और काम, धर्म को मूर्तता प्रदान करके उसे मूल्यवान बनाते हैं तो दूसरी ओर अर्थ और काम को नियमित, मर्यादित कर धर्म उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करता है। तीनों में एक प्रकार का सन्तुलन बना रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए तीनों अपनी अलग पहचान बनाए रखते हुए भी एक ही 'त्रिवर्ग' है। त्रिवर्ग के सन्दर्भ में अक्सर यह प्रश्न उठाया गया है कि इसमें सम्मिलित वर्गों में से 'प्रधान' कौन सा है। सन्दर्भ और परिस्थिति के अनुसार बेशक कभी धर्म, तो कभी अर्थ, तो कभी काम को प्रधान माना गया है। लेकिन अन्ततोगत्वा कुल मिलाकर सदैव निष्कर्ष यही निकला कि *तीनों का सन्तुलित सेवन ही अर्थात् त्रिवर्ग, ही प्रधान* है। 'त्रिवर्ग' व्यवस्था एक *समग्र एकता* की ओर संकेत करती है। *त्रिवर्ग ही मूल्य* है। वही श्रेयस् है। *मनुस्मृति* में कहा गया है, "कुछ लोग कहते हैं कि धर्म और अर्थ श्रेयस् है, कुछ अन्य लोगों के अनुसार काम और अर्थ श्रेयस् है और कुछ ऐसे भी हैं जो केवल धर्म या केवल अर्थ को श्रेयस् मानते हैं। लेकिन वस्तुतः 'त्रिवर्ग' ही श्रेयस् है।"[१४] आशय यह है कि तीनों ही मूल्यों को जब समन्वित रूप से सेवन किया जाता है तभी सम्मिलित रूप से वे त्रिवर्ग बनते हैं। धीरेन्द्र मोहन दत्त कहते हैं कि भारतीय सामाजिक चिन्तन का यह एक सन्तुलित सुनहरा मध्यमार्ग है जो एक ओर ऐकान्तिक सुखवाद (काम और अर्थ) और दूसरी ओर एकपक्षीय तपश्चर्या (धर्म) को अस्वीकार करता है।[१५]

कामसूत्र में भी प्रकारान्तर से हमें 'त्रिवर्ग' को मूल्य मानने सम्बन्धी एक अच्छी व्याख्या मिलती है। वात्स्यायन कहते हैं कि मनुष्य को कि जिसकी सामान्य जीवन अवधि सौ वर्ष है, अपने समय का इस प्रकार विभाजन करना चाहिए और त्रिवर्ग का कुछ इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि त्रिवर्ग के सभी वर्ग एक दूसरे से आबद्ध रहें और परस्पर उपघातक न हों।[१६] सारांश यह है कि मूल्यों में परस्पर एकता होनी चाहिए, इनमें किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होना चाहिए कि वे एक दूसरे को हानि पहुँचा सकें। तीनों वर्गों में समन्वय आवश्यक है और त्रिवर्ग में यही विचार निहित हैं। त्रिवर्ग व्यवस्था में इस प्रकार मूल्यों में संगति या संतुलन को ही मूल्य का अन्तिम मापदण्ड माना गया है। मूल्यों का मूल्य इसी में है कि वे परस्पर उपघातक न हों और एक-दूसरे से अनुबद्ध रहें। 'त्रिवर्ग' अन्ततः इसी आदर्श की ओर संकेत करता है।[१७]

त्रिवर्ग में मूल्यों के तीन वर्गों का उल्लेख है। इन तीनों ही वर्गों की अपनी अलग-अलग पहचान है और फिर भी वे एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं धर्म

का प्रवेश अर्थ और काम में उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करने के लिए आवश्यक है और अर्थ और काम यदि धर्म के उपादान न हों तो धर्म निरर्थक हो जाता है। ऐसे में क्या धर्म, अर्थ और काम वर्गों में मूल्यवत्ता की दृष्टि से कोई स्तरीय भेद हो सकता है?

त्रिवर्ग व्यवस्था में स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म सर्वोच्च मूल्य है। वह सर्वाधिक एषणीय है-'श्रेयस् त्रिवर्ग इति तु स्थितिः' (अर्थात् इसकी स्थिति त्रिवर्ग में श्रेष्ठ है)। काम और अर्थ यदि धर्म के विरुद्ध हों तो वे एषणीय न होकर अनैतिक हो जाते हैं। अर्थ और काम इस प्रकार धर्म की अपेक्षा निम्नस्तरीय हो जाते हैं। क्योंकि धर्म ही अर्थ और काम को मूल्यवान बनाता है और अर्थ और काम धर्मानुसार रहकर मानों अपना अभीष्ट धर्म की ही सिद्धि बना लेते हैं। धर्म-पालन इस प्रकार एक ऐसा स्वतः मूल्य हो जाता है जिसका उद्देश्य कोई अन्य और उससे पृथक् फल-प्राप्ति नहीं होता।

यों काम भी स्वतः मूल्य है क्योंकि सुख, सुख के लिए ही काम्य है। लेकिन काम सुख की अपनी सीमाएँ हैं। वह क्षणिक है, और अन्ततः दुःखदायी है, किन्तु काम और अर्थ जब धर्म से संयुक्त होते हैं तो मनुष्य इहलोक और परलोक में जो सुख प्राप्त करता है वह 'निःशल्य' और 'अत्यन्त' है।[१८]

पुनः धर्म को यदि हम स्वतः मूल्य (या साध्य मूल्य) न भी मानें तो भी साधन मूल्य के रूप में भी उसकी स्थिति सर्वोच्च मानी जा सकती है। ऐसे में धर्म के मूल्य उसके कल्याणकारी होने में है। धर्म से ही अर्थ और काम उत्पन्न होते हैं। यही बात *रामायण* में भी कही गई है। वहाँ बताया गया है कि धर्म से अर्थ और सुख उपलब्ध होता है।[१९] साधन-मूल्य के रूप में, इस प्रकार धर्म का साध्य स्वयं 'त्रिवर्ग' है क्योंकि धर्म ही अर्थ और काम को मर्यादित कर मूल्यों में परस्पर समन्वय स्थापित कर उन्हें इस प्रकार सेवन योग्य बनाता है कि वे परस्पर घातक न हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिवर्ग में जो मूल्य-व्यवस्था है उसके अनुसार (१) मूल्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है-धर्म, अर्थ और काम। (२) ये तीनों ही वर्ग एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं बल्कि अपनी पहचान बनाए रखते हुए भी वे एक-दूसरे में प्रवेश कर जाते हैं। (३) किसी भी वर्ग के मूल्यों का ऐकान्तिक सेवन उन्हें आत्मघात की ओर ले जाता है। धर्म का ऐकान्तिक सेवन हो ही नहीं सकता क्योंकि धर्म अपने आप में उपादान से रिक्त एक प्रत्यय मात्र है। अर्थार्जन यदि केवल अर्थार्जन के लिए ही होता है तो वह निरर्थक हो जाता है और काम का असीमित

सेवन भी व्यक्ति को एक ऐसे जाल में फँसाता है जिसमें उसकी आत्मा मुक्ति के लिए छटपटाकर रह जाती है। (४) त्रिवर्ग के अनुसार मूल्यों का सेवन, अतः, कुछ इस प्रकार होना चाहिए कि तीनों वर्गीय मूल्यों में संघर्ष की स्थिति पैदा न हो और एक सन्तुलन बना रहे। त्रिवर्ग, इस प्रकार संतुलन का एक मापदण्ड स्थापित करता है। सन्तुलन त्रिवर्ग का मूल्य भी है और मापदण्ड भी। (५) त्रिवर्ग के अन्तर्गत सभी मूल्य एक दूसरे पर आश्रित होते हुए भी धर्म को एक विशेष कोटि प्रदान करते हैं। धर्म त्रिवर्ग का एक साध्य-मूल्य भी है-अर्थ और काम दोनों ही मूल्यवान होने के लिए स्वयं को धर्मानुसार ढालते हैं और धर्म-सिद्धि ही उनका अंतिम लक्ष्य हो जाता है-और एक साधन-मूल्य भी है जिसके माध्यम से अर्थ और काम अपनी मूल्यवत्ता ग्रहण करते हैं। धर्म के एक साथ साध्य और साधन-मूल्य होने में कोई विरोध नहीं है यह उसे देखने की मात्र दो दृष्टियाँ हैं। धर्म को जब साधन-मूल्य की तरह हम देखते हैं तो उसका साध्य त्रिवर्ग हो जाता है, अर्थात् 'समन्वय' या सामंजस्य' बन जाता है, जो त्रिवर्ग की मूल-भावना है।

त्रिवर्ग मूल्यों की एक समग्रता की ओर संकेत करता है। इसमें जीवन के किसी पक्ष को अस्वीकार नहीं किया गया है, बल्कि एक समावेशित समग्रता (त्रिवर्ग) में सभी को सम्मिलित कर लिया गया है। इतना अवश्य है कि यदि किसी भी एक अकेले मूल्य को 'स्वतः मूल्य' की तरह सेवन किया जाए और इस प्रकार अन्य सभी मूल्यों को बहिष्कृत कर दिया जाय तो स्पष्ट ही वह मूल्य, मूल्य न रहकर 'विमूल्य' हो जाएगा किन्तु यदि अन्य मूल्यों से समन्वित और संयोजित कर सभी मूल्यों को संतुलित रूप से सेवन किया जाए तो वर्गीकृत मूल्यों का चरित्र मूल्यगत रूप से ऋणात्मक न रहकर धनात्मक हो जाएगा।

मूल्य व्यवस्था-पुरुषार्थ

भारतीय मूल्य-दर्शन में त्रिवर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत मूल्यों के तीन वर्ग-धर्म, अर्थ और काम-सम्मिलित हैं। त्रिवर्ग के अनुसार मूल्य इच्छा का एक ऐसा विषय (इष्ट) है जिसके प्रति व्यक्ति 'अवगत' है और जो साथ ही साथ इच्छा करने के योग्य (एषणीय) भी है। ऐसे सारे विषयों प्रयोजनों का यदि परस्पर समन्वित और सामञ्जस्यपूर्ण सेवन हो, तो ये 'त्रिवर्ग' का निर्माण करते हैं।

त्रिवर्ग ऐतिहासिक रूप से मूल्यों का भारत में पहला वर्गीकरण है। औपनिषद

काल में इसमें एक चौथा मूल्य 'मोक्ष' जोड़ दिया गया, और इस प्रकार 'त्रिवर्ग', 'चतुर्वर्ग' हो गया। मूल्यों के इस चतुर्वर्ग को ही 'पुरुषार्थ- चतुष्टय' भी कहा गया है।

भारतीय मूल्य-दर्शन में 'पुरुषार्थ' शब्द का प्रयोग कम से कम तीन तरह से किया गया है। सर्वप्रथम एक व्यापक अर्थ में पुरुषार्थ, सामान्यतः जिसे 'मूल्य' कहते हैं, का द्योतक है। इस अर्थ में त्रिवर्ग में सम्मिलित मूल्य भी पुरुषार्थ हैं और 'मोक्ष' भी पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ मनुष्य के प्रयोजन से है। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष-ये सभी मूल्य मनुष्य के प्रयोजन हैं जिसके लिए उसे प्रयत्न करना चाहिए।

पुरुषार्थ का एक संकुचित किन्तु विशिष्ट अर्थ 'मोक्ष' है। इस प्रकार सांख्य मतानुसार, दुःख की अत्यन्त निवृत्ति (मोक्ष) पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ अपने इस अर्थ में पुरुष का लक्ष्य या उसके उद्योग का अंतिम विषय है। भारत के दार्शनिक साहित्य में मोक्ष की अवधारणा सर्वप्रथम हमें उपनिषदों में मिलती है और उपनिषद् क्योंकि वेदों के बाद अनेक शताब्दियों के अन्तराल से लिखे गए हैं। अतः कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष की अवधारणा का विकास एक लम्बी खोज के बाद हुआ। पुरुषार्थ से आशय कभी-कभी 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' मूल्य व्यवस्था से भी लगाया गया है। इस व्यवस्था में 'त्रिवर्ग' के तीनों मूल्य तो सम्मिलित हैं ही किन्तु इनमें एक अन्य मूल्य, 'मोक्ष' भी जोड़ दिया गया है।

बेशक, जब हम त्रिवर्ग के बारे में विचार करते हैं तो ऐसा सोचना कि उसमें मोक्ष को निरस्त कर दिया गया है, ग़लत होगा। त्रिवर्ग में मोक्ष का केवल उल्लेख मात्र नहीं है, क्योंकि यह व्यवस्था मूलतः केवल गृहस्थों के सेवन हेतु है। अर्थ और काम दोनों ही जीवन के लिए आवश्यक हैं और धर्म इन दोनों का नियामक है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में व्यक्ति के लिए काम और अर्थ का कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता गृहस्थाश्रम में ही धर्म, अर्थ और काम के उपयोग का विस्तृत क्षेत्र रहता है। अतः कहा जा सकता है कि जब कोई दर्शन या दार्शनिक सामान्य जन को सम्बोधित करता है तो वह 'त्रिवर्ग' की ही चर्चा करता है 'पुरुषार्थ' की नहीं कि जिसमें मोक्ष भी सम्मिलित है। *महाभारत* तक में (शांतिपर्व १५.३) और मनु की *मनुस्मृति* में भी (२-२२४) केवल तीन ही मूल्य बताए गए हैं और परम पुरुषार्थ, मोक्ष का उल्लेख नहीं है। इस वृत्ति के पीछे कारण स्पष्ट हैं। एक तो यह कि यद्यपि मोक्ष को परम-पुरुषार्थ माना गया है लेकिन सामाजिक, राजनैतिक दृष्टि से इसका कोई तात्कालिक महत्त्व नहीं है और दूसरे, आध्यात्मिक मोक्ष या मुक्ति की धारणा और उस तक पहुँचाने वाले

मार्ग प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न रूप से निरूपित हैं और सामाजिक-राजनैतिक विचारक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अनिवार्यतः किसी एक दार्शनिक संप्रदाय से प्रतिबद्ध हो। उसके लिए तो बस इतना ही काफी है कि मूल्य-सेवन धर्म-विरुद्ध न हो और संयमित और मर्यादित हो।[२०] इसीलिए मनु के अनुसार सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी त्रिवर्ग के तीनों मूल्यों का समन्वित सेवन ही आदर्श मूल्य व्यवस्था है।

आरम्भिक ग्रन्थों में जैसे *रामायण, महाभारत* इत्यादि में तीन ही मूल्य गिनाए हैं, लेकिन यह सोचना कि उस समय 'मोक्ष' के बारे में उन्हें ज्ञान नहीं था, ग़लत होगा, क्योंकि इनमें स्वयं तथा दूसरे आरम्भिक ग्रन्थों में भी मोक्ष का उल्लेख तो मिलता ही है। वस्तुतः मोक्ष का आदर्श उपनिषदों के समय से ही हिन्दू मूल्य-दर्शन में देखा जा सकता है।

पुरुषार्थ मूल्य-व्यवस्था में त्रिवर्गीय मूल्यों के अतिरिक्त मोक्ष को एक पुरुषार्थ के रूप में सम्मिलित करना भारत में मूल्यों की खोज में एक निश्चित प्रगति माना जा सकता है। मूल्यगत प्रगति में यह एक ऐसा सोपान है जो शायद समस्त मानवी चिन्तन के इतिहास में विलक्षण है। हम अन्यत्र विशुद्ध रूप से एक व्यावहारिक आदर्श पा सकते हैं या फिर एक पूर्णतः परिकल्पनात्मक आदर्श भी खोज सकते हैं। कभी-कभी एक उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति हेतु दो भिन्न आदर्शों का सम्मिश्रण भी हमें देखने को मिल सकता है। लेकिन एक परम-मूल्य के रूप में स्पष्टतः मोक्ष का आदर्श केवल भारतीय मूल्य-दर्शन में ही हमें मिलता है कि जिसे यहाँ सभी युगों में और सभी विचारकों ने स्वीकार किया है। यह भारतीय मूल्य-दर्शन की एक विशिष्टता है।[२१]

पुरुषार्थ का अर्थ

वे दो शब्द जिनसे 'पुरुषार्थ' शब्द बना है पुरुषार्थ के अर्थ निर्धारण में विशेष रूप से सहायक हो सकते हैं। ये शब्द हैं- 'पुरुष' और 'अर्थ'। दार्शनिक दृष्टि से पुरुष का अर्थ (१) 'व्यक्ति' से होता है और (२) 'आत्मा' से होता है, जो व्यक्ति का सार है। इसी प्रकार 'अर्थ' का वास्तविक अर्थ 'वस्तु' से है। अब प्रश्न है कि 'पुरुष' और 'अर्थ' का परस्पर क्या सम्बन्ध है। डॉ० संगमलाल पाण्डेय ने इस सन्दर्भ में अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें से कुछ निम्न हैं[२१]-

पुरुषार्थ पुरुष का अर्थ (या प्रयोजन) है

पुरुषार्थ की यह व्याख्या तत्पुरुष समास (षष्ठी) के द्वारा की गई है। अतः इस व्याख्या में द्वितीय पद, अर्थात् 'अर्थ' प्रधान है। इसमें पुरुषार्थ के ऊपर पुरुष का आधिपत्य या स्वामित्व टपकता है। पर वास्तव में पुरुष ही पुरुषार्थ का शासन या आधिपत्य है। अतः यह व्याख्या पुरुष और पुरुषार्थ के सम्बन्ध को उलट देने के कारण दोषपूर्ण है।

पुरुषार्थ वह अर्थ है जो पुरुष के लिए है

यह व्याख्या भी तत्पुरुष समास (चतुर्थी) के द्वारा की गई है। अतः इसमें भी द्वितीय पद, अर्थात्, 'अर्थ' प्रधान है। इस व्याख्या में पुरुषार्थ पुरुषाधीन होने के कारण सापेक्ष हो जाता है। उसकी निरपेक्षता इसमें सुरक्षित नहीं रहती। अतः यह भी सदोष है।

पुरुषार्थ वह अर्थ है जो पुरुष द्वारा प्रार्थित है

यह व्याख्या भी तत्पुरुष समास के द्वारा की गई है। अतः इसमें भी द्वितीय पद, अर्थात्, 'अर्थ' प्रधान है। इस व्याख्या में पुरुषार्थ पुरुष की कृति या रचना हो जाती है। स्पष्ट ही जो कृत या रचित है वह नश्वर या सीमित है। पुरुषार्थ, इस प्रकार एक सीमित या नश्वर विषय बन जाता है। अतः यह व्याख्या भी स्वीकार नहीं की जा सकती।

पुरुषार्थ पुरुष से होने वाला अर्थ है

यह व्याख्या भी तत्पुरुष समास (पञ्चमी) द्वारा की गई है और इसलिए इससे भी द्वितीय पद 'अर्थ' प्रधान है। इस व्याख्या में पुरुषार्थ पुरुष से एक पृथक् वस्तु हो जाता है। परन्तु वस्तुतः पुरुष और पुरुषार्थ का सम्बन्ध अवियोज्य है।

पुरुषार्थ पुरुष में रहने वाला अर्थ है

यह व्याख्या भी तत्पुरुष समास (सप्तमी) द्वारा की गई है। इसमें भी द्वितीय पद, अर्थात्, 'अर्थ' प्रधान है। इस व्याख्या में पुरुषार्थ पुरुष के अन्दर एक गुण, दशा, अवस्था या अंग के रूप में हो जाता है और इसलिए यह सिद्ध होता है कि पुरुष

का कुछ भाग ऐसा भी है जो पुरुषार्थ से रहित है। परन्तु स्पष्ट ही ऐसा है नहीं।

पुरुष और अर्थ दोनों का संयोग पुरुषार्थ है

यह व्याख्या द्वन्द्व समास के अनुसार है और इसमें दोनों ही पद प्रधान हैं। इसमें 'पुरुष' और 'अर्थ' दोनों को ही स्वतन्त्र वस्तु मान लिया गया है और उनके सम्बन्ध को मात्र समुच्चय या संयोग समझा गया है। किन्तु वास्तव में पुरुष और अर्थ एक दूसरे से स्वतन्त्र हो ही नहीं सकते और उनका सम्बन्ध भी मात्र संयोग या समुच्चय नहीं है।

पुरुष ही अर्थ है

इस व्याख्या में पहला पद प्रधान है और यह व्याख्या कर्मधारय समास के अनुसार है। इसमें पुरुष और पुरुषार्थ समानार्थक हो जाते हैं, और ऐसी परिस्थिति में अर्थ शब्द निरर्थक हो जाता है और पुरुष से ही पुरुषार्थ का अर्थ निकलने लगता है किन्तु वास्तव में अर्थ का प्रयोग निरर्थक नहीं है।

डॉ० संगमलाल पाण्डेय के अनुसार उपरोक्त सभी व्याख्याओं में अन्तिम व्याख्या ही, कि जिसके अनुसार 'पुरुष' ही 'अर्थ' है (पुरुष=अर्थ), अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणित प्रतीत होती है। पुरुष और अर्थ में अभेद सम्बन्ध है। बेशक, पुरुष और अर्थ के अपने-अपने सूक्ष्मतर अभिप्राय हैं और दोनों के भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, किन्तु पुरुषार्थ की सत्य अवधारणा में और पुरुष की सत्य अवधारणा में दोनों एकार्थक हो जाते हैं।

पुरुषार्थ की सामान्य व्याख्या, पुरुष+अर्थ=पुरुषार्थ है। अतः पुरुषार्थ से आशय स्पष्टतः पुरुष के प्रयोजन (अर्थ) से है। पुरुष का क्या प्रयोजन हो सकता है? एक दृष्टि से पुरुष का प्रयोजन दुःख और अज्ञान से मुक्ति है। इस अर्थ में पुरुष वह व्यक्ति है जो देश, काल, जन्म, मरण, दुःख, अज्ञान आदि बन्धनों से युक्त है और उसका प्रयोजन या लक्ष्य इन तमाम बन्धनों से मोक्षावस्था को प्राप्त करना है लेकिन यदि पुरुष इन बन्धनों से मुक्त भी हो जाय तो भी वह अन्ततः पुरुष ही बना रहेगा। या, यूँ, कहें, कि तब वह अपने वास्तविक पुरुषत्व को प्राप्त होगा। एक ऐसे वास्तविक पुरुषत्व को जो समस्त बन्धनों से मुक्त है। यहाँ पुरुष का अर्थ व्यक्ति से न होकर स्वयं पुरुष (अर्थात् 'आत्मा') से है और तब कहा जा सकता है, 'पुरुष का प्रयोजन

स्वयं पुरुष है'। इस कथन में प्रथम पद के रूप में जो पुरुष पद प्रयुक्त हुआ है इसका अर्थ बन्धन युक्त व्यक्ति है और द्वितीय पद के रूप में जो पुरुष पद प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ मुक्त पुरुष से है, जो स्वयं ही प्रथम पुरुष का प्रयोजन (अर्थ) है।

डॉ० संगमलाल पाण्डेय जब पुरुषार्थ का अर्थ, पुरुष ही अर्थ है- इस प्रकार करते हैं तो पुरुष से उनका आशय मुक्त पुरुष से है। लेकिन सामान्यतः जब पुरुषार्थ का अर्थ पुरुष के प्रयोजन से लगाया जाता है तब पुरुष का अर्थ मुक्त पुरुष से न होकर 'व्यक्ति' से होता है, जो जन्म-मरण के बन्धन आदि से ग्रस्त है और जिसका प्रयोजन इन बन्धनों से मुक्त होना है।

यदि उपर्युक्त पुरुष-विवेचना को ध्यान में रखा जाए तो पुरुषार्थ के सन्दर्भानुसार दोनों ही अर्थ किए जा सकते हैं। (१) पुरुषार्थ=(पुरुष+अर्थ) और (२) पुरुषार्थ=(पुरुष=अर्थ), प्रथम अर्थ में पुरुष से तात्पर्य व्यक्ति से है और द्वितीय में मुक्त पुरुष (आत्मा) से है। पुरुष ही पुरुष का अर्थ है। ऐसे में पुरुष=अर्थ हो जाता है। डॉ० संगमलाल पाण्डेय ने पुरुषार्थ का अर्थ पुरुष=अर्थ से लगाया है, जिसका आशय यह है कि पुरुष अपने आप में ही एक मूल्य है। यानी, हम 'पुरुष' कहें या 'अर्थ' कहें, तात्पर्य एक ही है। ऐसे में पुरुषार्थ को अर्थ=पुरुष भी कहा जा सकता है। पुरुषार्थ की यह विवेचना निःसंदेह एक अपेक्षाकृत नई विवेचना है। जो ग़लत नहीं ठहराई जा सकती। लेकिन यह डॉ० पाण्डेय की अपनी विवेचना है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि पुरुषार्थ की कुछ इसी प्रकार की विवेचना हमें जी.सी. पाण्डेय की पुस्तक मूल्य-मीमांसा में भी मिलती है जहाँ कहा गया है कि पुरुष में कोई वास्तविक अभाव नहीं है, जिसकी पूर्ति के लिए उसे अपने अतिरिक्त कोई अर्थ अपेक्षित हो, न पुरुष से श्रेष्ठ कोई तत्त्व है जो पुरुष के लिए उपास्य हो-"पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः"। पुरुष स्वयं परम अर्थ है।[२४]

पुरुष की इस व्याख्या में स्पष्ट ही पुरुष से अर्थ व्यक्ति से नहीं है, बल्कि उस पुरुष से है जो व्यक्ति का सार है और जो शरीर रूपी 'पुर' या नगर में रहता है-पुरि शेते इति पुरुषः। इसी पुरुष को प्राप्त करना पुरुषत्व है।

पुरुषापेक्षी मूल्य और मूल्यापेक्षी पुरुष

यदि पुरुष स्वयं ही परम अर्थ है तो स्पष्ट ही इसके संदर्भ के बिना कोई भी मूल्य, मूल्यवान नहीं हो सकता। 'पूरणात् पुरुषः'- जो सबका पूरक हो, वही पुरुष

है। पुरुष, इस प्रकार पुरुषार्थों के संदर्भ में धर्म, अर्थ और काम-तीनों का ही पूरक है। बिना पुरुष के ये सभी तत्व अपनी मूल्यवत्ता खो देते हैं। वे पुरुषाभि सम्बन्ध से ही अर्थ (या मूल्य) बनते हैं। विभिन्न मूल्य, इस प्रकार, एक ही पुरुषार्थ के औपाधिक भेद हैं। मुक्त आत्मा अथवा पुरुष एक साथ परम आध्यात्मिक वास्तविकता भी है और सर्वोच्च मूल्य भी है जो अन्य सभी मूल्यों को मूल्यवान बनाता है। भारतीय मनीषा के अनुसार मूल्य उद्‌गामी तत्व नहीं है, जो देशकालिक संरचना से उद्‌भासित हुए हों, जैसा कि आंग्ल दार्शनिक सैम्युअल एलेक्जैण्डर मानता है। वे जीवन के किसी अन्ध सिद्धान्त द्वारा सृजित भी नहीं है जैसा कि सर्जनात्मक विकासवादी सिद्धान्त का मत है (बर्गसाँ), वे तो केवल उद्‌गमित हुए से प्रतीत मात्र होते हैं क्योंकि व्यक्ति धीरे-धीरे अपने बन्धनों से मुक्त होकर उनको चरितार्थ करता है। परन्तु सच तो यह है कि मूल्य व्यक्ति के आध्यात्मिक स्वरूप में पहले से ही अन्तर्वर्ती है।

क्योंकि मूल्यों को उनकी मूल्यवत्ता पुरुष (आत्मा) प्रदान करता है, इसलिए कहा जा सकता है कि सभी मूल्य पुरुषापेक्षी हैं। वे आत्मा की अपेक्षा से ही मूल्यों की कोटि में आ पाते हैं। किन्तु यदि हम व्यक्ति के रूप में पुरुष के दृष्टिकोण से देखें तो स्वयं पुरुष मूल्यापेक्षी हो जाता है। व्यक्ति की सार्थकता इसी में है कि वह उच्च से उच्चतर मूल्यों की ओर जो अन्ततः उसे अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कराने में सहायक हों-अग्रसर होता जाए। व्यक्ति जैसे-जैसे उच्चतर मूल्यों की ओर अधिगमन करता है उसे लगता है कि उसके सामने मानों उच्चतर मूल्यों का धीरे-धीरे आविर्भाव हो रहा हो।

कठोपनिषद् में मूल्यों के स्तर के बारे में चर्चा हुई है जहाँ कम महत्त्व के मूल्यों का संक्रमण करके अधिक महत्त्व के मूल्यों की ओर संकेत किया गया है और इस प्रकार मूल्यों के विविध सोपान बताए गए हैं। यहाँ कहा गया है कि इन्द्रियों से परे इन्द्रियों के विषय (अर्थ) हैं और इन्द्रियों के विषय से परे मनस् है और मनस् से भी ऊपर बुद्धि है और बुद्धि से ऊपर महत् आत्मन् है। महत् आत्मन् से परे अव्यक्त है और अव्यक्त से भी परे पुरुष है। पुरुष से आगे और कुछ नहीं है। वही अन्तिम गति है, और वही अन्तिम प्रयोजन है।[२५]

मूल्यों को इस प्रकार दो गोलार्धों में व्यवस्थित किया गया है। निम्नतर गोलार्ध के मूल्य जन्म-मरण के चक्र से और पुनर्जन्म के नियमों से बँधे हुए हैं, जबकि उच्चतर गोलार्ध इनसे मुक्त है।[२६]

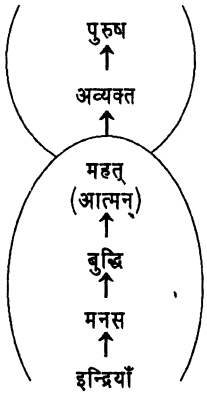

इन्द्रियाँ मन के लिए, मन बुद्धि के लिए और बुद्धि आत्मा के लिए। इन्द्रियों से बुद्धि तक पराचीनता के सहारे अहं का विस्तार क्षेत्र है। अहं अन्दर के निस्सार या शून्य होने से बाध उपाधि एवं विषय के अवलम्बन से ही प्रस्फुटित होता है और बहिर्मुख प्राकृत व्यापार का केन्द्र बनता है। किन्तु जब व्यक्ति बुद्धि से उच्चतर सोपान पर पहुँचता है उसका अहं-नाश स्वतः होने लगता है और आत्मन् 'अव्यक्त' से होकर 'पुरुष' के सर्वोच्च मूल्य को प्राप्त करता है। पुरुषार्थ मूल्य-व्यवस्था में इस प्रकार, जहाँ पुरुष एक ओर एक मूल्यगत प्रेरणा है वहीं दूसरी ओर वह व्यक्ति के द्वारा चरितार्थ एक परम-मूल्य भी है।

पुरुषार्थ की मूल्य-व्यवस्था एक अनेक तत्त्ववादी व्यवस्था है जिसमें एकाधिक मूल्य स्वीकार किए गए हैं। लेकिन अनेक 'तत्त्ववाद' एक ऐसा शब्द है जिससे भ्रान्ति पैदा हो सकती है क्योंकि पुरुषार्थ में उल्लिखित चारों पुरुषार्थ (मूल्य) अलग-अलग नहीं हैं। यह व्यवस्था हमारे जीवन को चार, एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र, विभागों में विभाजित नहीं करती। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं माने जा सकते हैं। यह व्यवस्था एक स्वतः शोध-प्रणाली अपनाती प्रतीत होती है, जिसमें निम्नतर मूल्य उच्चतर मूल्य की खोज में संलग्न है। निम्नतर मूल्य स्पष्ट ही अपूर्ण होता है लेकिन वह इसीलिए अग्रिम खोज के लिए प्रेरित भी करता है। यदि कोई तथाकथित मूल्य हमें उच्चतर मूल्य की दिशा में मूल्यान्वेषण के लिए तैयार नहीं करता तो वह महत्त्वहीन हो जाता है। पुरुषार्थ व्यवस्था में इसीलिए निम्नतर मूल्य न तो निरर्थक हैं और न ही ग़लत हैं। सभी मूल्य के एक समावेशित प्रत्यय पुरुष में सम्मिलित हैं।

पुरुषार्थ व्यवस्था में निहित जहाँ एक ओर सभी मूल्य पुरुष के न्यूनाधिक प्रकाश के आलोक से आलोकित हैं और इस प्रकार अपनी मूल्यवत्ता बनाए रखते हैं वहीं दूसरी ओर वे एक सतत उच्चतर सोपान की ओर अग्रसर रहते हैं और इस प्रकार वे परस्पर संबंधित और आश्रित भी हैं।

त्रिवर्ग और पुरुषार्थ

त्रिवर्ग की चर्चा करते समय हमने यह स्पष्ट किया था कि अन्ततः धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों वर्गों का मूल्य किस बात में निहित है? इन मूल्यों का आखिर मूल्य क्या है? हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि इनका मूल्य इनके सामंजस्यपूर्ण सेवन में है। न तो धर्म अर्थ और काम श्रेयस् हैं, न काम और अर्थ श्रेयस् हैं और न ही अकेला धर्म या अकेला अर्थ श्रेयस् है। सही स्थिति यह है कि स्वयं त्रिवर्ग ही श्रेयस् है। अतः त्रिवर्ग के मूल्यों का सेवन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वे एक-दूसरे के अपघाती न हों। अतः कहा जा सकता है कि जीवन के विभिन्न मूल्यों के परस्पर एकीकरण में ही मूल्यों की अपनी विशेषता और पहचान निहित है।

लेकिन कालान्तर में मूल्य-व्यवस्था का विकास जब त्रिवर्ग से चतुर्वर्ग (पुरुषार्थ-व्यवस्था) में हुआ तो मूल्य की अपनी पहचान बदल गई। त्रिवर्ग में मोक्ष के जुड़ जाने से कभी-कभी ऐसा लगने लगा कि त्रिवर्ग-सेवन निरर्थक हो गया, क्योंकि मोक्ष तो पूर्ण निवृत्ति है-त्रिवर्ग सेवन से भी अन्ततः निवृत्ति ही मोक्ष में काम्य है-इसीलिए मोक्ष ही एकमात्र मूल्य शेष रह जाता है।

किन्तु उपर्युक्त दोनों ही निष्कर्ष सही प्रतीत नहीं होते। त्रिवर्ग में 'मोक्ष' जुड़ जाने से जो पुरुषार्थ-चतुष्टय की व्यवस्था विकसित हुई उससे सच तो यह है कि न तो त्रिवर्ग-सेवन निरर्थक हो गया और न ही मोक्ष एक मात्र मूल्य रह गया। त्रिवर्ग-सेवन इसलिए निरर्थक नहीं हुआ क्योंकि धर्म, अर्थ और काम का समन्वित और सामंजस्यपूर्ण सेवन का परिणाम मोक्ष-मार्ग के लिए बाधक होने की बजाय सहायक बना रहा। बेशक धर्म, अर्थ और काम का समन्वय स्वयं अपने आप में अब मूल्य की पहचान नहीं रह सका, वह केवल मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन-मूल्य रह गया। वह स्वयं साध्य नहीं

यहाँ हम हिन्दू विचारधारा और निवृत्तिमार्गी जैन और बौद्ध विचारधारा में एक स्पष्ट अन्तर देख सकते हैं। हिन्दू विचारधारा मोक्ष की खोज से पूर्व धर्म, अर्थ-काम सेवन को लगभग अनिवार्य मानती है। अपवाद हो सकते हैं और मोक्ष को केवल वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम तक सीमित कर देती है। किन्तु जैन-बौद्ध विचारधाराओं में मोक्ष पर ऐकान्तिक आग्रह है।

रहा। साध्य बेशक मोक्ष हो गया किन्तु त्रिवर्ग की मूल्यवत्ता, मोक्ष के परिप्रेक्ष्य में साधन-मूल्य बने रहने के नाते निरर्थक नहीं हो जाती। यदि यह बात सही है तो स्पष्ट ही ऐसा सोचना कि चतुर्वर्ग में मोक्ष ही एकमात्र मूल्य है, ग़लत होगा क्योंकि साधन मूल्य भी निषेधात्मक न होकर स्वीकारात्मक मूल्य है। मोक्ष यदि परम् पुरुषार्थ है तो परिमित रूप से ही क्यों न हो, धर्म, अर्थ और काम भी पुरुषार्थ बने रहते हैं।

पुरुषार्थ-चतुष्टय में मूल्यों के वस्तुतः दो प्रकार हो गए। मूल्यों का एक प्रकार 'त्रिवर्ग' बना जिसमें मानव-जीवन के तीन मूल्य-धर्म, अर्थ और काम सम्मिलित किए गए। ये तीनों ही प्रयोजनों के 'वर्ग' हैं। उदाहरण के लिए काम प्रयोजन को लीजिए, इसके अन्दर संभोग का सुख, सौन्दर्यानुभव का सुख, कृत-आकृतियों के रसास्वादन का सुख, आदि अनेक सुख सम्मिलित हैं इसीलिए 'काम' एक वर्ग है। वह स्वयं तो मूल्य है ही अन्य समानवर्गी मूल्यों का एक परिवार भी है। इसी प्रकार अर्थ और धर्म भी एक ओर स्वयं प्रयोजन हैं, और दूसरी ओर वे अनेक समानधर्मी प्रयोजनों के स्वतन्त्र वर्ग भी हैं।

किन्तु मोक्ष में इस नियम का पालन नहीं होता। वह स्वयं तो प्रयोजन है किन्तु अनेक प्रयोजनों का वर्ग नहीं है। इसीलिए उसे 'त्रिवर्ग' से अलग 'अपवर्ग' के रूप में पहचान दी गई है। पुरुषार्थ व्यवस्था में इस प्रकार हम मूल्यों के दो भेद पाते हैं- वर्ग और अपवर्ग। वर्ग के अन्तर्गत मूल्यों के तीन वर्ग (त्रिवर्ग) हैं- धर्म, अर्थ, और काम। मोक्ष क्योंकि कोई 'वर्गीय' मूल्य नहीं है कि जिसमें एकाधिक मूल्य सम्मिलित हों, इसलिए वह एक अलग प्रकार का मूल्य है- वह 'अपवर्ग' है।

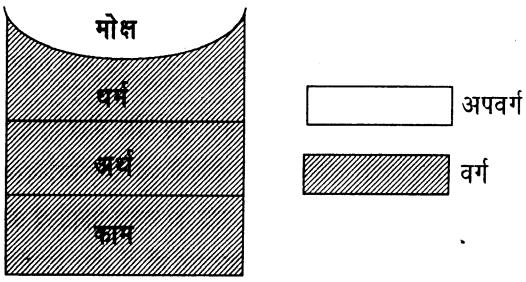

धर्म, अर्थ और काम अपवर्ग भले न हों, लेकिन वे मोक्ष की ही भाँति पुरुष के प्रयोजन होने के नाते और अनिवार्यतः उसकी चेतना में होने से पुरुषार्थ ही हैं। इन चारों पुरुषार्थों को पदार्थ भी कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि ये काल्पनिक मनोरथ नहीं हैं, ये स्वयमेव सत् हैं।[२७]

त्रिवर्ग में मूल्य की पहचान धर्म, अर्थ और काम के सामंजस्यपूर्ण सेवन में है, किन्तु पुरुषार्थ व्यवस्था में मूल्य की परिभाषा मूलतः पुरुष के प्रयोजन से दी गई है। प्रश्न उठता है कि पुरुष का अंतिम प्रयोजन क्या है? स्पष्ट ही यह मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ मोटे तौर पर जो सभी दार्शनिक सम्प्रदायों को मान्य है, दुःख से मुक्ति है, पूर्णतः दुःखाभाव है। त्रिवर्ग का हम कितना ही सामंजस्यपूर्ण सेवन क्यों न करें, अपनी कामनाओं को हम कितना ही मर्यादित क्यों न कर दें, वे अन्ततः स्थाई सुख का कारण नहीं बनती, अतः त्रिवर्ग का सामंजस्यपूर्ण सेवन भी दुःख के पूर्ण अभाव या कहें, सुख की निश्चित प्राप्ति नहीं कराता, उस ओर अग्रसर भले ही करे। इसीलिए पुरुषार्थ व्यवस्था, जो प्रयोजन-परक है, का अन्तिम लक्ष्य या मूल्य सुख-प्राप्ति है, न कि केवल सामंजस्य बनाए रखना है। स्पष्ट ही यह वह सुख है जो सुख-दुःख के द्वैत से परे है।

वेदांत परिभाषा में सुख के दो प्रकार बताए गए हैं- सातिशय सुख और निरतिशय सुख। सातिशय सुख अस्थाई सुख है जो कि अन्य किसी उच्चतर सुख से समाप्त हो सकता है। यह वास्तविक मूल्य नहीं है, वास्तविक मूल्य स्थाई सुख में है। यह निरतिशय सुख, सुख-दुःख के द्वैत से परे है। यह कभी न समाप्त होने वाला वह सुख है जो वास्तविक मूल्य है और जिसे मोक्षावस्था में ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ त्रिवर्ग का मूल्य द्वैत और संघर्ष की स्थितियों में सामंजस्य है, पुरुषार्थ का मूल्य निरतिशय सुख है। हाँ, जब तक यह निरतिशय सुख प्राप्त नहीं होता, अर्थात् जब तक दुःखाभाव की मोक्ष-स्थिति तक पुरुष पहुँच नहीं पाता तब तक सामंजस्य की स्थिति बनाए रखना ही एक मात्र उपाय है। हम त्रिवर्ग को नकार नहीं सकते।

संदर्भ

१. देखें, हिरियन्ना, एम०, *द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन,* मैसूर, १९५२, पृ० १०१

२. देखें, अण्टो ताहतिनेन, *इण्डियन फिलॉसफी ऑफ वैल्यू,* तुर्कू, १९६८, पृ० ४९

३. देखें, पांडे, गोविन्द चंद्र, *मूल्य-मीमांसा,* जयपुर, १९७३, पृ० ५४

४. *कामसूत्र,* १.२.३९

५. *वेदान्त परिभाषा,* ६.१

६. पांडे, गोविन्द चंद्र, *मूल्य मीमांसा* (उपर्युक्त), पृ० ५

७. वहीं, पृ० ५

८. वहीं, पृ० ४

९. *कठोपनिषद्-*

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् यद् प्रेयोवृणीते,
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। १.२.१-२

१०. देखें, मैत्र, एस के : *द स्पिरिट ऑफ इण्डियन फिलॉसफी,* वाराणसी, १९४७, पृ० १७७-१८१

११. गीता, धर्माविरूद्धो कामोऽस्मि, ७/११

१२. हिरियन्ना, एम०, *द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन* (उपर्युक्त) पृ०, १०२

१३. वही, पृ० २३

१४. *मनुस्मृति* २.२२४

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कार्मार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।।

१५. दत्त, धीरेन्द्र मोहन, 'सम फिलॉसफिकल आस्पेक्टस् ऑफ इण्डियन पोलिटिकल, लीगल एण्ड इकॉनॉमिक थॉट, निबंध। देखें- चार्ल्स ए० मूअर द्वारा संपादित ग्रंथ, *द इण्डियन माइण्ड,* होनोलूलू, १९६७ पृ० २७७

१६. *कामसूत्र*

शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं।
परस्पर स्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत।। १.२.१

१७. अण्टो ताहतिनेन, *इण्डियन फिलॉसफी ऑफ़ वैल्यू* (उपर्युक्त), पृ० १६

१८. *कामसूत्र*

एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपचरन्नरः ।
इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते।। १.२.३९

१९. *रामायण* ३.९.३०-

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।

धर्मेण लभते सर्वं धर्म सारमिदं जगत्।।

२०. दत्त, धीरेन्द्र मोहन, 'सम फ़िलॉसफ़िकल आस्पेक्ट्स'- *द इण्डियन माइण्ड* (उपर्युक्त) में पृ०, २७६

२१. हिरियन्ना एम. : *द क्वेस्ट आफ़्टर परफैक्शन* (उपर्युक्त) पृ० ७०

२२. पाण्डेय, संगमलाल : *ज्ञान, मूल्य और सत्,* इलाहाबाद १९७३ पृ० ६४ से..

२३. वही, पृ०

२४. पाण्डेय, गोविंद चंद्र, *मूल्य मीमांसा* (उपर्युक्त) पृ० २५६

२५. इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः महतः रमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः क० १.३.१०-११.

२६. देखें, मैत्र, एस०के०, *द स्पिरिट ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी* (उपर्युक्त), पृ० २०।

२७. पांडे, संगमलाल, *ज्ञान, मूल्य और सत्* (उपर्युक्त), पृ० १०४।

२८. *वेदांत परिभाषा,* १.२-३

अध्याय-३

पुरुषार्थ-धर्म और अर्थ

पुरुषार्थचतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- में धर्म प्रथम पुरुषार्थ है। मूल्य-व्यवस्था में इसकी केन्द्रीय भूमिका को देखते हुए, इसे, मोक्ष को छोड़कर, सर्वोच्च मूल्य कहा जा सकता है।[1] यह स्वयं तो मूल्यवान है ही, अन्य पुरुषार्थों को भी यह मूल्यवत्ता प्रदान करता है, इसलिए इसे प्राथमिक मूल्य भी कहा गया है।

भारतीय दार्शनिक साहित्य में शब्द- धर्म, एक बड़े व्यपाक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसकी निष्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ धारण करने से है। वह जो धारण करता है, धर्म है- *धारयते इति धर्मः*। महाभारत में भी कहा गया है- *धारणात् धर्ममित्याहुः*। धर्म वह है जो विश्व को धारण किए है। *ध्रियते लोकः अनेन, इति धर्मः* अथवा, *धरति, धारयति वा लोकम् इति धर्मः*।

धर्म अपने व्यापक अर्थ में न केवल समस्त विश्व को धारण किए है बल्कि मानवी संस्कृति, दर्शन और सभी दार्शनिक सिद्धान्तों को भी अपने में समेटे हुए है बौद्ध दर्शन इस अर्थ में 'धम्म' है।

संस्कृत-हिंदी कोष[2] में 'धर्म' के १७ अर्थ दिए हुए हैं- १. कर्तव्य, जाति, सम्प्रदाय आदि के प्रचलित आचार का पालन २. कानून, प्रचलन, दस्तूर, प्रथा, अध्यादेश अनुविधि ३. धार्मिक या नैतिक गुण, भलाई, नेकी, अच्छे काम (मानव अस्तित्व के चार पुरुषार्थों में से एक) ४. कर्तव्य, शास्त्र विहित आचरण क्रम ५. अधिकार, न्याय, औचित्य, निष्पक्षता ६. पवित्रता, औचित्य, शालीनता ७. नैतिकता, नीतिशास्त्र ८. प्रकृति, स्वभाव, चरित्र ९. मूलगुण, विशेषता १०. रीति, समरूपता, समानता ११. यज्ञ १२. सत्संग, भद्र पुरुषों की संगति १३. भक्ति, धार्मिक भावमग्नता, १४. रीति, प्रणाली १५. उपनिषद्, १६. ज्येष्ठ पाण्डव, युधिष्ठर १७. मृत्यु का देवता यम।

धर्म के इतने अधिक अर्थ हैं कि इसका ठीक-ठीक उपयोग अत्यंत कठिन हो गया है। संदर्भानुसार ही हम इसका सही अर्थ लगा सकते हैं। पुरुषार्थ व्यवस्था में भी धर्म अनेकार्थी है किन्तु मूल्य के रूप में इससे आशय मुख्यतः नैतिक मूल्य से ही है।

ऋत और धर्म

यद्यपि शब्द, धर्म वैदिक काल से ही प्रचलित रहा है, लेकिन उस समय धर्म की अपेक्षा ऋत की धारणा केंद्रीय धारण थी। ऋत में दो अर्थ निहित है। एक तो यह विश्व को व्यवस्थित करने वाला नियम है और दूसरे यह सामाजिक और नैतिक आचरण का नियामक है। ऋत का संदर्भ प्राथमिक रूप से उस नियम से है जो व्यवस्था प्रदान करता है और इस तरह सभी प्राकृतिक नियम जो प्रकृति में एकरूपता और संगति लाते हैं, ऋत के अंतर्गत आ जाते हैं। जैसे सूर्य का आना या डूबना, ऋतुओं का चक्र इत्यादि। प्रकृति के अंतर्गत जो औचित्य अथवा अंतर्भूत न्याय है, वही ऋत है। इस प्रकार ऋत में एक मूल्यगत भाव निहित है कि प्रकृति को अपने नियमों के अनुसार ही चलना चाहिए। अतः ऋत, सत् और मूल्य दोनों ही है।

कालांतर में ऋत जो मूलतः एकरूपता और संगति का द्योतक प्राकृतिक नियम था, नैतिक नियम के रूप में भी अपना अर्थ-विस्तार पा गया। और वह जो मनुष्य के जीवन को नियमित करता है, भी ऋत कहा जाने लगा। ऋत में इस प्रकार 'आदर्श'- जो होना चाहिए- की भावना भी निहित है। वह अपने एक विस्तृत अर्थ में एक सामाजिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। जहाँ कहीं भी अव्यवस्था या अनियमितता है, वहाँ 'अनृत' है।

भारत के वैचारिक विकास में, ऋत में निहित ये दोनों धारणाएँ धीरे-धीरे धर्म की अवधारणा में परिणत होती गईं और सत्तामीमांसा के रूप में ऋत जहाँ एक ओर बौद्ध धर्म में 'धम्म' बन गया, वहीं दूसरी ओर ऋत का सामाजिक-नैतिक संदर्भ हिंदू दर्शन में 'धर्म' हो गया।

बौद्ध दर्शन में धर्म का एक बहुत मौलिक और विलक्षण अर्थ लिया गया है। शैर्बात्स्की (stcherbatsky) के अनुसार 'धम्म' बौद्ध दर्शन की एक केन्द्रीय अवधारणा है। यह सत्ता अंतिम, सूक्ष्मतम और वह वास्तविक तत्त्व है जिस पर समस्त विश्व की संरचना स्थापित है (हिंदू दर्शन में भी *धारयते इति धर्मः*, यही भाव निहित है) इस अर्थ में, धर्म विशुद्ध रूप से एक तत्त्वमीमांसक प्रत्यय हो जाता है। धर्म, इस प्रकार, विश्व का वह शाश्वत नियम है जो सभी वस्तुओं को धारण किए हुए है।

हिंदू दर्शन में धर्म की इस तत्त्वमीमांसात्मक अर्थक्रिया पर इतना बल नहीं दिया गया जितना उसके सामाजिक और नैतिक निहितार्थ पर दिया गया। धर्म, मुख्य रूप से यहाँ नैतिक सद्गुणों को व्यवहार में उपयोग करना रहा है। अतः धर्म बहुत कुछ नैतिक शुभत्व

है। इसमें सच्चरित्रता निहित है। और इसीलिए इसे एक पुरुषार्थ माना गया। अर्थ और काम की उपस्थिति मनुष्यों और पशुओं में समानरूप से देखी जा सकती है। किंतु धर्म केवल मुनष्य तक ही (पुरुष-संदर्भ तक ही) सीमित है। मनुष्य को नैसर्गिक रूप से धर्म का बोध होता है[३] और मनुष्य की विलक्षणता इसी में है।

धर्म-नैतिक मूल्य : सामान्य और विशेष धर्म

धर्म से आशय, बेशक कभी-कभी धार्मिक कर्मकांड से लगाया गया है लेकिन क्योंकि धार्मिक कर्मकांड के लिए मूलतः नैतिक रूप से सचेत होना आवश्यक है, अतः धर्म से तात्पर्य नैतिक सद्गुणों और नैतिक शुभत्त्व से ही अधिक है।

भारतीय दर्शन में धर्म प्राथमिक रूप से एक नैतिक आवधारणा है और इसमें सद्गुणों और कर्तव्यों की ओर निर्दिष्ट किया गया है जिन्हें मनुष्य को करना चाहिए, या जो नैतिक रूप से उसे करने अनिवार्य हैं। ऐसे कर्तव्य दो प्रकार के हो सकते हैं- 'सामान्य धर्म' (या, जिन्हें कभी-कभी साधारण धर्म का कहा गया है) और 'वर्णाश्रम धर्म'।

वर्णाश्रम धर्म वे विशिष्ट कर्तव्य हैं जो मनुष्य के वर्ण और आश्रम से संबंधित हैं। इन कर्तव्यों में प्रत्येक वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) और प्रत्येक आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के सद्गुणों की चर्चा की गई है। भारतीय परंपरागत समाज वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करता है जिसमें प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है। इस रूप में धर्म एक आचार संहिता सा बन जाता है। अब क्योंकि आधुनिक युग में वर्ण और आश्रम दोनों ही अप्रासंगिक हो गए हैं, अतः वर्णाश्रम धर्म भी अपना महत्त्व खो चुका है। लेकिन जिन्हें सामान्य धर्म या साधारण धर्म कहा गया है वे वर्ण और आश्रम सापेक्ष न होकर ऐसे सद्गुण हैं जिनका पालन प्रत्येक मनुष्य को, फिर वह किसी वर्ण का क्यों न हो, अथवा, किसी भी आश्रम में क्यों न हो, करना चाहिए। *याज्ञवल्क्यस्मृति* में ऐसे नौ नैतिक सद्गुणों का उल्लेख हुआ है। ये हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दम, दया, और शांति।[४] यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस सूची में कुछ निष्ठाएँ, जैसे अहिंसा और दया दूसरों की भलाई से संबंधित हैं। वे परहितार्थ हैं। जब कि कुछ अन्य निष्ठाएँ जैसे, इन्द्रियनिग्रह और सत्य व्यक्ति के चरित्र और संकल्प को विकसित करने वाली है। फिर भी, स्वसंबंधी और परसंबंधी सद्गुणों के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती क्योंकि समाज से स्वतंत्र न तो व्यक्ति का कोई जीवन होता है और न ही व्यक्तियों के बिना समाज बनता है।

सामान्य धर्म नैतिक सद्गुण हैं इनके पालन से मनुष्य अपना शुभत्व प्राप्त करता है। योगदर्शन में नैतिक सद्गुणों के रूप में पाँच 'यम' गिनाए गए हैं। ये हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[४] जैन दर्शन में भी इन्हीं पाँच महाव्रतों की[६] व्यवस्था है और बौद्ध दर्शन में भी यही निष्ठाएँ पंचशील[७] के नाम से गिनाई गई हैं।

इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निष्ठा 'अहिंसा' मानी गई है। सभी धर्मों में इसका प्रथम स्थान है। वे याज्ञवल्क्य के नौ नैतिक सद्गुण हों, या योगदर्शन के पाँच यम हों, या जैनदर्शन के पाँच महाव्रत हों अथवा बौद्धदर्शन के पंचशील हों- सभी में प्रथम स्थान अहिंसा को ही दिया गया है। महाभारत में तो इसीलिए अहिंसा को ही परमधर्म, 'अहिंसा परमोधर्मः' माना गया है।[८]

नित्य धर्म और काम्य धर्म

वर्णाश्रम धर्म और साधारण धर्म सामान्यतः नित्य धर्म कहे गए हैं। अर्थात्, इनके सम्पादन में एक प्रकार की नैतिक अनिवार्यता बताई गई है। नैतिक अनिवार्यता से तात्पर्य यह है कि इनमें 'चाहिए' का भाव निहित रहता है कि इन्हें पालन करना ही है।

लेकिन धर्म के अंतर्गत केवल नित्य कर्म ही नहीं आते। इसमें काम्यकर्म भी सम्मलित हैं।[९] काम्यकर्म, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, प्रत्यक्षतः व्यक्ति के अपने हित को जैसे, पद, प्रतिष्ठा, धन आदि की कामनाओं को- साधते हैं। शर्त केवल इतनी ही होती है कि काम्यकर्म नैतिक जीवन के अनिवार्य तत्त्वों, अर्थात्, आत्मसंयम और समाज सेवा के आड़े न आए। काम्यकर्मों के रूप में धर्म की यह धारणा हमें विशेषकर मीमांसादर्शन के कुमारिल संप्रदाय में मिलती है। इसमें धर्म की व्याख्या प्रमुख रूप से उपयोगितावादी दृष्टिकोण से की गई है क्योंकि इसमें 'मूल्य' व्यक्ति अथवा समाज के हित या कल्याण पर अंततः निर्भर होता है, भले ही नित्यकर्म के पालन में व्यक्ति की मूल नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर कितने ही अंकुश क्यों न लगाए जाएं। धर्म का काम्यकर्म के रूप में कोई अपना अतिरिक्त मूल्य नहीं रहता।[१०]

नैमित्तिक धर्म और आपद्धर्म

नैमित्तिक धर्म वे अनित्य धर्म हैं जिन्हें विशेष प्रयोजन की दृष्टि से व्यक्ति को पालन करना होता है। निमित्त या अवसर विशेष की समाप्ति पर, उससे जुड़े कर्त्तव्य भी स्वतः समाप्त हो जाते हैं। पुत्रेष्टि यज्ञ- जो पुत्र की इच्छा के निमित्त किया जाता है, इसी प्रकार का नैमित्तिक धर्म है। स्पष्ट ही नैमित्तिक धर्म, नित्य धर्म नहीं है। यह आकस्मिक है।

इसी तरह का एक अनित्य धर्म 'आपद्धर्म' भी है। आपद्धर्म वह आचरण या वृत्ति है जिसे सम्पन्न करने की अनुमति अत्यन्त कष्ट या संकट के समय होती है। कोई कार्य या कार्यविधि जो एक विशेष वर्ग के लिए निषिद्ध हो, आपद्काल में वही कर्तव्य हो जाती है। इस प्रकार अधर्म भी, धर्म बन जाता है, अर्थात् नैतिकरूप से मूल्यवान हो जाता है। ऐसे समय में किन्हीं विशेष धर्मों की बात करना बेमाने हो जाता है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि सामान्य धर्मों को छोड़कर अन्य सभी धर्म, वर्णों से, आश्रमों से, कामनाओं से, नैमित्तक प्रयोजनों से और आपद् समय से सापेक्षित है। वे देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप होते हैं। सच तो यह है कि तथाकथित साधारण धर्म भी जिन्हें 'नित्य' कहा गया है, निरपेक्षतः नित्य नहीं होते। उनके पालन में भी परिस्थितियों का ध्यान रखना ही पड़ता है।

सामान्य धर्म केवल एक प्रत्यय है जिसका विशिष्टीकरण काम्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म, नैमित्तिक धर्म और आपद्धर्म के रूप में होता है। धर्म, जहाँ तक उसकी अंतर्वस्तु का प्रश्न है, सदैव परिवर्तनशील है। दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म सदा युग-सापेक्ष होता है। प्रत्येक युग में सद्गुण के रूप में धर्म बदल जाता है। भारतीय मनीषा ने चार युगों की परिकल्पना की है- कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। मनु का कहना है कि प्रत्येक युग का धर्म अलग-अलग है। कृत में यदि तप सर्वोच्च है, तो त्रेता में ज्ञान सर्वोपरि है। द्वापर में यज्ञ प्राथमिक मूल्य है, तो कलियुग में दान का सर्वाधिक महत्त्व है।[१]

धर्म की इसी परिवर्तनशीलता और सापेक्षता को देखते हुए कुछ व्याख्याकारों ने, हिंदू चिंतन में धर्म का कोई सामान्य दर्शन है ही, नहीं ऐसा माना है। धर्म केवल एक वाक्छल है, भ्रमित करने वाली एक ऐसी अवधारणा है जो सभी देशों, कालों और परिस्थितियों में बदलती रहती है तो ऐसे में उसे एक मूल्य के रूप में भला कैसे स्वीकार किया जा सकता है?[२]

उपर्युक्त विचार स्पष्ट ही अस्वीकार्य है। एक तो इसलिए कि धर्म की अंतर्वस्तु भले ही परिवर्तित होती रहे किन्तु धर्म का प्रत्यय या विचार नित्य है और दूसरे इसलिए कि धर्म की अंतर्वस्तु के निर्धारण के लिए भी धर्म के कुछ मानदंडों और स्रोतों को स्वीकार किया गया है जिनके अनुरूप ही आचारण धर्मानुसार माना जा सकता है। अब हम धर्म के इन्हीं स्रोतों की चर्चा करेंगे।

धर्म के स्रोत/मापदंड/लक्षण

याज्ञवल्क्यस्मृति तथा *मनुस्मृति*- दोनों ही में धर्म के कई स्रोत बताए गए हैं ये स्रोत वे मापदंड हैं जिनके अनुसार व्यक्ति धर्म-अधर्म का निर्णय कर सकता है। *याज्ञवल्क्य स्मृति* में *श्रुति* (वेद), *स्मृति, सदाचार, स्वात्मन-प्रिय* और *सम्यक् संकल्प से निर्मित काम*- ये परंपरागत रूप से धर्म के पाँच स्रोत हैं।[१३]

मनुस्मृति भी धर्म के चार लक्षण बताती है। इनमें सम्यक् संकल्प से निर्मित काम को छोड़ दिया गया है।[१४]

वेद और स्मृति तो शास्त्र हैं ही जिनमें धर्म की व्याख्या है। हमारे वे सारे कर्म जो धर्म की, वेद और स्मृति की व्याख्या के अनुरूप हैं, धर्मसम्मत माने जाने चाहिए। लेकिन कभी-कभी वे लोग जो वेद, स्मृति आदि धर्मग्रंन्थों के विद्वान् नहीं हैं उनके लिए धर्म का निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है। उनके लिए यह विधान है कि वे उस मार्ग पर चलें जिस पर सदाचारी लोग चलते हैं किंतु संदेह हो जाने पर सदाचारी पुरुष क्या करें? जो सदाचारी हैं उन्हें अपनी अंतरात्मा की आवाज को ही धर्म मान लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त धर्म को कई अन्य तरह से भी दार्शनिक साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए कहा गया है कि व्यक्ति जैसे स्वयं अपने को देखता है उसी प्रकार उसे दूसरों को भी देखना चाहिए। अपने लिए जो आचारण हानिकारक है उसे दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए। धर्म का यही मर्म है। इसके विरुद्ध आचरण केवल स्वार्थ है।[१५]

अतः कहा जा सकता है धर्म की अंतर्वस्तु यद्यपि देश, काल, परिस्थिति अथवा युग-सापेक्ष है किन्तु वह अनिश्चित नहीं है। उसका निश्चय धर्मशास्त्रों, सदाचारियों के व्यवहार और अंतरात्मा से किया जाता है।

धर्म की अर्थक्रिया (या कार्य)- अभ्युदय और निःश्रेयस

पुरुषार्थ के परिप्रेक्ष्य में धर्म के 'कार्य' क्या हैं, यहाँ स्पष्ट ही हमारा आशय धर्म के उन कार्यों से है जो धर्म के अर्थ (मूल्य) को उजागर करते हैं या कहें, उसकी उन क्रियाओं से है जो अर्थवान (अर्थक्रियाएँ) हैं।

सामान्यतः धर्मशास्त्रों में धर्म के दो कार्य बताए गए हैं। *वैशेषिकसूत्र* में स्पष्टतः लिखा है कि धर्म इस जीवन में, अभ्युदय और भावी जीवन में, निःश्रेयस की सिद्धि कराता है।[१६]

इस प्रकार लोक दृष्टि से धर्म आदर्श जीवन जीना सिखाता है। ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा। जिसके द्वारा लोक का धारण हो और जो लोक का धारण करता हो। कोई कर्म, वचन या विचार धर्म सीमा में तब आता है जब वह लोकधारक बनता है। लोक-अहित करने वाला कोई भी आचरण अधार्मिक कहलाएगा। धर्म से ही लोक चलता है। अधर्म से लोक का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। धर्म, वह कर्तव्य है जो लोक के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए व्यक्ति के लिए करणीय बन जाता है। धर्म रक्षणीय है और रक्षित होकर लोक की रक्षा करता है (धर्मो रक्षति रक्षितः) अतः वह पालनीय है। इसके बिना मानव-जीवन की सार्थकता ही संदिग्ध हो जाती है। जीवन तो वही सार्थक है जो सोद्देश्य हो और जिसका परिपालन मूल्यों द्वारा होता हो। धर्म वह नियामक मूल्य है जो अर्थ और काम दोनों को ही मर्यादित कर, उन्हें सेवन योग्य बनाता है। बिना धर्म के हस्तक्षेप के अर्थ और काम अपनी मूल्यवत्ता खो देते हैं। मनुष्य का इस जीवन में अभ्युदय तभी हो सकता है जब वह अर्थ और काम को धर्मानुसार बनाकर उनका सेवन करे। अर्थ और काम के सेवन में, बिना धर्म के प्रवेश के, व्यक्ति या समाज का अभ्युदय संभव ही नहीं है।

धर्म न केवल अभ्युदय बल्कि निःश्रेयस (पुरुष का परमशुभ/मोक्ष) भी साधता है। वह पुरुष को जहाँ इस लोक में अभ्युदय की ओर अग्रसर करता है वहीं वह उसके अंतिम लक्ष्य, मोक्ष, की ओर भी उसे ले जाता है।

धर्म की दिशा सदैव ऊर्ध्वगामी है। लोकदृष्टि से धर्म अभ्युदय की ओर, और पारलौकिक दृष्टि से वह निःश्रेयस की ओर अग्रसर करता है। मूल्यों (प्रयोजनों) के परिप्रेक्ष्य में उत्तरोत्तर ऊपर की ओर प्रेरित करना ही धर्म का स्वभाव है। धर्म-अर्थ और काम दोनों को मर्यादित/नियमित कर मोक्ष की ओर अग्रसर करता है और इस प्रकार एक ऊर्ध्वगामी प्रेरक की भूमिका निभाता है। अतः धर्म समस्त मानव-व्यवहार की वह ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति (NISUS) है जो पुरुष को मोक्ष की ओर प्रवृत्त करती है।

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' सूत्र में यही बात कही गई है कि वेदानुसार धर्म का लक्षण अर्थ में (मूल्यों की ओर) प्रेरित करता है। धर्म पुरुष को अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर प्रेरित करता है। उसका स्वभाव प्रेरणास्वरूप है, निर्देशात्मक है। धर्म प्रेरणा के बिना पुरुष का लोक में न तो अभ्युदय हो सकता है और न ही वह पारलौकिक मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

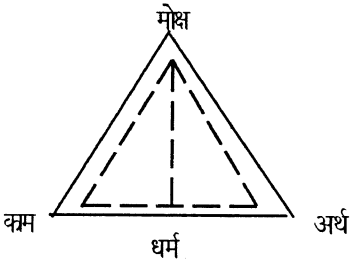

-----बिंदुओं द्वारा अंकित रेखा धर्म के प्रेरक-लक्षण (NISUS) की ओर संकेत करती है।

धर्म-अभ्युदय (लोक कल्याण) और निःश्रेयस (मोक्ष) दोनों की ही सिद्धि में सहायक है। परंपरागत रूप से धर्म और मोक्ष में कोई अंतर नहीं किया गया है। यदि हम अंतिम परिणाम (साध्य) की दृष्टि से सोचे तो मोक्ष को धर्म से अलग रखा जा सकता है। लेकिन जब हम साधन या माध्यम की दृष्टि से विचार करते हैं तो दोनों में कोई अंतर नहीं रहता धर्म अपने अंतिम परिणाम के रूप में मोक्ष का ही माध्यम है। अतः हम कह सकते हैं धर्म से लोक कल्याण (अभ्युदय) भी प्राप्त किया जा सकता है और वह परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का भी साधन है। फिर भी यह आवश्यक नहीं कि धर्म इन दोनों प्रयोजनों की उपलब्धि समान मात्रा में संभव बनाए। बस इतना भर ही कहा जा सकता है कि दोनों प्रयोजनों को वह कुछ इस प्रकार संभव बनाता है कि दोनों एक दूसरे के लिए घातक नहीं होते।[७७]

जहाँ तक अभ्युदय का प्रयोजन है, इसके संदर्भ में धर्म से आशय नैतिक मूल्यों से है और नैतिक जीवन का लक्ष्य अंततः पूर्णता (मोक्ष) प्राप्त करना है। लेकिन इस लक्ष्य तक केवल नैतिक बने रहने से ही नहीं पहुँचा जा सकता। नैतिक अनुभव का स्तर और नैतिकता से परे जो अनुभव का स्तर है उसमें अंतर करना आवश्यक है। नैतिक मूल्यों को हिन्दू आचार-शास्त्र में परम महत्त्व नहीं दिया गया है। आध्यात्मिक मूल्य नैतिक मूल्यों से उच्चतर माने गए हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए अंततः धर्मातीत हो जाना या धर्म का अतिक्रमण कर जाना आवश्यक बताया गया है। नैतिक मूल्य तो व्यक्ति पर समाज द्वारा देश, काल, परिस्थिति और युग के अनुरूप आरोपित किए जाते हैं। व्यक्ति का सर्वोच्च मूल्य तो आत्मसिद्धि ही है। *याज्ञवल्क्यस्मृति* (१/८) में कहा गया है योग के माध्यम से आत्मदर्शन ही सर्वोच्च धर्म है। अतः सर्वोच्च धर्म (मोक्ष/आत्मसिद्धि) के लिए धर्म (नैतिक मूल्यों) का अतिक्रमण करना आवश्यक है। धर्म, का अतिक्रमण ही सर्वोच्च धर्म है।[७८]

धर्म साध्य या साधन

हिन्दू दर्शन में धर्म से संबंधित एक विवाद यह है कि धर्म साधन-मूल्य है या साध्य-मूल्य है। मोटे तौर पर भारतीय-दर्शन में धर्म को एक साधन-मूल्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है। वह, इसमें संदेह नहीं, अनेक अर्थों में-मोक्ष को छोड़कर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है लेकिन अंततः धर्म को एक स्वतः मूल्य मानना, अर्थात्, धर्म का धर्म के लिए ही पालन किया जाना भारतीय मूल्य-समीक्षा को मंजूर नहीं है। इसका एकमात्र अपवाद हमें मीमांसा दर्शन के प्रभाकर संप्रदाय में मिलता है।

जैसा कि हम बता चुके हैं कि धर्म से आशय नैतिक-योग्यता या क्षमता से है। दान, दया और सत्य आचारण धर्म की ओर ले जाते हैं। धर्म का यह सामान्य अर्थ है। लेकिन कभी-कभी अपने व्यापक अर्थ में वैदिक कर्मकाण्ड और कुछेक धार्मिक कर्तव्य भी धर्म में जुड़ जाते हैं। लेकिन ऐसे कर्तव्यों और कर्मकाण्डों को निभाने के लिए भी पहले व्यक्ति को नैतिक तो होना ही पड़ता है। वे जो आचारहीन हैं उन्हें वेद पवित्र नहीं करता- 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'। धर्म का इस प्रकार सार सद्गुणों में है। पाश्चात्य नीतिशास्त्र में जिसे शुभ कहा गया है, सामान्यतः धर्म यही शुभ है।

नैतिक शुभ एक ओर तो व्यक्ति की स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर उन्हें परिष्कृत करता है क्योंकि वे अधिकतर स्वार्थी होती हैं और दूसरी ओर व्यक्ति को योग्यतानुसार सामाजिक कल्याण की ओर ले जाता है। धर्म की भी यही विशेषताएँ हैं। यह भी प्राथमिक रूप से नैतिक गुणों का विकास करता है जिसमें काफी कुछ आत्मसंयम आवश्यक है और दूसरे वर्णाश्रम धर्मों के पालन के लिए बाध्य करता है जो इसका सामाजिक लक्ष्य है। सामान्य धर्म और वर्णाश्रम धर्म दोनों ही इस प्रकार नित्यकर्म कहे जा सकते हैं।

लेकिन धर्म केवल नित्यकर्म ही नहीं है। काम्यकर्म-अर्थात्, वे कर्म जो व्यक्ति के अपने पद पर ऐश्वर्य से जुड़े होते हैं- भी धर्म कहे गए हैं। इन कर्मों से व्यक्ति या तो इस लोक में या परलोक में किसी लाभ को प्राप्त करना चाहता है। परन्तु काम्यकर्म आत्मसंयम (सामान्य धर्म) और समाज सेवा (वर्णाश्रम धर्म) के विरोधी नहीं होने चाहिए।

धर्म की यह धारणा जो उसे किन्ही लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए माध्यम बनाती है- स्पष्ट ही धर्म को एक साधन-मूल्य के रूप में प्रस्तुत करती है। धर्म इसके अनुसार या तो आत्मसंयम या फिर समाज सेवा और या वैयक्तिक लाभ के लिए एक माध्यम है मीमांसा दर्शन में कुमारिल संप्रदाय ने धर्म को इसी रूप में प्रस्तुत किया है। धर्म चाहे बंधनकारी

हो या न हो वह सदैव एक साधन मूल्य है, साध्य नहीं है।[२८]

महाभारत में भी धर्म को साधन-मूल्य के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है और कहा गया है कि धर्म से ही अर्थ और काम उत्पन्न होते हैं।[२०] यही बात *रामायण* में भी कही गई है। वहाँ बताया गया है धर्म से अर्थ और सुख उपलब्ध होता है।[२१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल्यों की त्रिवर्ग व्यवस्था में भी धर्म एक नियामक मूल्य है और नियामक होने के नाते उसे वह सामग्री भी चाहिए जिसे नियमित/मर्यादित किया जा सके। अतः धर्म के साधन-मूल्य रूप को झुठलाया नहीं जा सकता।

पुरुषार्थ चतुष्टय में भी धर्म अंततः एक साधन-मूल्य ही है। वह जहाँ एक ओर अभ्युदय प्राप्त कराने का माध्यम है वहीं दूसरी ओर 'निःश्रेयस' की उपलब्धि में भी सहायक है- यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।

बेशक 'धर्म' मोटे तौर पर एक साधन-मूल्य के रूप में ही भारतीय दर्शन में स्वीकार किया गया है किन्तु इसका एक मात्र अपवाद मीमांसा का प्रभाकर संप्रदाय है जिसने धर्म को केवल साधन-मूल्य मानने में विशेष आपत्ति की है। उसके अनुसार धर्म का सेवन धर्म के लिए ही होना चाहिए- किसी इस या उस साध्य की प्राप्ति के लिए नहीं। धर्म का सेवन जब किसी लक्ष्य प्राप्ति हेतु किया जाता है तो वह अपने सर्वोच्च पद से च्युत हो जाता है। धर्म से निःसंदेह मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। उसे अस्वीकार नहीं किया गया है। लेकिन धर्म किसी अन्य साध्य तक पहुँचाने का माध्यम मात्र भी नहीं है। वह स्वयं साध्य है। एक स्वतः मूल्य है। वह किसी फल प्राप्ति के लिए नहीं होता। वस्तुतः धर्म में से फलेच्छा का पूरी तरह त्याग होना चाहिए और धर्म को धर्म के लिए ही पालन किया जाना चाहिए। धर्म इस दृष्टिकोण से मूलतः एक साध्य-मूल्य हो जाता है। साधन-मूल्य का दृष्टिकोण यहाँ पूरी तरह अस्वीकृत कर दिया गया है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार धर्म को, यदि आप चाहें तो एक साधन-मूल्य के रूप में बने रहने दे सकते हैं किन्तु उसके पालन में उसके स्वतः मूल्य के रूप में रूपान्तरण आवश्यक है ताकि व्यक्ति अपने कर्म में कर्मफल की ओर से मानसिक रूप से पूरी तरह विरक्त हो सके और अपना ध्यान केवल कर्तव्य में ही एकाग्र कर सके।

कभी-कभी गीता के दर्शन में भी ऐसा कहा जाता है कि धर्म एक साध्य-मूल्य है क्योंकि गीता के अनुसार मुनष्य को केवल अपना कर्म ही करना चाहिए और कर्म- फल को अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। गीता निष्काम कर्म का उपदेश देती है और निष्काम

कर्म का अर्थ यही है मनुष्य अपना निर्धारित कर्म अर्थात्, धर्म करे, और फल की इच्छा न करे। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि गीता में निष्काम कर्म का आदेश अवश्य है किन्तु निष्काम कर्म को कभी भी मनुष्य का आदर्श नहीं माना गया। यहाँ निष्काम कर्म का अपना प्रयोजन है और वह है ब्रह्मानुभूति (गीता, २/७२)। पुनः गीता में भी मोक्ष को ही अंतिम स्थिति माना गया है और यह भी कहा गया है कि जो निष्काम कर्म करता है वही शांति को प्राप्त करता है- शान्तिमधिगच्छति (गीता, २/७१)। पुनः निष्काम कर्म में जहाँ स्वार्थ दृष्टि का पूरी तरह अभाव है वहीं लोक-कल्याण की दृष्टि को उसमें सुरक्षित रखा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता में भी अंततः धर्म को (निष्काम कर्म को) एक साधन मूल्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है भले ही फलेच्छा का त्याग उसमें निहित हो।

यह वस्तुतः एक कठिन स्थिति है। एक ओर समस्त कर्म फल के त्याग पर बल है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म का पालन किसी उद्देश्य के लिए नहीं होना चाहिए और दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि धर्म के सेवन से ही शांति, ब्रह्मानुभूति, प्राप्त होती है और इस प्रकार धर्म वह साधन बन जाता है जिससे मनुष्य अपने परम पुरुषार्थ को प्राप्त करता है। इस तरह हम पाते हैं कि गीता में धर्म साधन और साध्य-मूल्य दोनों ही हैं और इसमें कोई विरोधाभास भी नहीं है।

धर्म को केवल धर्म की तरह पालन करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि धर्म ऐसे में पूरी तरह अमूर्त हो जाता है और जब इस प्रकार कर्तव्य अपने उद्देश्य से पूरी तरह कट जाता है तो कर्तव्य कर पाना मनोवैज्ञानिक रूप से लगभाग असंभव हो जाता है और समस्त जीवन, जैसा कि शंकराचार्य ने कहा है, एक 'निरर्थक परिश्रम' मात्र रह जाता है।

इन्हीं सब कठिनाइयों को देखते हुए वेदान्त में धर्म की पुनर्व्याख्या की गई और इस बार धर्म को मोक्ष का साधक बताया गया। इस बार समस्त कर्मों को, उनके प्रेरकों से रिक्त नहीं होने दिया गया बल्कि कर्तव्य के विभिन्न प्रयोजनों के स्थान पर केवल एक ही उद्देश्य की उपलब्धि से उन्हें प्रेरित माना गया और वह है, मोक्ष की प्राप्ति। धर्म ने एक बार फिर से अपनी 'साधन-मूल्य' की भूमिका निभाना आरंभ कर दिया किन्तु इस बार वह भौतिक प्रयोजनों का साधक नहीं बना बल्कि एक परम आध्यात्मिक आदर्श (मोक्ष) का साधक बन गया ।

अर्थ का तात्पर्य और उसका धर्म से संबंध

पुरुषार्थ व्यवस्था में 'अर्थ' दूसरा पुरुषार्थ है। इससे तात्पर्य आर्थिक मूल्यों से है। हिंदी-संस्कृत शब्दावली में 'अर्थ' एक बहुआयामी शब्द है किसी भी कोष के अनुसार इसके अनेक मतलब हैं। इनमें से कम से कम पाँच अर्थों में अंतर करना आवश्यक है। १. अभिधेय (शब्दार्थ) २. धन ३. वस्तु ४. प्रयोजन और ५. निवृत्ति।

पुरुषार्थ व्यवस्था में 'अर्थ' से आशय उपरोक्त अर्थों में से केवल धन और वस्तुओं से है। संपत्ति, भौतिक लाभ और सांसारिक उन्नति अर्थ के ही रूप हैं जिन्हें श्रम, व्यापार, व्यवसाय आदि के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन, वितरण और उपभोग की आर्थिक क्रियाएँ 'अर्थ' की धारणा में निहित हैं। वस्तुएँ और धन बहुत कुछ आज जिसे हम अर्थशास्त्र की भाषा में 'गुड्स' और 'वैल्थ' कहते हैं, के अनुरूप हैं।

अर्थ मनुष्य के जैविक और आर्थिक मूल्यों की ओर संकेत करता है। इसका उद्देश्य धनोपार्जन, सफलता और राजनैतिक आर्थिक शक्ति प्राप्त करना है। *कामसूत्र* के अनुसार भूमि, हिरण्य (सोना), पशु, धान्य और भाण्डोपस्कर आदि का अर्जन अर्थ है। यहाँ तक कि विद्यार्जन ओर मित्र-लाभ को भी अर्थ ही माना गया है। स्पष्ट ही मित्रों और विद्या को जब किसी भौतिक लाभ के लिए इस्तेमाल किया जाता है तो वे भी 'अर्थ' की कोटि में ही आते हैं।[२२]

कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह शास्त्र भौतिक संपदा (पृथ्वी) के अर्जन और संपोषण का शास्त्र है।[२३] इसमें निहितार्थ यह है कि आर्थिक मूल्य को न केवल प्राप्त किया जाना चाहिए बल्कि विश्व और मनुष्य के संपोषण के लिए उसका उपयोग भी किया जाना चाहिए।

पुरुषार्थ मूल्य-व्यवस्था में 'अर्थ' दूसरा मूल्य है। जिस तरह 'धर्म' प्रथम ही नहीं, प्राथमिक मूल्य है, 'अर्थ' दूसरा ही नहीं, बल्कि एक गौण मूल्य भी है। 'अर्थ' से आशय आर्थिक मूल्यों से है और आर्थिक मूल्य अपने आप में मूल्यवान नहीं होते। वे स्वतः मूल्य न होकर परतः मूल्य हैं। सामान्यतः अर्थ का अर्जन मनुष्य अर्थार्जन के लिए ही नहीं करता। ऐसा करना स्पष्ट ही एक विकृत मानसिकता होगी। अर्थार्जन मूलतः अपने सुख के लिए, अपनी कामनाओं की संतुष्टि के लिए किया जाता है। इसीलिए अर्थ को स्वतः मूल्य न मानकर परतः मूल्य माना गया है।

पुरुषार्थ व्यवस्था में 'धर्म' और 'अर्थ' दोनों ही साधन मूल्य हैं। 'धर्म' अभ्युदय और

निःश्रेयस दोनों का ही साधन है और इसका सेवन निश्चय ही व्यक्ति को अपने प्रयोजन अर्थात्, अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर ले जाता है। परंतु जब हम 'अर्थ' को परतः या साधन-मूल्य कहते हैं तो इसका अर्थ केवल इतना ही है कि यह मूल्य व्यक्ति को सुख प्राप्त कराने में और उसकी कामनाओं की संतुष्टि में सहायक है। यह मानवीय उच्चतर प्रयोजनों की उपलब्धि का माध्यम नहीं है। 'अर्थ' का प्रयोजनात्मक संदर्भ केवल मानव जीवन की इच्छाओं और उनकी परिपूर्ति है। धर्म की तरह उसका संदर्भ अभ्युदय या निःश्रेयस से नहीं है। बल्कि, उल्टे ही, 'अर्थ' उच्चतर प्रयोजनों के लिए माध्यम रूप में अनर्थ साबित होता है। ऐसा तब होता है जब अर्थ स्वेच्छाचारी हो जाए और उस पर से सभी बंधनकारी नियम, जो उसे धर्म प्रदान करता है, हटा लिए जाएँ। इस प्रकार हम पाते हैं कि अर्थ (धनार्जन) को अर्थ (मूल्य) की कोटि में लाने का श्रेय धर्म को ही है क्योंकि वही उसे नियमित और निर्धारित करता है। धर्म के प्रवेश के बिना आर्थिक मूल्य विमूल्य हो जाते हैं। अर्थ, अनर्थ हो जाता है। यह ठीक है कि धार्मिक नियमों को लागू करने के लिए आर्थिक उपलब्धियाँ एक अनिवार्यता है किंतु बिना अर्थ के धर्म अपनी मूल्यवत्ता खो नहीं देता। लेकिन बिना धर्म के अर्थ को मूल्य रहित होने में कोई समय नहीं लगता। अर्थ को धर्म से संयुक्त करके ही मूल्यवान बनाया जा सकता है। अर्थ के (वस्तुओं और धन के) अर्जन (उत्पादन), वितरण और उपभोग आदि के लिए एक धर्मानुकूल सामाजिक और कानूनी व्यवस्था आवश्यक होती है।

भारतीय चिंतको ने सदा से ही इस बात को माना है कि यदि एक अच्छे उद्देश्य के लिए भी हम बुरे साधनों को अपनाते हैं तो साध्य भी उस हद तक दूषित हो जाता है। अतः अर्थोपलब्धि के लिए भी अनैतिक साधनों का उपयोग वर्जित किया गया है। अर्थोपार्जन के संदर्भ में धर्म (या नैतिक मूल्यों) का अर्थ है कि (१) धनार्जन केवल व्यक्तिगत इच्छाओं की संतुष्टि के लिए ही न किया जाए। उसकी भागीदारी दूसरों के साथ भी हो। इसलिए 'दान' पर इतना महत्त्व दिया गया है।[२४] (२) केवल उतना ही धनोपार्जन किया जाए जितना आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक हो।[२५]

साधन-मूल्य होने के बावजूद भी, धर्म का सेवन साध्य के रूप में किया जा सकता है और इस प्रकार धर्म को एक स्वतः मूल्य समझा जा सकता है क्योंकि वह अनिवार्यतः और सुनिश्चित रूप से अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर ले जाने वाला है । धर्म जिसे हम साधन के रूप में अपनाते हैं, वह अंततोगत्वा स्वयं साध्य है, ऐसा मानने वाले अनेक दार्शनिक हैं। इसीलिए निष्काम होकर कर्तव्य-पालन (धर्म) के लिए हिंदू आचारशास्त्र में

बल दिया गया है। लेकिन इसके विपरीत अर्थ को कभी साध्य नहीं बनाया जा सकता। अर्थ को साध्य-मूल्य (स्वतः मूल्य आंतरिक मूल्य) की तरह स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ और खतरे हैं। एक तो यदि अर्थ को साध्य ही मान लिया जाए तो उसकी उपलब्धि के लिए व्यक्ति कैसे भी, उचित या अनुचित साधनों का उपयोग कर सकता है और दूसरे उसके उचित उपयोग पर भी कोई आग्रह नहीं रहता। संक्षेप में धर्म साध्य हो सकता है किन्तु अर्थ नहीं, अतः वह पूर्णतः एक साधन-मूल्य है।

पुनः धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त होता है किंतु अर्थ केवल आवश्यकताओं की संतुष्टि का माध्यम है। कामनाओं की संतुष्टि के अनेक माध्यम हो सकते हैं। ऐसे परतः मूल्यों में ऐसी कोई सुनिश्चितता नहीं है कि वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति करवा ही देंगे कि जिसके लिए उन्हें अपनाया गया हैं पुनः एक साधन जो एक बार अपने प्रयोजन की प्राप्ति कराता है, आवश्यक नहीं कि वह दोबारा भी उसकी प्राप्ति करा सके। इसके अतिरिक्त जो माध्यम एक व्यक्ति के लिए उपयुक्त होता है, वह आवश्यक नहीं कि दूसरे व्यक्ति के लिए भी उपयुक्त हो, या उसी व्यक्ति के लिए किसी अन्य समय में उपयुक्त हो। इतना ही नहीं, यदि वह साधन के रूप में सफल भी हो जाता है तो भी उससे प्राप्त संतुष्टि एक अंतरिम संतुष्टि ही होती है और देर-सबेर एक दूसरी कामना को जन्म दे देती है जिसकी सन्तुष्टि के लिए किसी दूसरे माध्यम की आवश्यकता पड़ती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकतर परतः मूल्य अनैकांतिक होते हैं तथा स्वतः मूल्य अनात्यंतिक। वस्तुतः जीवन की एक विडम्बना है कि हमें बार-बार यह प्रश्न पूछना पड़ता है क्या कुछ ऐसे भी मूल्य हैं जो इन दोषों से रहित हों? भारतीय मूल्य-मीमांसा का उत्तर इस संबंध में स्पष्ट है। उसके अनुसार ऐसे दो ही मूल्य हैं-धर्म और मोक्ष।[२६]

अतः धर्म को केवल साधन-मूल्य होने के नाते अर्थ की कोटि में नहीं रखा जा सकता। अर्थ अपनी सीमाओं और अनिश्चितता के कारण धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक कमतर मूल्य है।

अर्थ की मूल्यवत्ता का प्रश्न

अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में काणे ने ठीक ही कहा है कि अर्थार्जन की वृत्ति मनुष्य में एक प्राकृतिक वृत्ति है और इसके लिए किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। यह एक ऐसी मूलप्रवृत्ति है जो मनुष्य में जन्मजात है, इसके लिए यह उपदेश देना कि इसके अनुरूप आचरण किया जाना चाहिए, व्यर्थ है।[२७] प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति

के लिए साधनों (अर्थ) की आवश्यकता होती है और वह उन्हें जुटाता ही है। अर्थ की इच्छा मनुष्य के स्वभाव में है। क्या इसे 'मूल्य' समझा जा सकता है? काम और अर्थ की प्राकृतिक वृत्तियाँ मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से देखी जा सकती हैं। अंतर केवल इतना ही है पशुओं में जहाँ ये अचेतन रूप से कार्य करती हैं, मनुष्य उनके प्रति अवगत होता है। किंतु अपनी किसी भी वृत्ति (कामना/इच्छा) के प्रति अवगत होना ही उसे मूल्य नहीं बनाता।

मूल्य की कोटि में आने के लिए इच्छा के प्रति अवगत होने के अतिरिक्त उसमें एक कर्तव्यता (चाहिए) का तत्त्व भी आवश्यक है। अर्थ में जब तक इस 'कर्तव्यता' का समावेश नहीं होता, वह मूल्यवान नहीं बन सकता। और अर्थ स्पष्ट ही कर्तव्य तब बनता है कि जब वह मर्यादित हो और नियमबद्ध हो। अमर्यादित और अनियमित अर्थ-साधना, अर्थ को निरर्थ कर देती है। अतः अर्थ को जब भारतीय चितंन में मूल्य माना गया है तो अर्थ की स्वाभाविक इच्छा को मूल्य न मानकर, उस अर्थ को मूल्य माना गया है जो धर्म से नियमित और निर्धारित है। अर्थ जो धर्म का उपघातक है, कभी मूल्यवान नहीं हो सकता। अर्थार्जन मूल्यवान वही है जिसे उचित ढंग से अर्जित किया जाए और उसका उचित ढंग से उपभोग भी किया जाए। उसका धर्मानुकूल (नियमानुसार) अर्जन हो और उसका केवल स्वार्थ के लिए ही उपभोग न हो बल्कि वह दान भी दिया जाए। अर्थ को यदि मानव कल्याण के लिए साधन नहीं बनाया जाता तो वह शुभ न होकर अशुभ हो सकता है और ऐसे में आर्थिक शक्ति का संग्रह नैतिक रूप से ग़लत होगा। यदि अर्थार्जन और अर्थ-संग्रह से मनुष्य का नैतिक पतन होता है तो स्पष्ट ही अर्थ मूल्यवान नहीं रहता। अर्थ को धर्म से संयुक्त करके ही उसे मूल्यवान बनाया जा सकता है।

किंतु ऐसा सोचना कि अर्थ अपने आप में ही विमूल्य है, ग़लत होगा। अर्थ का एक जैविक प्रयोजन है। यह मनुष्य की अपनी उत्तरजीविता के लिए आवश्यक है। यह मानवी जिजीविषा से उत्पन्न है जो स्वास्थ्य और कार्यकुशलता तथा मनुष्य के भौतिक और मनोवैज्ञानिक अस्तित्व की सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए हिंदू आचारशास्त्र में व्यक्ति के समग्र विकास में आर्थिक उन्नति को कभी व्यवधान के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि उसके अभाव को एक बाधा ही माना गया। अर्थ, भले ही एक परतः मूल्य क्यों न रहा हो, उसकी अवहेलना असंभव है। *महाभारत* में तो स्पष्ट कहा गया है कि भौतिक दरिद्रता एक बुराई और पाप की अवस्था है।[२८] मनुष्य के सभी अपने सद्गुण तभी चरितार्थ हो पाते हैं जब उसके पास धन होता है। धर्म, सुख, साहस, ज्ञान और गौरव धन से ही निसृत

हैं।[२९] जिस तरह पहाड़ से नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार धन से सद्गुण निसृत होते हैं।[३०] कौटिल्य ने तो यहाँ तक कहा है कि जब तक मनुष्य अर्थलाभ कर, अपने समाज और परिवार के उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं करता, उसे संन्यास नहीं लेना चाहिए और ऐसा न करने वाले को राज्य द्वारा दंड मिलना चाहिए। यदि तपस्वी साधु आर्थिक क्रियाओं में बाधक होते हैं तो उन्हें नगर में आने से रोकना चाहिए।[३१] तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी और अपने परिवार की मूल आवश्यकताओं (जैविक-आवश्यकताओं) की संतुष्टि के लिए धनोपार्जन आवश्यक है। यह धनोपार्जन उसे स्वयं अपने परिश्रम से और धर्मानुसार ही करना है।

हिंदू मूल्य-व्यवस्था में, इस प्रकार धन और सम्पत्ति के लिए एक विवेक-सम्मत प्रशंसा का भाव है। अर्थ को यहाँ उपयोगी न मानकर एक साधन-मूल्य माना गया है। और इस साधन से न केवल शारीरिक और भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त की जा सकती हैं बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी यह आवश्यक तत्त्व है। मानव जीवन की यदि सामान्य आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती तो वह धार्मिक उपलब्धि भी प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि अर्थ द्वारा ही धर्मार्जन और धर्म द्वारा ही आर्थिक उपलब्धि संभव है। दोनों ही एक दूसरे को साधते हैं। सद्गुण धन के बिना व्यवहार में नहीं लाए जा सकते। *महाभारत* में कहा गया है कि बिना लाभ या धन के न तो सद्गुणों को और न ही इच्छाओं की जीता जा सकता है।[३२] धर्म बेशक एक उच्चतर मूल्य हो सकता है। लेकिन वह अपने से निम्नतर मूल्य, अर्थ की मूल्यवत्ता को खंडित नहीं कर सकता। धर्म और अर्थ में एक समन्वय की आवश्यकता है जो किसी भी मूल्यावस्था के लिए आवश्यक है।

जैसा कि हम बता चुके हैं, अर्थ का मूल प्रयोजन जैविक है। यह मनुष्य की उत्तरजीविता और जाति संरक्षण के लिए आवश्यक है। यह मानों वह भूमि (आधारभूत साधन) है जिस पर मनुष्य रूपी पौधा उगता और विकसित होता है। मनुष्य की सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक आदि सभी वृत्तियाँ अर्थ पर ही आधारित हैं। इनका अर्थ से स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं होता। अर्थ की इसी व्यापक उपादेयता को देखकर कुछ विचारक स्वयं मनुष्य को ही एक आर्थिक प्राणी के रूप में प्रस्तुत करने लग जाते हैं और मनुष्य को केवल उसकी आर्थिक आवश्यकताओं द्वारा परिभाषित करना आरंभ कर देते हैं। परंतु मनुष्य केवल आर्थिक क्रिया-कलापों का एक समुच्चय मात्र नहीं है और न ही उसका उद्देश्य केवल अर्थार्जन हो सकता है, अर्थ सदैव केवल एक साधन-मूल्य के रूप में ही स्वीकृति

प्राप्त कर सका है। वह अपने आप में कभी साध्य नहीं हो सकता। इसमें संदेह नहीं कि धरती के बिना कोई पौधा नहीं उग सकता। लेकिन पौधे केवल धरती द्वारा ही विकसित नहीं होते। भले ही वे धरती में से ही क्यों न विकसित होते हों। एक बीज बोना पड़ता है, उसे वांछित अवस्थाएँ प्राप्त करानी होती हैं। मानव के अपने विकास के लिए, इसी तरह अर्थ केवल आधारभूत आवश्यकता हो सकती है लेकिन केवल अर्थ द्वारा हम संपूर्ण मानव विकास को व्याख्यायित नहीं कर सकते। जीवन के बिना अच्छा जीवन भी संभव नहीं है। लेकिन वे सारे मूल्य जो हमारे लिए मूल्यवान हैं, केवल जीवित बने रहने से ही व्याख्यायित नहीं हो जाते। अर्थ केवल जीवित बने रहने में सहायक हो सकता है लेकिन अच्छे जीवन के लिए अर्थ को धर्मानुसार मार्यादित होना पड़ता है।

हिंदू मूल्य-मीमांसा में, इस प्रकार, मनुष्य की उत्तरजीविता से लेकर उसकी आध्यात्मिकता तक कोई खाई नहीं है। इसीलिए अर्थ को यहाँ एक ओर, जहाँ धर्म से मर्यादित किया गया है वहीं, दूसरी ओर उसे महज रियायती तौर पर एक पुरुषार्थ नहीं माना गया है। उसके वास्तविक महत्त्व को समझकर ही उसे यह दर्जा दिया गया है।

अर्थ और अपरिग्रह

भारतीय मूल्य-मीमांसा में 'अपरिग्रह' (असंग्रह) को एक सद्गुण के रूप में ग्रहण किया गया है। योगदर्शन में पाँच यमों में से यह एक है। जिसे योगियों को अपनाना चाहिए। गीता में भी योगी को निराशीः (बिना किसी इच्छा के) और अपरिग्रही होना ज़रूरी बताया गया है। हिंदू दर्शन के अतिरिक्त जैन और बौद्ध आचारशास्त्रों में भी अपरिग्रह पर काफी बल दिया गया है।

यदि हिंदू धर्म में अपरिग्रह, एक ऐसा साधारण-धर्म है जिसे सभी को पालन करना है तो इसकी संगति 'अर्थ' पुरुषार्थ से कैसे बैठाई जाए-यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो जाता है क्योंकि अर्थ से तात्पर्य अंततः अर्थार्जन और अर्थसंग्रह से ही है। समस्या का समाधान हमें दो प्रकार से मिल सकता है। एक तो अर्थ की मर्यादा में और दूसरे अपरिग्रह के वास्तविक अर्थ में।

हिंदू मूल्यमीमांसा में अर्थ को अपने स्वाभाविक रूप में-एक प्राकृतिक प्रवृत्ति के रूप में-विकसित होने के लिए कभी समर्थन नहीं मिला। अर्थ को मूल्यवान तभी समझा गया कि जब वह धर्म द्वारा नियमित और मर्यादित हो। अनिर्धारित और अमर्यादित अर्थ आत्मघाती है। अर्थ की साधना यदि अर्थ को लक्ष्य मानकर ही की जाए तो वह अंततः अनर्थ सिद्ध

होती है। अर्थ, अधिक से अधिक एक साधन मूल्य है। वह साध्य कभी नहीं हो सकता। ऐसे में उसकी मूल्यवत्ता भी तभी तक है कि जब तक वह साधन के रूप में उपयोगी है। अतः अर्थ का असंयमित संग्रह वर्जित है। अर्थ-परिग्रह केवल उतना ही आवश्यक है कि जितना वह मनुष्य के भरण-पोषण के लिए जरूरी है। अधिक परिग्रह वस्तुतः चोरी ही है।[३३] क्योंकि हम अपनी आवश्यकता के अतिरिक्त जितना ही अधिक परिग्रह करते हैं वह वस्तुतः उतनी ही मात्रा में दूसरों को उनकी आवश्यकताओं की परिपूर्ति से वंचित करता है। अतः अर्थ का सीमित परिग्रह, जो केवल व्यक्ति की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, ही उचित माना गया है। अपरिग्रह का व्रत यह आदेश नहीं देता कि समस्त आर्थिक संसाधनों का त्याग कर दिया जाए बल्कि वह केवल उनके सीमित, अत्यंतावश्यक मात्रा में परिग्रह की स्वीकृति देता है। पुनः, परिग्रह से अर्थ पूर्ण त्याग से कभी नहीं रहा। अपरिग्रह भौतिक वृत्ति की अपेक्षा एक मानसिक वृत्ति अधिक है। *महाभारत* में स्पष्टतः कहा गया है कि मोक्ष धन के अपरिग्रह से नहीं होता और न ही बंधन का कारण धन का परिग्रह है। मुक्तिदायिनी ज्ञान से ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है फिर चाहे उसने धन का संचय किया हो या न किया हो।[३४] वस्तुतः धन होते हुए भी व्यक्ति अपरिग्रही हो सकता है और धनाभाव में व्यक्ति यदि धन के विषय में ही सोचता रहता है तो परिग्रही ही माना जाएगा। अतः हिंदू दर्शन में (१) अपरिग्रह से तात्पर्य भौतिक रूप से कभी पूर्ण-अपरिग्रह या पूर्ण त्याग से नहीं रहा और (२) इसका मुख्य आशय अपरिग्रह की मानसिक वृत्ति से है न कि भौतिक रूप से पूर्ण-अपरिग्रही होने से है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि पुरुषार्थ की हिंदू मूल्य-व्यवस्था के सभी मूल्य हिंदू आश्रम-व्यवस्था की अपेक्षा से समान रूप से मूल्यवान नहीं माने जा सकते। एक गृहस्थ के लिए वित्त या धन स्पष्ट ही मूल्यवान है। लेकिन वानप्रस्थ आश्रम में अर्थ के प्रति व्यक्ति उदासीन होता है, वह उसके लिए न तो मूल्यवान ही रहता है और न ही मूल्यहीन। किंतु संन्यास आश्रम में जब व्यक्ति संसार को ही छोड़ देता है अर्थ निश्चित ही उसके लिए यह विमूल्य हो जाता है।

संक्षेप में अपरिग्रह के सद्गुण और अर्थ पुरुषार्थ में एक संवाद स्थापित करना इतना कठिन नहीं है कि जितना वह प्रतीत होता है।

अर्थ निःसंदेह स्वतः मूल्य नहीं है, किंतु पुरुषार्थ व्यवस्था में उसका अपना स्थान है। मनुष्य आध्यात्मिक रूप से अपना विकास कर सके इसलिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह जीवित रह सके। व्यक्ति का शरीर उसके समस्त प्रयत्नों का अधिष्ठान है। अतः एक सीमा तक आर्थिक सुरक्षा अनिवार्य है। अर्थ से अभिप्राय है 'जीवन के भौतिक साधन'।

मनुष्य अधिकतम समय तक जीना चाहता है, स्वरक्षा चाहता है। स्वरक्षा के लिए साधनों को जुटाने में अर्थ की प्रमुख भूमिका रहती है। अर्थार्जन स्वरक्षा की दृष्टि से व्यक्ति को आश्वस्त करता है। उसके द्वारा वह आवास, वस्त्र, अन्न, अस्त्र-शस्त्र आदि विभिन्न उपकरण जुटाकर अपने जीवन को मृत्युपर्यन्त निरापद एवं सुखी बनाना चाहता है। इसीलिए धनार्जन की प्रवृत्ति मानव में इतनी गहरी चली गई है कि इसके लिए उचित-अनुचित तरीकों का उपयोग करने में वह हिचकिचाता नहीं, और यहीं धर्म उसकी सहायता करता है।

धर्म कहता है धनार्जन अपने आप में बुरा नहीं है। केवल उसके अर्जन आदि के तौर-तरीके उचित और धर्म-संगत होने चाहिए। धन अधिक बढ़ जाए तो उसका दान किया जाना चाहिए अन्यथा वह ले डूबता है। मनुष्य का अधिकार केवल उतने ही धन पर है जितने से उसकी भूख मिट जाए। अधिक संपत्ति का संग्रह दूसरे के हक पर डाका डालने के समान है।

भारतीय चिंतन में अर्थार्जन को पुरुषार्थ तो माना है, पर यह भी स्वीकार किया है कि वह धर्मानुकूल होना चाहिए। उसका अर्जन एवं वितरण धर्मानुकूल होने पर ही उसे पुरुषार्थ कहा जाएगा। किसी चोर-डाकू का धन अथवा किसी बेईमान या कंजूस की संपत्ति पुरुषार्थ-सीमा में नहीं आती। पुरुषार्थ द्वारा अर्जित संपत्ति यदि समाजोपयोगी बनती है तो उससे न तो दरिद्र में ईर्ष्या-द्वेष उपजता है (क्योंकि दान का विधान अपनाया जाता है) और न उसमें मिथ्याभिमान जागता है।

महर्षि व्यास ने कहा था-

मैं हाथ उठाकर और पुकार-पुकार कहता हूँ कि धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। फिर धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता? परंतु कोई मेरी बात नहीं सुनता।[३५]

व्यास के इस कथन में उनकी वास्तविक पीड़ा है। उनका तो स्पष्ट अभिमत है कि धर्म कभी भी अर्थ/काम की प्राप्ति में बाधक नहीं है, अपितु धर्माचरण से ही यह प्राप्ति संभव है। धर्माचरण बेशक अबाध प्राप्ति कर अंकुश लगाता है और नियमन करता है। इससे सामाजिक व्यवहार सुचारु रूप से संपन्न होने लगता है।[३६]

सन्दर्भ

१. तेषां समवाये पूर्व पर्वो गरीयान्।। *कामसूत्र* १/२/१४।। धर्म, अर्थ और काम के क्रम में पर से पूर्व श्रेष्ठ है। काम से अर्थ बड़ा है क्योंकि अर्थ से ही काम सिद्ध होता है, अर्थ से धर्म बड़ा है क्योंकि धर्म से ही अर्थार्जन संभव है।

२. देखें, आप्टे, *संस्कृत-हिंदी कोष*।

३. देखें, *बृहदारण्यक उप०*, १/४/१४

४. देखें, *याज्ञवल्क्यस्मृति* १/११२। *प्रशस्तपाद* (न्याय संप्रदाय) भी सामान्य धर्म के अंतर्गत अहिंसा, श्रद्धा, भूतहितत्त्व, सत्यवचन, अस्तेय और स्नान आदि सद्गुणों को गिनाता है। इसी प्रकर मनु ने भी साधारण धर्म के दस लक्षण गिनाए हैं- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, और अक्रोध।

५. देखें, *योगसूत्र*-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।२/३०।।

६. देखें, *तत्त्वार्थसूत्र*- ७/१

७. ये पंचशील क्रमशः इस प्रकार हैं- प्राणातिपात-विरति, अदत्तादान विरति, काम मिथ्याचार विरति, मृषावाद विरति तथा सुरा-मैरेय-प्रमाद स्थान विरति।

८. *महाभारत*- अनुशासन पर्व ११५/१

९. देखें, हिरियन्ना, एम०-*द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन*, मैसूर, १९५२, पृ० २५।

१०. धर्म की काम्य-कर्म के रूप में लगभग यही धारणा हमें *भगवद्गीता* (७/११) में भी मिलती है जहाँ कृष्ण कहते हैं- 'मैं प्राणियों में काम हूँ, जो धर्म विरुद्ध नहीं है।

११. *महाभारत*, शांतिपर्व- ७८/३२

१२. देखें, ताःतिनेन, अन्तु, *इण्डियन फिलासफ़ी ऑफ वैल्यू*, ऊपर उद्धरित, पृ० ७५।

१३. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्म मूलमिदं स्मृतम्।।१/७।।

१४. *मनुस्मृति*,
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।२/१२।।
इस चतुर्विध को साक्षात् धर्म का लक्षण कहते हैं ।
तथा-वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।२/६।।

१५. *महाभारत*, १३/६८/८१ मनुस्मृति भी देखें, १२/१९

१६. यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः । *वैशेषिकसूत्र,* १/१/२

१७. देखें, अन्तु, ताःतिनेन-*इण्डियन फिलॉसफी ऑफ़ वैल्यू*-ऊपर उद्धरित, पृ० ७२१

१८. देखें, वही, पृ० ७६।

१९. देखें, हिरियन्ना, एम०-*द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन,* ऊपर उद्धरित, पृ० २४, २५

२०. देखें, *महाभारत,* स्वर्गारोहणपर्व, ५/२६

२१. देखें, *रामायण,* ३/६/३०

२२. विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्यभाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जनमर्जितस्य विवर्धनमर्थः ।।
कामसूत्र ६।।

२३. कौटिल्य, *अर्थशास्त्र,* १

२४. देखें, *महाभारत,* १२-२५१-२२

२५. *भागवत* ७-१४-६

२६. एम. हिरियन्ना, *द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन,* ऊपर उद्धरित, पृ० २३

२७. अन्तु, ताःतिनेन द्वारा उद्धरित। देखें, *इण्डियन फिलासफी ऑफ वैल्यू,* ऊपर उद्धरित, पृ० ६५।।

२८. *महाभारत,* १२/८/१४ ।।

२९. वही, १२/८/२१ ।।

३०. वही, १२/८/२३ ।।

३१. *अर्थशास्त्र,* २/१ ।।

३२. *महाभारत,* १२/१६१/११

३३. देखें, *भागवत*- यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।। ७/१४/८ ।।

३४. *महाभारत,* शांतिपर्व, ३२५/४७ ।।

३५. *महाभारत*-
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्म्मादर्थश्च कामश्च स धर्म्मः किन्न सेव्यते ।।

३६. देखें, हामो, डॉ० कन्हैयालाल, 'पुरुषार्थ चतुष्टय' *विश्वज्योति* दिसम्बर-जनवरी, ६५ पृ० ३-५ ।

अध्याय-४

पुरुषार्थ-काम

मूल्यों की पुरुषार्थ-पद्धति में धर्म और अर्थ से तात्पर्य नैतिक और आर्थिक मूल्यों से है। इसी प्रकार काम से आशय मूलतः मनोवैज्ञानिक मूल्यों से है। इसके अंतर्गत संभोग का सुख, भोजन का सुख, सौंदर्यानुभव का सुख और कलाकृतियों की सुखानुभूतियाँ आदि सभी सम्मिलित हैं। आवश्यकताओं की संतुष्टि ही काम है। अपनी इच्छाओं और कामनाओं की परिपूर्ति के लिए व्यक्ति सजग होकर जो श्रम और प्रयत्न करता है, वही उसका काम पुरुषार्थ है।

काम का अर्थ

हिंदी और संस्कृत कोशों में काम के अनेक अर्थ दिए गए हैं। इनमें से कुछ प्रमुख, जो काम-पुरुषार्थ के निकट हैं, निम्नलिखित हैं-

१. वासना की पूर्ति के लिए मन में होने वाली चाह या इच्छा, अभिलाषा, कामना।
२. अभीष्ट पदार्थ।
३. अपने-अपने विषयों के भोग की ओर होने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति
४. भोग-संभोग से फलित सुख और अनुराग।
५. संभोग या स्त्री-प्रसंग की कामना, मैथुन या सहवास की इच्छा या प्रवृत्ति।
६. कामदेवता*

---

*हिंदू पौराणिकता के अनुसार काम ही कामदेव है। वही कृष्ण व रुक्मिणी का पुत्र है। उसकी पत्नी रति है। जिस समय देवताओं की तारक के विरुद्ध युद्ध करने के निमित्त अपनी सेनाओं के लिए सेनापति की आवश्यकता हुई तो उन्होंने कामदेव से सहायता माँगी। जिससे शिव का ध्यान पार्वती की ओर आकृष्ट हो। यही वह बात थी जो राक्षसों का काम-तमाम कर सकती थी। कामदेव ने इसका बीड़ा उठा लिया। परंतु शिव ने अपनी तपस्या में विघ्न से क्रुद्ध होकर अपने तृतीय नेत्र की अग्नि से काम को भस्म कर दिया। उसके पश्चात् रति की प्रार्थना पर शिव ने कामदेव को प्रद्युम्न के रूप में जन्म लेने की अनुमति दे दी। उसका घनिष्ट मित्र वसंत ऋतु और पुत्र अनिरुद्ध है। वह धनुर्बाण से सुसज्जित है। भ्रमरपंक्ति ही उसके धनुष की डोरी है और पाँच विविध पौधों के फूल ही उसके बाण हैं।

-देखें, आप्टे, *संस्कृत-हिंदी कोश*, पृ० २६५.

काम के यदि उपर्युक्त अर्थों को हम ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि इनमें से पहले अर्थ में काम और कामनाओं में कोई अंतर नहीं है। मनुष्य की सभी कामनाएँ काम का ही रूप हैं। काम मनुष्य की चाह, इच्छा या अभिलाषा है। काम का यह एक सामान्य अर्थ है।

काम केवल इच्छा ही नहीं, इच्छा की वस्तु या विषय भी है। जब भी अभिलाषा होती है वह किसी न किसी विषय की प्राप्ति के लिए होती है। विषय संदर्भ के बिना इच्छा बेमाने है। इस अर्थ में काम को अभीष्ट पदार्थ कहा जा सकता है।

कामनाएँ इच्छा के रूप में अपने-अपने विषयों की ओर उन्मुख होने वाली इंद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। अतः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्व और घ्राणेन्द्रियों के अपने-अपने विषय में अनुकूल रूप से प्रवृत्त होने को काम कहते हैं।

जब इंद्रियाँ अनुकूल रूप से प्रवृत्त होने की बजाय प्रतिकूल रूप से प्रवृत्त होती हैं तो उसे काम न कहकर 'द्वेष' कहा गया है। अनुकूल रूप से प्रवृत्त होना सुखानुभूति प्रदान करता है। वैसे भी सुख-प्राप्ति अपने आप में एक इच्छा या अभीष्ट पदार्थ तो है ही। अतः सुख भी, विशेषकर इंद्रिय सुख, काम है। इंद्रिय सुख किसी भी इंद्रिय से संबंधित हो सकता है-श्रोत्र, चक्षु इत्यादि। संगीत सुख यदि श्रोत्र सुख है तो रूप सुख, चक्षु सुख है।

सेक्स संबंधी सुख मुख्यतः स्पर्श विशेष के विषयों से फलित होता है। यह सुख भी सर्वाधिक आनन्ददायक होने से काम कहलाता है। बल्कि अपने संकुचित अर्थ में काम से आशय 'सेक्स' से ही लगाया जाता है। वात्स्यायन ने भी प्रधानतः सेक्स या संभोग को ही काम माना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'काम' से मोटे तौर पर तीन अर्थ लगाए जा सकते हैं। प्रथमतः काम से आशय इच्छा या संकल्प से है। द्वितीयतः इससे तात्पर्य अभीष्ट पदार्थ से है और अंततः यह सुख की ओर संकेत करता है।

काम-इच्छा या संकल्प से रूप में

इच्छा या संकल्प के रूप में 'काम' किसी भी कर्म को संपन्न करने के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। काम के मूल में ही इच्छा या संकल्प है। *मनुस्मृति* का कहना है कि सभी काम, यहाँ तक कि व्रत, यम और धर्म तक, संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं।[1] काम रहित कोई भी कर्म संभव ही नहीं है। मनुष्य जो भी कर्म करता है काम द्वारा ही चेष्टित है।[2] अकामता कभी प्रशंसित नहीं होती।[3] *महाभारत* में भी लगभग यही भाव व्यक्त किया गया

है और कहा गया है कि बिना इच्छा के कोई भी व्यक्ति अर्थ की कामना नहीं कर सकता, इसी तरह बिना संकल्प के कोई धर्माचरण नहीं कर सकता। जो कामना रहित है वह इच्छा की अनुभूति नहीं कर सकता। इसीलिए धर्म, अर्थ और काम में काम प्रमुख है। काम के प्रभाव के अंतर्गत ही ऋषि तप करते हैं और फल, मूल और वायु पर जीवित रह पाते हैं। व्यापारी, खेतिहर, पशुपालक, कारीगर तथा कलाकार और वे सब जो शांति-अनुष्ठान, यज्ञादि संपन्न करते हैं इच्छा द्वारा ही अपने-अपने कार्य कर पाते हैं। अपनी अदम्य इच्छा से ही लोग समुद्र की गहराइयों में गोते लगाते हैं । इच्छा अनेक रूप ले सकती है। इच्छा सभी कर्मों में व्याप्त है। जिस तरह मक्खन का सार दही है उसी तरह अर्थ और धर्म का सार काम में है।[४] आशय यह है कि व्यक्ति को किसी भी कर्म के लिए प्रेरित करने वाला मुख्य प्रेरक 'काम' ही है। यदि मनुष्य में बलवती इच्छा या संकल्प न हो तो वह न तो सदाचार की ओर उन्मुख हो सकता है और न ही धर्म निभा सकता है। अर्थार्जन भी काम का ही परिणाम है। यहाँ तक कि यदि मनुष्य मोक्षार्थी होता है तो भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए संकल्प आवश्यक है। पूर्ण अकामता न केवल अप्रशस्त है, बल्कि असंभव भी है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। आधुनिक मनोविज्ञान भी विशेषकर हार्मिक मनोविज्ञान, जिसके प्रवर्तक मैक्डुगल हैं, मानवी जीवन को प्रयोजनमूलक (हार्मिक) मानते हैं। उनके अनुसार मनुष्य में कुछ ऐसी मूल प्रवृत्तियाँ या अंतर्नोद (ड्राइव्स) हैं जिनसे मनुष्य कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। बिना इन मूलप्रवृत्तियों (इस्टिंक्ट्स) के हम उसके जीवित रहने तक की कल्पना नहीं कर सकते। यह बात दूसरी है कि ये मूल प्रवृत्तियाँ यद्यपि मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से पाई जाती हैं ताकि जीव की भौतिक और जैविक आवश्यकता पूरी हो सके किंतु मनुष्य में इन मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन/परिवर्धन होता रहता है और संस्कृति के अनुरूप वे स्वयं को ढालती रहती हैं। परंतु सभी प्रवृत्तियों के मूल में इच्छा या संकल्पवृत्ति निहित होती है और वही कर्म को प्रेरित करती है।

काम इस प्रकार मनोवैज्ञानिक मूल्य है। आत्मनिष्ठ होने के सामान्य अर्थ में ही नहीं, बल्कि इस अर्थ में भी कि व्यक्ति की जो स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं उन्हें संतुष्ट करने के मूल में वह विद्यमान है। काम की उपस्थिति केवल मनुष्य में ही नहीं, बल्कि सभी संवेदनसमर्थ प्राणियों में समान रूप से देखी जा सकती है। अंतर केवल इतना ही है कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक वृत्तियों की परिपूर्ति सजग होकर सायास रूप से चाहता है जबकि अन्य प्राणी उनका अनुसरण मूलप्रवृत्त्यात्मक रूप से करते हैं। 'काम' मानव परिप्रेक्ष्य में एक पुरुषार्थ कहा गया है क्योंकि पुरुषार्थ या मानव मूल्य की विशेषता यह है कि वह उस प्रयोजन का

प्रतिनिधित्व करता है जिसका हम सचेत रूप से अन्वेषण/अनुसरण करते हैं। कभी-कभी बेशक मनुष्य भी अपने प्रयोजनों को सजग रूप से अपना लक्ष्य नहीं बना पाता। इसके अतिरिक्त, मनुष्य का एक पक्ष अन्य जीवों के समान है। उसकी कुछ आवश्यकताएँ निम्न पशुओं के समान होती हैं और इनकी 'कामता' उसमें भी प्राकृतिक होती है। वह भी पशुओं की तरह आत्मरक्षा और आत्मप्रजनन (या जाति संवर्धन) की ओर स्वाभाविक रूप से प्रेरित होता है। किन्तु मनुष्य केवल पशु ही नहीं है। पशुओं से अधिक समुन्नत जीव होने के नाते उसका एक पक्ष आध्यात्मिक भी है। जो उसे अपने प्रयोजनों/प्रवृत्तियों/इच्छाओं के प्रति सजग बनाता है और उनमें परिवर्तन/परिवर्धन करने के लिए प्रेरित करता है। मनुष्य के यही सजग प्रयोजन पुरुषार्थ कहे जाते हैं।[५]

अतः कहा जा सकता है कि इच्छा के रूप में 'काम' भी कम से कम आंशिक रूप से पुरुषार्थ की कोटि में आता है क्योंकि मानव संदर्भ में यह इच्छा सोची-समझी और एक सुनिश्चित इच्छा है। यह उसके स्वतंत्र संकल्प का एक परिणाम है। जिसका वरण वह जान-बूझकर करता है। सभी मूल्य 'वरेण्य' होते हैं। मूल्यों की यह एक विशिष्टता है कि उन्हें स्वतंत्र संकल्प द्वारा अपनाया जाता है। संकल्प इस प्रकार केवल मूल्य के रूप में काम का ही लक्षण नहीं है वह धर्म और अर्थ पुरुषार्थों में भी निहित है।[६]

काम-अभीष्ट पदार्थ या इष्ट के रूप में

काम के मूल में निश्चित ही संकल्प है और यही काम को पुरुषार्थ की कोटि में लाता है। लेकिन काम केवल संकल्प ही नहीं, संकल्पित वस्तु भी है। यह वह विषय है जिसको स्वेच्छा से प्राप्त करने का संकल्प लिया गया है।

इष्ट वह है जिसकी इच्छा की जाती है। इष्ट में इस प्रकार इच्छा और उसका विषय दोनों ही सम्मिलित हैं। काम केवल इच्छा या संकल्प ही नहीं 'अभीष्ट पदार्थ' भी है। यह संकल्पित इच्छा की वह वस्तु है जिसे सचेतन रूप से चाहा गया है।

काम का यह रूप मूल्य को इच्छा की वस्तु (इष्ट) के रूप में प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य दार्शनिक पैरी ने भी मूल्य को अभिरुचि का विषय माना है। उसके अनुसार वे सारे पदार्थ जिनमें जनसाधारण की अनुकूल अभिरुचि होती है, मूल्यवान या शुभ कहे जा सकते हैं। जो अभिरुचि का विषय है वही मूल्य-धारक भी है। यह ठीक इसी तरह है जैसे किसी चीज़ पर जब हम अपना तीर साधते हैं तो वह निशाना बन जाती है। दूसरे शब्दों में किसी

वस्तु का शुभ होना (मूल्यवान होना) उसमें हमारी इच्छा नहीं जगाता बल्कि किसी चीज में अनुकूल अभिरुचि लेना ही, उसे मूल्य प्रदान करता है। कोई भी विषय हमारी इच्छा, प्रयत्न या कामना का विषय इसलिए नहीं होता कि वह मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है, प्रत्युत वह मूल्य के रूप में स्वीकार इसलिए किया जाता है कि उसमें हमने अपनी इच्छा या प्रवृत्ति प्रकट की है।

तो क्या मनुष्य की अभिरुचि के सारे विषय मूल्य हैं? अथवा कहें, क्या सभी अभीष्ट पदार्थ मूल्य कहे जा सकते हैं? क्या ऐसा मानना नैतिकता को स्वीकार्य होगा? शायद नहीं।

पैरी के अनुसार, अभिरुचियों में संघर्ष स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में अभिरुचियों में सामंजस्य लाने का प्रयत्न होना चाहिए। अभिरुचियों के किसी संघर्ष को रोकना और यदि संघर्ष ने जन्म ही ले लिया है तो इसे समाप्त करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। अभिरुचियों (या कहें, मूल्यों) में उनके पारस्परिक और भावनात्मक सहयोग द्वारा सुसंगतता स्थापित करना आवश्यक है और यह समाज में वैचारिक सहमति द्वारा किया जा सकता है।[९]

पैरी ने अभिरुचि द्वारा सामान्य रूप से सभी मूल्यों को परिभाषित किया है। भारतीय त्रिवर्ग पद्धति में केवल काम(या मनोवैज्ञानिक मूल्यों को) अभीष्ट पदार्थों के रूप में परिभाषित किया गया माना जा सकता है न कि सभी मूल्यों को। लेकिन त्रिवर्ग पद्धति में स्पष्टतः सभी मूल्यों के ऐसे सेवन को ही मूल्यवान माना गया है कि जिसमें कोई भी मूल्य वर्ग एक दूसरे का घातक न हों। उनमें समन्वय और सामंजस्य रहे और पारस्परिक सहयोग और सुसंगतता बनी रहे।[१०] इस अर्थ में पैरी का मूल्य सिद्धान्त और भारतीय त्रिवर्ग-व्यवस्था में एक अद्‌भुत साम्य देखा जा सकता है किंतु इस साम्य को अधिक तूल देना असंगत होगा।

एक तो इसलिए कि, जैसा कि अभी बताया गया, पैरी अभिरुचि के प्रत्यय से सभी मूल्यों को सामान्य रूप से परिभाषित करता है जबकि भारतीय मूल्य-व्यवस्था में केवल 'काम' को (अर्थात्, मनोवैज्ञानिक मूल्यों को ही) अभीष्ट पदार्थों के रूप में देखा गया है। दूसरे भारतीय चिंतन में काम के सभी रूप (अभीष्ट पदार्थ/काम) मूल्य नहीं माने गए हैं। *मनुस्मृति* में वह काम जो फल की अभिलाषा से युक्त या प्रेरित होता है, प्रशंसनीय नहीं माना गया है। मनु केवल सम्यक् रूप से सम्पन्न किए गए काम की प्रशंसा करते हैं। काम मूल्यवान तभी होता है जब उसका सेवन उचित रूप से किया जाय। ऐसा करने पर ही

काम से न केवल अमरता बल्कि व्यक्ति की सभी संकल्पित इच्छाओं की पूर्ति भी, प्राप्त हो पाती है।[८]

यहाँ स्पष्ट है कि मनु ने काम का धर्मानुसार सम्यक् सेवन ही इष्ट माना है। जब तक काम धर्म से संयुक्त नहीं होता, वह मूल्यवत्ता भी ग्रहण नहीं करता। धर्म से संयुक्त होने पर ही वह पुरुषार्थ की कोटि में आ सकता है और तब वह न केवल अमरता (ब्रह्मभाव, मृत्युरहित स्थिति) को प्राप्त करने में सहायक होता है बल्कि यथासंकल्पित (उचित रूप से इच्छित) सभी कामनाओं को भी संतुष्ट कराने का माध्यम बनता है।

काम की ये अर्थक्रिया बहुत कुछ धर्म की तरह की है। *मनुस्मृति* में जो बात काम के लिए कही गई है लगभग वैसी ही बात *वैशेषिक सूत्र* में धर्म के लिए कही गई है- यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः।[९] अर्थात्, धर्म इस जीवन में अभ्युदय और भावी जीवन में निःश्रेयस की सिद्धि कराता है। प्रश्न किया जा सकता है कि धर्म और काम की अर्थक्रियाओं में यह अद्भुत समानता कैसे संभव हुई है। स्पष्ट ही इसका एकमात्र उत्तर यही है कि काम जो अमरता और इस लोक में अभीष्ट सिद्धि का साधन है वह सामान्य काम (जिसका तात्पर्य किसी भी इच्छा से है) नहीं है। बल्कि सम्यक् काम है। जो धर्म से मर्यादित और नियमित है। धर्मानुसार काम की अर्थक्रिया और धर्म की अर्थक्रिया में इस प्रकार कोई अंतर नहीं रहता। सम्यक् काम ठीक धर्म की ही तरह एक मूल्य बन जाता है। किन्तु अमर्यादित काम मूल्यवान नहीं है। वह अर्हतारहित है।

वात्स्यायन ने भी अपने *कामसूत्र* में धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के इस त्रिवर्ग को नमस्कार करके धर्म और अर्थ के अनन्तर ही काम की गणना की है। व्यष्टि और समष्टि में द्विविध जीवन की उन्नति के लिए आचार्य वात्स्यायन ने धर्म और अर्थ को क्रमशः प्रथम और द्वितीय स्थान दिया है। उसका कारण यह है कि दोनों वर्गों की मान्यताओं और मर्यादाओं को स्वीकार किए बिना कोई भी व्यक्ति काम का अधिकारी नहीं हो सकता। धर्म का उल्लंघन और अर्थ की अनपेक्षा करके जिस काम का सेवन किया जाता है, वह काम नहीं कामाचार कहा गया है। इस प्रकार के काम का आचार्य वात्स्यायन ने निषेध किया है।[१०]

त्रिवर्ग में इस प्रकार इष्टरूप में जिस काम की गणना की गई है वह सामान्य न होकर सम्यक् काम है। यह सम्यक् काम धर्मानुसार मर्यादित है और धर्म की ही तरह इस लोक में अभ्युदय ओर परलोक में निःश्रेयस प्रदान करने वाला है।

काम- सुख के रूप में

काम से अर्थ केवल 'संकल्प' या 'इच्छा' से ही नहीं है बल्कि वह अभीष्ट पदार्थ (इष्ट) भी है। काम का एक तीसरा अर्थ सुख, विशेषकर ऐंद्रिय सुख, से है। वैसे भी सुख, सामान्य रूप से, इष्ट या अभीष्ट पदार्थ ही है। सभी जीव अंततः सुख ही चाहते हैं।[१२]

वात्स्यायन सुख के दो रूपों में भेद करते हैं। एक सुख व्यक्ति की प्रत्येक इंद्रिय का अपने-अपने विषय में अनुकूल रूप से प्रवृत्त होने से उपजा सुख है। यह सामान्य काम या अप्रधान काम है। व्यक्ति जब विषयों को भोगता हुआ सुखानुभूति प्राप्त करता है तो इसे सामान्य रूप से 'काम' कहते हैं। श्रोत्र को जब अनुकूल शब्द, त्वचा को जब अनुकूल स्पर्श, चक्षुओं को जब अनुकूल रूप, जिह्व को जब अनुकूल रस और नासिका को जब अनुकूल गंध प्राप्त होती है तो व्यक्ति को सामान्य रूप से ऐंद्रिय सुख मिलता है, यही काम है।[१३] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच विषय क्रमशः कर्ण, त्वक्, अक्षि, जिह्व और घ्राण इन पाँच ज्ञानेंद्रियों से संयुक्त होकर सुख की प्राप्ति कराते हैं। अन्नंभट्ट के *तर्कसंग्रह* में कहा गया है कि वह सब जो अनुकूलता से वेदनीय है, सुख है। किन्तु यह सुख प्रधान काम न होकर अप्रधान काम है। विशेष काम-सुख तो स्त्री-पुरुष की ज्ञानेंद्रियों की क्रियारूप वह संयुक्तावस्था है जिसमें वे अपने विषयों से आलिंगन, चुंबन, स्पर्श आदि द्वारा संयुक्त होती हैं और उनके फलस्वरूप जो आनंद प्राप्त होता है वही प्रधान काम है।[१४] (*कामसूत्र*, १/२/१२) (*फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः*)

भारतीय चिंतन में सुख को किसी न किसी रूप में एक स्वीकारात्मक मूल्य माना गया है। चारों वेदों में सुख की प्राप्ति और दुःख की समाप्ति के लिए अनेक ऋचाएँ हैं। अतः सुख के अर्थ में 'काम' की पुरुषार्थों में गणना स्वाभाविक ही कही जाएगी। किंतु काम को मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानना और इस प्रकार ऐंद्रिय सुख का पूर्ण समर्थन भारतीय मूल्य-दर्शन में कम ही हुआ है।

भारतीय मूल्य-दर्शन में सुखवाद के समर्थक केवल दो ही दर्शन हैं- एक, चार्वाक दर्शन और दूसरे, वात्स्यायन।

चार्वाक दर्शन में सुख की मात्रा में तो अंतर किया गया है किन्तु गुणात्मक रूप से सुखों में कोई अंतर नहीं किया गया है। इस विचारधारा के अनुसार इंद्रियों की संतुष्टि विशेषकर कामविषयक सुख (ऐंद्रिय और लैंगिक सुख) एक सुनिश्चित सुख है। यह इहलोक का मूर्त सुख है। अन्य सुखों की तरह इसे भ्रामक नहीं माना/कहा जा सकता। अतः इंद्रिय

सुखों का ही चयन किया जाना चाहिए। इसी आधार पर चार्वाक धर्म की अपेक्षा काम को वरीयता प्रदान करता है।

चार्वाकियों की तरह ही वात्स्यायन भी सुख को अपने आप में एक मूल्य मानते हैं और उसे परम लक्ष्य के रूप में निरूपित करते हैं। कौटिल्य और अन्य दार्शनिकों ने धर्म को केवल इसलिए वरीयता दी थी कि वह साधन के रूप में मूल्यवान है। वात्स्यायन ने अपनी वरीयता का आधार बदल दिया और उन्होंने साधन की बजाय साध्य या स्वतः मूल्यों अर्थात् उन मूल्यों को जो अपने आप में मूल्यवान हैं वरीयता दी और इस प्रकार मूल्यों के मूल्यांतरण की जिस क्रांतिकारी विचारधारा का मूलतः चार्वाकों ने आरंभ किया था वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में उसे विकसित किया।[१५] *कामसूत्र* में स्पष्ट कहा गया है कि धर्म के मूल में सुख नहीं है, वस्तुतः सुख के मूल में धर्म है- *सुखस्य मूलं धर्मः*। वात्स्यायन इस प्रकार चार्वाकियों का समर्थन करते हैं और काम को ही जीवन का एकमात्र पुरुषार्थ मानते हैं क्योंकि वही स्वतः मूल्य है।

अर्थ स्पष्ट ही एक साधन-मूल्य (परतः मूल्य) है क्योंकि यह जीवन की आवश्यकताओं में से किसी न किसी की पूर्ति करता है। आवश्यकताओं की संतुष्टि ही काम है। यह परतः न होकर स्वतः मूल्य है क्योंकि इसके संदर्भ में 'क्यों' का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। उदाहरण के लिए हम पूछ सकते कि हम भोजन क्यों तलाश करते हैं लेकिन हम यह नहीं पूछ सकते कि हम, संतुष्टि जो हमें भोजन प्राप्त करने से होती है, क्यों चाहते हैं?[१६] अर्थ मूल्यवान है लेकिन वह काम की संतुष्टि के माध्यम रूप में ही मूल्यवान है, स्वतः मूल्यवान नहीं है। सुख स्वतः मूल्य है।

धर्म को मूल्यवान इसलिए माना गया कि उसके सेवन से परलोक (स्वर्ग) में सुख मिलने की संभावना है किंतु चार्वाक संप्रदाय इस तर्क को खंडित कर देता है क्योंकि यह एक भ्रामक सुख के लिए इहलोक के मूर्त सुख को छोड़ देने की बात है। इंद्रिय सुख मूर्त सुख है और उसे यहाँ और अभी प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति हो जो अप्राप्य के लिए प्राप्त वस्तु को ठुकरा दे।

वात्स्यायन, ऐसा प्रतीत होता है कि चार्वाक के उपर्युक्त तर्क को खंडित नहीं कर पाते। इसीलिए वे काम को वरीयता प्रदान करते हुए धर्म और अर्थ के मूल में 'काम' को ही प्रतिष्ठित करते हैं। किंतु वे चार्वाकियों की तरह धर्म को निरस्त भी नहीं कर पाते। इसका कारण शायद चार्वाक दर्शन के विरूद्ध उमड़ता हुआ तत्कालीन व्यापक विरोध रहा हो। वेदों में धर्म को जो सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है। वात्स्यायन उसकी पूर्ण उपेक्षा करने

में पूरी तरह स्वयं को असफल पाते हैं। वे शास्त्रों की दुहाई देकर काम को धर्म से जोड़ते प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त वात्स्यायन सुखवादी दृष्टिकोण की अपनी कतिपय सीमाओं से भी परिचित हैं।

क्या सुख वस्तुतः एषणीय है? यदि सुख ही केवल एषणीय है तो अधिक संभावना इसी बात की है कि मनुष्य भोग-विलास में ही पड़ा रह जाए और एक ऐसे जीवन को जिए जिसमें अंततः वह अपनी समस्त सम्पत्ति (अर्थ) और सद्गुणों (धर्म) को दाँव पर लगा दे। अतः वात्स्यायन के अनुसार इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि मनुष्य अपनी काम-संबधी वृत्तियों में स्वस्थ और अस्वस्थ काम में भेद कर सके। परंपरागत रूप से काम की जो निंदा की गई है उसका कारण 'काम' का विकृत सेवन ही रहा है। कामाचार से अर्थ और धर्म, दोनों की ही क्षति होती बताई गई है। अतः काम-सुख के सर्वथा परित्याग का उपदेश दिया गया है। काम के फलस्वरूप व्यक्ति व्यभिचारी और दुराचारी लोगों के संपर्क में आता है और अधर्म एवं पाप की ओर प्रवृत्त होता हौ और अंत में उसके बुरे फल भुगतने पड़ते हैं।

इतना ही नहीं, अपितु विवेकभ्रष्ट होकर वह अपने मानापमान की कोई चिंता नहीं करता। लोग उसका विश्वास नहीं करते और सभी उससे घृणा करने लगते हैं। (*तथा प्रमादं लाघवमप्रत्ययमग्राह्यतां च*)। इस प्रकार काम के वशीभूत अनेक ऐसे लोगों के उदाहरण हमारे सामने हैं जो समूल नष्ट हो गए। उदाहरण के लिए भोजवंशीय राजा दंडक एक ब्राह्मण कन्या से बलात् गमन करने के कारण सपरिवार विनष्ट हो गए। देवराज इंद्र गौतम पत्नी अहल्या के साथ, महाबलशाली कीचक द्रौपदी के साथ और महापंडित रावण सीता के साथ पापाचार करने के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गए। इसी प्रकार अन्य भी कई कामी पुरुष काम-वासना के कारण विनष्ट होते सुने गए हैं।

ऐसे तर्कों का उत्तर देते हुए आचार्य वात्स्यायन का अभिमत है कि शरीर के लिए काम सुख उतना ही अनिवार्य है जितना कि आहार। अतः काम सुख को निरस्त तो किया ही नहीं जा सकता। भोजन और भोग दोनों ही अंततः शारीरिक स्वास्थ्य के हेतु होना चाहिए।[५] शरीर की स्थिति के लिए जिसे आर्ष धर्म कहा है, वही काम है।

वात्स्यायन के अनुसार काम का परित्याग सर्वथा संभव नहीं है। बेशक आहार से उदर विकार हो सकता है लेकिन उदर विकार के भय से आहार का परित्याग तो नहीं कर दिया जाता। यदि दरवाजे पर कोई भिक्षुक खड़ा है, उसके डर से घर में भोजन ही न बनाया जाय अथवा इस भय से कि हिरन फसल खा लेंगे, बीज ही न बोया जाय ऐसा

तो न देखा गया है न सुना गया है।[२८] इसीलिए काम सुख का सम्यक् सेवन वर्जित नहीं किया जा सकता। काम की संतुष्टि व्यक्ति को स्वास्थ्य और सुख प्रदान करती है और उसका दमन व्यक्ति में काम विकार पैदा करता है। जब कामसंतुष्टि काम विकार में परिणत हो जाती है तो वह दूषित इच्छाओं को जन्म देती है जिन्हें नैतिक और सामाजिक स्वीकृति नहीं मिल सकती। अतः वात्स्यायन काम-वृत्ति के दमन के विरुद्ध हैं। वे काम को मर्यादित/नियमन करने के पक्ष में हैं और उसे उदात्त बनाने के पक्ष में हैं।

एक सामान्य व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ हैं और वह विषय वस्तुओं में सुख ढूँढता है। कामनाएँ मनुष्य के स्वभाव का एक अनिवार्य हिस्सा है और उनकी पूर्ति के लिए उपयुक्त मार्ग होना ही चाहिए। भारतीय मनीषा इच्छाओं का दमन नहीं करती बल्कि उनकी पूर्ति के लिए उचित मार्ग तलाशती है- एक ऐसा मार्ग जो व्यक्ति को अनुभव के उच्चतर सोपानों तक उसे पहुँचा सके। विवाह और परिवार ऐसी संस्थाएँ हैं जो मनुष्य को न केवल पूर्णतः आत्मकेंद्रित होने से बचाती हैं बल्कि उनकी कामनाओं के उदात्तीकरण में भी सहायक होती हैं। गीता में भी कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि मैं वह काम हूँ जो धर्म-विरुद्ध नहीं है। (गीता ७/११)

वात्स्यायन भी काम के सम्यक् सेवन- न बहुत अधिक जो काम की क्षमता को ही नष्ट कर दे और न ही उसका पूर्ण त्याग जो व्यक्ति के जीवन में विकृतियाँ उत्पन्न करे- पर बल देते हैं। *शुक्रनीति* में भी ऐसे ही मध्यमान सेवन का निर्देश किया गया है। वहीं कहा गया है कि व्यक्ति को न तो अपनी इंद्रियों का दमन करना चाहिए और न ही भोग में अत्यधिक लिप्त रहना चाहिए। '*न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत्*'। अर्थात् इंद्रियों को उनके विषयों से बलपूर्वक अलग रखकर अधिक पीड़ित नहीं करना चाहिए और विषयों में अधिक आसक्ति रखकर उन्हें लालित भी नहीं करना चाहिए।

आशय यह है कि नियमपूर्वक रहकर समभाव से विषयभोग करना चाहिए। अननुपातिक भोग आत्मविनाश की ओर ले जाता है। क्योंकि ऐसे में या तो अत्यधिक भोग से व्यक्ति भोग की अपनी क्षमता ही गँवा बैठता है अथवा पूर्ण दमन या त्याग से विकृत और अस्वाभाविक कामाचार में ही फँस जाता है। अस्वस्थ काम से तो स्वस्थ काम का सेवन स्पष्ट ही श्रेष्ठतर है।

भारतीय मूल्य-दर्शन में अमर्यादित-सुख को कभी मूल्य (श्रेय) नहीं समझा गया। वात्स्यायन् जो एक सुखवादी चिंतक माने जा सकते हैं, भी अमर्यादित सुख की वकालत नहीं करते। चार्वाक-दर्शन ही इसका एकमात्र अपवाद है, यद्यपि वह भी शिष्ट और अशिष्ट

काम में भेद करता है। वह भी ऐसे सुख की ही कामना करता है जो अर्थ और धर्म का घातक न हो। सुख की मर्यादा इस प्रकार अंततः त्रिवर्ग के दो अन्य मूल्य-वर्ग निश्चित करते हैं। काम को यदि धर्म और अर्थ का आधार प्राप्त हो तो निःसंदेह वह सर्वाधिक एषणीय है। *शुक्रनीति* भी यही बात मानती है। उसके अनुसार सभी जीवों की जितनी भी कार्य की प्रवृत्तियाँ हैं वे सब अपने सुख के लिए होती हैं किन्तु धर्म के बिना सुख प्राप्त नहीं होता अतएव धर्म में भी प्रवृत्त होना आवश्यक है। त्रिवर्ग से रहित होकर कोई कार्य न करें और मध्यमार्ग को अपनाकर सभी कार्यों में त्रिवर्ग के प्रत्येक पद का अनुसरण करें।[१९]

वात्स्यायन यद्यपि काम को साधन मूल्य न मानकर एक साध्य-मूल्य (स्वतः मूल्य) मानते हैं लेकिन वे इसके सेवन के लिए धर्म और अर्थ दोनों को ही आवश्यक मानते हैं। सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूलम् अर्थः। धर्म से ही त्रिवर्ग में समन्वय संभव है।

धर्म वह मध्यमान है जो अर्थ और काम दोनों का ही नियमन और संयमन करता है। स्वच्छंद काम-जीवन, जिसमें कोई नियंत्रण और नियमिता न हो, एषणीय नहीं हो सकता। पुनः, काम की एक अन्य मर्यादा भी है। वह केवल गृहस्थ तक ही सीमित है। जिसे अपने धार्मिक कर्तव्यों को भी पूरा करना होता है। इसलिए अपनी वासनाओं पर संयम भी उसके लिए आवश्यक है।

पुरुष की आयु सौ वर्ष की बताई गई है। इस अवधि को विभाजित कर वात्स्यायन कहते हैं कि धर्म, अर्थ और काम का इस प्रकार सेवन करें कि वे परस्पर घातक न हों।[२०] किंतु, धर्म, अर्थ और काम के बीच समन्वय कैसे बनाया रखा जा सकता है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। इतना अवश्य है कि उनके अनुसार मानव जीवन को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है-१ बाल्यावस्था, यौवनावस्था, और वृद्धावस्था। बाल्यकाल में विद्या ग्रहण करने और अर्थ को समझने के लिए विधान है।[२१] इसी प्रकार यौवनावस्था में कामनाओं की संतुष्टि (कामम्) के लिए निर्देश है।[२२] तथा वृद्धावस्था में धर्म और मोक्ष के सेवन का उपदेश दिया गया है।[२३]

इस योजना से स्पष्ट है कि वात्स्यायन के अनुसार गृहस्थाश्रम में आने से पहले विद्यार्जन आवश्यक है। विद्यार्जन की अवस्था में मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य का सैद्धान्तिक स्वरूप समझता है। अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का शास्त्रीय अध्ययन करता है। इसके पश्चात् ही युवावस्था में वह अपने शास्त्रीय अध्ययन का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करता है और इस प्रकार अपनी इच्छाओं/कामनाओं की संतुष्टि करता है। कामनाओं की संतुष्टि के लिए आर्थिक आधार होना आवश्यक है। अतः अर्थ और काम का सेवन दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। लेकिन इन दोनों में शुद्धता बनी रहे इसलिए इनका सेवन धर्मानुसार

करना होता है। धर्म, अर्थ और काम में संतुलन बनाए रखना संभवतः इसी में निहित है। वृद्धावस्था में जब कामनाओं की पूर्ति हेतु इन्द्रियाँ आदि मनुष्य का साथ नहीं देतीं तो उस समय धर्म और मोक्ष की प्राप्ति की एकमात्र कामना करनी चाहिए।

वात्स्यायन का सुखवाद चार्वाक मत से दो प्रकार से भिन्न है। यद्यपि दोनों ही काम को वरीयता देते हैं क्योंकि काम साधन न होकर एक स्वतः मूल्य है, फिर भी जहाँ चार्वाक 'धर्म' को पूरी तरह नकार देता है, वहीं, वात्स्यायन उसको साधन-मूल्य के रूप में उचित स्थान देते हैं। दूसरे, जहाँ चार्वाक सुखों में गुणात्मक अंतर नहीं करते, वहीं वात्स्यायन सुखों में गुणात्मक अंतर को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। वातस्यायन ने ६४ कलाओं को काम के अंतर्गत रखा और ये सभी कलाएँ आवश्यक नहीं कि संकुचित अर्थ में काम-सापेक्ष हैं। इनसे प्राप्त सुख अलग-अलग तरह का है और इन सभी सुखों को रति सुख नहीं कहा जा सकता। अतः वात्स्यायन सुखों में एक प्रकार का गुणात्मक भेद स्वीकार करते हैं। किंतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विभिन्न कलाओं से प्राप्त होने वाले सुख जो भले ही रतिभावनिरपेक्ष ही क्यों न हों, आध्यात्मिक सुख नहीं कहे जा सकते। अधिक से अधिक उन्हें सुसंस्कृत नागर सुख ही कह सकते हैं।

वात्स्यायन के लिए सभी सुख सिर्फ इंद्रिय सुख है। वात्स्यायन का यह दृष्टिकोण भारतीय पारंपरिक दृष्टिकोण से थोड़ा अलग है। परंपरागत रूप से कलात्मक सुख देवता के समर्पण और उससे प्राप्त आनंदानुभूति को माना गया है जिसका रतिभाव या इंद्रिय सुख से कोई लेना-देना नहीं है। भारतीय सौंदर्य शास्त्र ने ऐंद्रिय सुख का उदात्तीकरण कर उसे 'रस' बना दिया है और इस 'रस' का चरित्र ऐंद्रियक नहीं रहता।

मोटे तौर पर काम इच्छाओं की संतुष्टि है, जो सुख प्रदान करती है। ये इच्छाएँ दैहिक, लैंगिक, कलात्मक और सौंदर्य-संबंधी कैसी भी हो सकती हैं। जब हमारी इंद्रियाँ अपने विषयों के संपर्क में आती हैं तो उनसे सुख प्राप्त होता है। सैक्स मूल रूप से एक जैविक प्रक्रिया है, किंतु उसमें अत्यधिक सुख की अनुभूति भी है। सैक्स अन्य तमाम भावों को भी अभिव्यक्ति देता है। प्रेम, सौहार्द, मित्रता, भाई-चारा, सहानुभूति आदि मानवीय भावनाएँ वे उदात्त भावनाएँ हैं जिनके मूल में सैक्स भले ही हो किंतु वे स्वयं सैक्स-रहित ही मानी जायेंगी। फ्रायड भी जब सैक्स के उदात्तीकरण की बात कहता है तो वह सैक्स में एक गुणात्मक परिवर्तन की माँग करता है जिसमें सैक्स-संबंधी सुख, कलात्मक सुख में बदल जाता है- जैसे साहित्य, कविता, नाटक, संगीत आदि और यह एक गुणात्मक अंतर है।

किंतु सुखों में इस प्रकार गुणात्मक अंतर मानना वस्तुतः सुखवाद की ही अस्वीकृति

है। वह तर्क जो कि उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय सुखों में भेद करता है। एक ऐसे मापदंड को अपनाता है जो स्वयं सुख नहीं हो सकता। सुखों का मूल्यांकन किसी अन्य मूल्य से ही, जो स्वयं सुख न हो, किया जा सकता है। अतः स्पष्ट ही 'काम' अन्य मूल्यों को अस्वीकार नहीं करता। वात्स्यायन जब कहते हैं कि धर्म, अर्थ और काम का हम इस प्रकार सेवन करें कि वे परस्पर घातक न हों तो वे इसी बात पर बल दे रहे होते हैं। वातस्यायन की त्रिवर्गीय मूल्य पद्धति में काम को अन्य मूल्यों से अपना सामंजस्य बनाए रखना पड़ता है। वह नैतिक-आर्थिक मूल्यों की अवहेलना नहीं कर सकता।

सौंदर्यमूलक सुख

वात्स्यायन ने कामसूत्र में चौंसठ भिन्न कलाओं का उल्लेख किया है। इसमें गीत, वाद्य और नृत्य ही नहीं, वास्तुविद्या तक सम्मिलित है। अतः कहा जा सकता है कि वात्स्यायन ने कला को 'काम' के अंतर्गत रखा है और कलात्मक (सौंदर्यमूलक) सुख को ऐंद्रिय-सुख माना गया है क्योंकि कलानुभूति एक ऐसी अनुभूति है जो कला-विषयक उद्दीपन जब तक रहता है तभी तक बनी रह पाती है। उद्दीपन की समाप्ति के साथ-साथ अनुभूति भी समाप्त हो जाती है। काम की ही तरह, कलात्मक सुख भी हमारी इंद्रियों पर ही आश्रित है। संवेदनाओं की समाप्ति पर उसे अनुभव नहीं किया जा सकता। *कामसूत्र* में उल्लिखित सभी कलाएँ प्राचीन भारत में अवश्य ही प्रचलित रही होंगी, किंतु इनका पुरुषार्थ से क्या संबंध है, यह कामसूत्र में बहुत स्पष्ट नहीं है।

वैसे भारतीय चिंतन में सौंदर्यानुभूति का मूल्यांकन दो प्रकार से हुआ है। कुछ के अनुसार सौंदर्यानुभूति मोक्ष की ओर ले जाने वाला एक अनुभव है। वह मोक्ष की झलक देता है और इस प्रकार मोक्ष के साधन रूप में सहायक है। दूसरा दृष्टिकोण सौन्दर्यानुभूति को काम की तरह प्रस्तुत करता है और काम के रूप में सौंदर्यानुभूति या तो एक परिस्कृत सुख के रूप में देखी गई है अथवा उसे एक छद्म ऐंद्रिय सुख के रूप में अस्वीकार कर दिया गया है। वात्स्यायन कलानुभूति को एक परिस्कृत ऐंद्रिय सुख के रूप में देखते प्रतीत होते हैं।

किंतु *मनुस्मृति* में कलाओं के संदर्भ में एक अस्वीकारात्मक रवैया अपनाया गया है और सौंदर्य सुख को तिरस्कार की दृष्टि से देखा गया है। उसे एक मूल्यवान वस्तु न मानकर केवल छद्म ऐंद्रिय सुख के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[२४] ऐसा प्रतीत होता है कि मनु के समसामयिक समाज में कलात्मक गतिविधियाँ अपनी इतनी कुरूप अभिव्यक्ति पा गई थीं कि मनु को एक कठोर नैतिकतावादी रुख अपनाना पड़ा था।

कला के विरुद्ध मनु का दृष्टिकोण याज्ञवल्क्य को स्वीकार नहीं हुआ और उसने

मनु की कला-स्वीकृति को अस्वीकार कर दिया। याज्ञवल्क्य के अनुसार एक संगीतज्ञ भी अपनी संगीत-साधना से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। *तैत्तिरीय उपनिषद्* में ब्रह्मन् को रस बताया गया है और रस वह परम अनुभूति है जिसमें सौंदर्यानुभूति भी सम्मिलित है। उपनिषद् कहता है 'वह' निश्चित ही रस है और जिसने उसे प्राप्त कर लिया है वह आनन्दमय हो जाता है।[२५] मम्मट के *काव्यप्रकाश* में भी कुछ-कुछ यही बात कही गई है। वहाँ सौंदर्यानुभूति को ब्रह्मानंद को आस्वादन भी बताया गया है।[२६]

भारतीय सौंदर्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा 'रस' है। रस कला का आस्वाद है और आस्वादन का विषय भी है। रस का स्वभाव मूलतः कला संप्रेषण में है। रस भावनात्मक संवेगात्मक रूप से कला का आस्वादन है। यह ज्ञान का विषय न होकर भावना का विषय है और रसास्वाद ही कला को समझने का एक तरीका है। अपने व्यावहारिक जीवन में मनुष्य दुःख, भय, जुगुप्सा आदि भावनाओं से बचना चाहता है। लेकिन यही संवेग जब कला में प्रस्तुत होते हैं तो व्यक्ति इनका रसास्वादन करना है। बेशक इसके लिए एक ऐसा व्यक्ति आवश्यक है जो कला के प्रति संवेदनशील, सहृदय अथवा सुमन हो।

यूँ तो भारतीय *नाट्यशास्त्र* में भरत ने आठ स्थाई भाव और तदनुरूप आठ रस गिनाए हैं किंतु इनमें से चार को बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। ये चार स्थाई भाव रति, रुद्र, उत्साह और जुगुप्सा हैं। इनके समानांन्तर क्रमशः काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष को संदर्भित किया गया है। ये चारों स्थाई भाव जीवन के चार प्रयोजनों के हेतु हैं।

काम मोटे तौर पर कोई भी कामना है। लेकिन अपने संकुचित अर्थ में यह एक पुरुष और स्त्री के प्रति प्रेम है। इसी प्रकार रति और उससे संबंधित रस-श्रृंगार का भी व्यापक और संकुचित अर्थ है। सामान्यतः रति स्त्री-पुरुष के प्रति प्रेम और आनंद का संबंध है। लेकिन इससे अर्थ और धर्म को भी प्राप्त किया जा सकता है। भरत ने तीन प्रकार के श्रृंगार बताए हैं- काम श्रृंगार, धर्म श्रृंगार और अर्थ श्रृंगार।[२७] श्रृंगार का अर्थ यहाँ लौकिक प्रेम है और इस प्रेम का विस्तार काम के अतिरिक्त अर्थ और धर्म के क्षेत्रों में किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलतः काम-युक्त होकर भी रस-सिद्धान्त पुरुषार्थ-चतुष्टय से पूरी तरह असंबद्ध नहीं है।

अभिनवगुप्त ने *नाट्यशास्त्र* को एक नया आयाम दिया । कलानुभूति जिसे केवल अनुभव के स्तर पर ही अभी तक समझा गया था उसे अभिनवगुप्त ने एक अनुभवातीत स्तर भी प्रतिष्ठित किया। अनुभव का वह स्तर जिसमें कला का रसास्वादन केवल ऐंद्रिय सुख प्राप्त करता है, अभिनवगुप्त के अनुसार, उच्चतर स्तरों को स्पर्श कर सकता है। जिस तरह धर्म और ज्ञान इत्यादि अंततः मोक्ष में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार कलानुभूति भी है। अभिनवगुप्त ने यह भी स्पष्ट रूप से बताया कि कलानुभूति अनुभव के ऐंद्रिय स्तर

से अनुभवातीतं स्तर की ओर किस प्रकार अधिगमन करती है। आरंभ में बेशक यह केवल इंद्रिय सुख है जिसे हम एक कलाकृति को देखकर, पढ़कर या सुनकर प्राप्त करते हैं। लेकिन यह ऐंद्रिय सुख मनुष्य की कल्पना को उत्तेजित करता है और फिर व्यक्ति स्वयं का उस विषय से, कि जिसका वह रसास्वादन कर रहा है, अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। तदुपरांत साधारणीकरण की स्थिति आती है और इस स्तर पर व्यक्ति अपने सीमित अहं, देश, काल और परिस्थिति इत्यादि सभी को भूल जाता है। अनुभव और अनुभवकर्ता के बीच सारे अवरोध समाप्त हो जाते हैं। कोई भी कलाकृति जो इस भावनात्मक ऊँचाई तक नहीं ले जाती, वस्तुतः कलाकृति नहीं कही जा सकती। सौंदर्यानुभूति का एक स्तर इससे भी ऊँचा है। यह सर्वोच्च स्तर है जिसमें आत्मानुभूति विशुद्धरूप से आनंदानुभूमि हो जाती है। यह 'महारस' का स्तर है और इस स्तर पर सभी भेद और वस्तुनिष्ठताएँ विलीन हो जाती हैं और आत्मा पूरी तरह आनंद में प्रतिष्ठित होती है। इस उच्चतम स्तर पर रस स्वयं ही रस का विषय बन जाता है-'रसानानां रसः।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कलानुभूति के पाँच स्तर हैं- १. ऐंद्रिय २. कल्पनात्मक ३. भावनात्मक/संवेगात्मक ४. रेचन और ५. पारमार्थिक या अनुभवातीत। अभिनवगुप्त सौंदर्यानुभूति में इस परम अनुभूति को भावात्मक रूप से शांत-रस के साथ जोड़ते हैं और इस प्रकार एक नया नौवाँ रस, आठ रसों की सूची में सम्मिलित कर लेते हैं। यही शांत रस मोक्ष का भावनात्मक प्रतीक बनता है और इसे सर्वोच्च मूल्य परम पुरुषार्थ की कोटि में रखा गया है। यह आनंदघन की स्थिति है जिसमें सभी दुःखानुभवों से व्यक्ति मुक्ति पा लेता है। इस स्थिति में सामान्य अर्थ में न तो सुख है न ही दुःख। यह आनंद से आरंभ होती है, आनंद की ही अभिव्यक्ति करती है और अंततः आनंद में ही विलीन हो जाती है।

उपर्युक्त विवरण से ही स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने अपने सौंदर्य विश्लेषण को एक तत्त्वमीमांसात्मक मोड़ दिया है जो शायद वात्स्यायन को मान्य न हो। वात्स्यायन ने कला की जो व्याख्या की है और किसी हद तक भरत ने जो रस विवेचना की है वह मूलतः इंद्रियानुभविक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। लेकिन अभिनवगुप्त की व्याख्या रस-ब्रह्मवाद है जिसमें कलात्मक रस को ब्रह्मन् के आनंदस्वरूप से जोड़ा गया है। कला-दर्शन के एक आधुनिक व्याख्याकार एवं चिंतक वी० राघवन का भी कहना है कि सौंदर्य की आनंदानुभूति परम आनंद की एक झलक देती है। और किसी भी व्यक्ति का इस ओर सतत प्रयास उसे आत्मानुभूति (मोक्ष) के लिए तैयार करता है।[२८]

सौंदर्यानुभूति की यह विवेचना जो उसे आत्मानुभूति के समकक्ष बताती है स्पष्टतः मोक्ष/आत्मानुभूति नहीं है। सौंदर्यानुभूति मूलतः एक अनुकूल ऐंद्रिय अनुभव है जो आनंदानुभूति में धीरे-धीरे विकसित किया जा सकता है- ठीक इसी तरह जैसे काम का उदात्तीकरण किया जा सकता है। कला निःसंदेह इंद्रियानुभव से अनुभवातीत स्तर पर उठ सकती है। लौकिक से अलौकिक की ओर उसका अधिगमन संभव है। बेशक अच्छा संगीत, एक अच्छी कविता या नाटक व्यक्ति को उसके संकुचित दायरे से ऊपर उठाकर शुद्ध आनंद के संसार में ले जा सकता है किंतु कला सौंदर्य की अनुभूति का यह सर्वोच्च स्तर भी जो आनंद का आस्वादन कराता है केवल आत्मानुभूति की परम स्थिति की झलक मात्र देता है। क्षणिक होने के कारण वह परम अनुभूति से भिन्न ही बना रहता है। यह सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने की केवल संभावना से हमें परिचित कराता है। कलानुभूति क्योंकि अपने आप में पूर्णतः निर्वैयक्तिक होती है और उसमें एक विशुद्ध स्वतःभूत आनंद होता है अतः वह एक प्रकार से परम पुरुषार्थ का एक पूर्वस्वाद है और सर्वोच्च आदर्श तक पहुँचने के लिए एक प्रेरणा भी। सौंदर्यानुभूति का मात्र इतना ही कार्य है।

संक्षेप में पुरुषार्थ-चतुष्टय के अंतर्गत काम का अर्थ है 'जीवन की वैध कामनाएँ'। कामनाहीन जीवन जीवन नहीं है, अपितु वह तो मृत्यु का ही पर्याय है। कामनाएँ जीवन की प्रेरणा हैं। उनकी विद्यमानता से जीवन की प्रतीति होती है। वे प्रत्येक व्यक्ति के मन में बनती-मिटती रहती हैं। उनका स्वरूप सरिता में उठने वाली तरंगों के समान है।

सन्दर्भ

१. *मनुस्मृति*, २.३.

२. वही, ३.४.

३. वही, २.२- "कामात्मता न प्रशस्ता"

४. *महाभारत*, १२.१६१. २६-३०

५. हिरियन्ना, एम०, *द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन*, मैसूर, पृ०- १०२-१०३

६. *महाभारत*, १२/१२३-४-
धर्मभूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफल मुच्यते
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ।।

७. पैरी के अभिरुचि-सिद्धांत को विस्तार से जानने के लिए देखें, पैरी, आर. बी, *रेल्मस् ऑफ वैल्यू*, हार्वर्ड, १६५४

८. *महाभारत*, "धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या।" १२.१६७.४०

९. *मनुस्मृति*, २.५
१०. *वैशेषिक दर्शन*, १ : १.२
११. देखें, वाचस्पति गैरोला, *कामसूत्र परिशीलन*, इलाहाबाद, १९६७ पृ० ७२
१२. *शुक्रनीति*, ३.१- सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः
१३. *कामसूत्र*, १.२.२
१४. वही, "फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः", १.२.१२
१५. देखें, गुप्ता, शांतिनाथ- *इण्डियन कन्सेप्ट ऑफ वैल्यूज*, नई दिल्ली १९७८ पृ० ६६।
१६. देखें, *द क्वेस्ट आफ्टर परफेक्शन*, ऊपर उद्धरित, पृ० १०२ ।
१७. *कामसूत्र*, शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः ।। १.२.३७
१८. वही, १.२.३८- श्रीयन्ते नहि मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्त ।
१९. देखें, *शुक्रनीति*-
सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः
सुखं च न बिना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्।
त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तं चाविरोधयन्
अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमः ।।
३/१-३
२०. *कामसूत्र*- "शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत ।। १.२.१
२१. वही- "बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान्" ।। १.२.२
२२. वही- "कामं च यौवने" ।। १.२.३
२३. वही- "स्थाविरे धर्मं मोक्षं च" ।। १.२.४
२४. *द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन*, ऊपर उद्धरित, पृ० ३१
२५. *तैत्तिरीय उपनिषद्* २.६
२६. *काव्यप्रकाश* (आनंदाश्रम संस्करण), अध्याय ४, पृ० ९९
२७. *नाट्यशास्त्र* २०.७६-७९
२८. राघवन, *सोर्सेज ऑफ इण्डियन ट्रेडीशन*, पृ० २६४.

अध्याय-५

पुरुषार्थ-मोक्ष, और पंचकोष

पुरुषार्थ मूल्य-पद्धति में जहाँ धर्म,अर्थ और काम का त्रिवर्ग क्रमशः नैतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है, वहीं उसने 'मोक्ष' को एक आध्यात्मिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। पुनः धर्म,अर्थ और काम तीनों ही मूल्यों के एक-एक वर्ग का प्रतिनिधान करते हैं। धर्म के अंतर्गत सभी नैतिक-मूल्य, जो एक न होकर अनेक हैं, सम्मिलित हैं। इसी तरह अर्थ के अंतर्गत सभी आर्थिक मूल्य आ जाते हैं और काम के अंतर्गत सभी मनोवैज्ञानिक मूल्य समाहित हैं। किंतु मोक्ष, मूल्यों का कोई वर्ग नहीं है। इससे आशय केवल एक ही परम आध्यात्मिक मूल्य से है। परंतु इसे निस्संदेह एकाधिक नामों से पुकारा गया है। मोक्ष, इसीलिए मूल्य-'वर्ग' होकर 'अपवर्ग' है। वह परम प्रयोजन है, अनेकानेक प्रयोजनों का संघात नहीं है।

पुरुषार्थ व्यवस्था में मोक्ष परम पुरुषार्थ है, एक-मात्र पुरुषार्थ है। यही साध्य है। अन्य सभी मूल्य इसी साध्य को साधने में सहायक-मूल्य या साधन-मूल्य का कार्य करते हैं। त्रिवर्ग-योजना में धर्म साध्य हो सकता है किंतु पुरुषार्थ-पद्धति में वह भी अंततः मोक्ष का साधन होने के नाते, केवल साधन-मूल्य ही है। इसी तरह 'काम' अर्थ की अपेक्षा से एक 'स्वतः-मूल्य' माना जा सकता है, लेकिन धर्म और मोक्ष की अपेक्षा से, इसे स्वतः-मूल्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक तो धर्मानुसार होने से ही यह मूल्य की कोटि को प्राप्त हो पाता है और दूसरे अपने उदात्त अर्थों में यह पूर्णतः काम-रहित होकर मोक्ष का सहायक होता है। अतः काम भी पुरुषार्थ-योजना में स्वतः मूल्य नहीं है। यह भी साधन मूल्य के रूप में ही यहाँ प्रतिष्ठा पाता है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम-सभी मूल्य वर्ग पुरुषार्थ-पद्धति में साधन मूल्य ही हैं जो एक मात्र परम पुरुषार्थ मोक्ष की अनुभूति (मोक्षानुभूति) का माध्यम बनते हैं।

मोक्ष का अर्थः दुःखाभाव

अमर-कोष में मोक्ष के अनेक पर्यायवाची शब्द बताए गए हैं। ये हैं- मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेयस्, निःश्रेयस, अमृत, मोक्ष और अपवर्ग।[1] इन सभी में थोड़ा बहुत अर्थ-वैविध्य अवश्य है किंतु मोटे तौर पर सभी मोक्ष की स्थिति को ही ध्वनित करते हैं।

व्युत्पत्ति के अनुसार मोक्ष, 'मुच्' धातु से बना है जिसका अर्थ है, छुटकारा पाना। भारतीय दर्शन में नश्वरता को दुःख का कारण माना गया है। संसार आवागमन, जन्ममरण और नश्वरता का केन्द्र है। इस अविद्या, प्रपंच, दुःख, नश्वरता, आवागमन, पुनर्जन्म, इत्यादि से मुक्ति पाना ही मोक्ष है। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक प्रणालियों ने संसार के दुःखमय स्वभाव को स्वीकार किया है और इससे मुक्त होने के लिए कोई न कोई 'मार्ग' निर्धारित किया है। मनुष्य का अंतिम लक्ष्य इसी मुक्ति को प्राप्त करना है, अतः पुरुषार्थ-चतुष्टय में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। मोक्ष का मूल्यगत चरित्र इस प्रकार स्वतः स्पष्ट हो जाता है। यह एक आध्यात्मिक मूल्य है।

भारतीय दर्शन में संसार को, अनित्य और पुर्नजन्म से युक्त मानकर, 'अनिष्ट' बताया गया है और इस कथन में स्पष्ट ही मूल्य के प्रति निष्ठा निहित है। 'अनिष्ट' अपनी विलोम धारणा को जन्म देता है। अर्थात् 'अनिष्ट' से 'इष्ट' की धारणा जन्म लेती है। विमूल्य से मूल्य का भान होता है। 'अनेषणीय' से 'एषणीय' का प्रादुर्भाव होता है। वह जो विमूल्य ('डिसवैल्यु') है, मोक्ष उसका विलोम है, मूल्य है। इस प्रकार दुःख, अनित्यता, क्षणभंगुरता, पुनर्जन्म, आदि जैसी अनिष्ट धारणाएँ मात्र अस्तित्ववादी न होकर, अंशतः मूल्य-भावना का जाग्रत् करती हैं। उनका एक स्वीकारात्मक/धनात्मक आयाम भी है। विमूल्य भी मूल्य है। भले ही वह शून्य-मूल्य क्यों न हो।

'मोक्ष' का प्रत्यय इस प्रकार 'संसार' के प्रत्यय के विलोम में प्रस्तुत किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि विमूल्य के रूप में संसार की पहचान ने ही भारतीय चिंतकों को मूल्यान्वेषण के लिए प्रेरित किया। 'मोक्ष' 'संसार' के ठीक विपरीत है। संसार यदि अपने आप में विमूल्य है तो मोक्ष स्वतः-मूल्य है। किन्तु हम मोक्ष की अपेक्षा संसार के बारे में अधिक अवगत हैं क्योंकि संसार की अनुभूति हमें प्राप्त है। किंतु मोक्ष की अनुभूति के बारे में सैद्धान्तिक रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह सांसारिक आवागमन को समाप्त कर देने वाली एक अनुभूति होनी चाहिए। यह ठीक इसी प्रकार है कि जैसे समझाने की दृष्टि से एक ऐसे व्यक्ति जिसने केवल कडुवा स्वाद ही चखा है कहा जाए कि मीठा स्वाद कडुवे का विलोम है, उससे मुक्ति है।[२] मोक्ष के वास्तविक अनुभूत स्वभाव के बारे में भारतीय दार्शनिक संप्रदायों में भले ही थोड़ा बहुत मतभेद हो लेकिन इस बात में वे पूरी तरह एकमत हैं कि मोक्ष जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति है। जब तक व्यक्ति इस चक्र से मुक्त नहीं होता, उसका दुःख दूर नहीं हो सकता। मोक्ष का यह एक ऋणात्मक पहलू है जो मोक्ष को दुःखाभाव के रूप में प्रस्तुत करता है।

मोक्ष भारतीय दर्शन में इस प्रकार दुःख से मुक्ति का एक निषेधात्मक आदर्श प्रस्तुत करता है। यह प्रस्तुति वास्तव में उस परंपरा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है जिसमें धर्म-पालन को आत्मकल्याण या सुख का साधन माना गया है। सुखवादी इस दर्शन के विरोध में अनेक प्रतिक्रियाएँ हुईं, और उनमें से एक यह भी थी। इसके अनुसार साध्य, सुख की प्राप्ति न होकर, वस्तुतः दुःख का निवारण है।[३] न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग संप्रदायों ने इसी नकारात्मक आदर्श को अपनाया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष के लिए 'अपवर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ अपवर्ग का अर्थ है- दुःख और सुख दोनों ही से परे होना। ये दोनों ही, इस दर्शन के अनुसार आत्मा के मूलभूत गुण नहीं हैं। इसलिए मोक्ष स्थिति में आत्मा दोनों के द्वैत से मुक्त हो जाती है। दुःख से मुक्ति के लिए पहले सुख की आशा छोड़नी चाहिए क्योंकि दुःख और सुख अंत तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता। लेकिन हम उसका अतिक्रमण जरूर कर सकते हैं। यह अवस्था दुःख-सुख से परे हो जाने की अवस्था है। यही अपवर्ग है।

सांख्य-योग में मोक्ष को 'कैवल्य' कहा गया है। इस स्थिति में पुरुष का प्रकृति से मुक्त होना ही 'कैवल्य' है। पुरुष तो अनादि, असंग है। कैवल्य उसका स्वभाव है। वह प्रकृति के संसर्ग में आने से अपने स्वरूप को भूल जाता है। अतः संसार के प्रति अनासक्त भाव उत्पन्न होने पर ही मुमुक्षु मोक्षानुभूति कर सकता है। प्रकृति से जब वह अपनी भिन्नता समझ लेता है तो वह राग-द्वेष, दुःख-सुख, आदि सभी द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है।

बौद्ध-दर्शन में मोक्ष के निए 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग किया गया है। बुद्ध का प्रथम आर्य-सत्य दुःख है और इस दुःख के निरोध की स्थिति ही निर्वाण है। निर्वाण शब्द, निर् उपसर्गपूर्वक वा धातु से निकला है जिसका अर्थ है, बुझा देना, ठंडा कर देना। निर्वाण जीवन- ज्योति को बुझा देता है और इस अर्थ में वह मृत्यु का समानार्थक है। लेकिन बौद्ध-दर्शन के संदर्भ में यह व्याख्या उचित नहीं ठहराई जा सकती क्योंकि यहाँ मृत्यु को भवचक्र की एक कड़ी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः निर्वाण मृत्यु नहीं, मृत्यु का समाधान है। निर्वाण का वह अर्थ जो ठंडा कर देने से है, कदाचित् बौद्ध आशय के अधिक निकट है। प्रश्न उठाया जा सकता है कि निर्वाण क्या शांत करता है? स्पष्ट ही निर्वाण उन क्लेशों को शांत करता है जिनसे दुःख का उदय होता है। क्लेशों की परिसमाप्ति में ही निर्वाण है ताकि दुःख उत्पन्न ही न हो सके।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और बौद्ध-दर्शन-इन तीनों ही मतों की मोक्ष के

संबंध में एक नकारात्मक दृष्टि है। मोक्ष, इनके अनुसार, क्रमशः दुःख-सुख का अतिक्रमण कर जाना, प्रकृति से विमुक्त होना और दुःख-क्लेशों से छुटकारे की स्थिति है। मोक्ष को भारतीय चिंतन में स्वीकारात्मक रूप से 'सुख' द्वारा परिभाषित नहीं किया गया है बल्कि उसे 'दुःखाभाव' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसे हम अधिक-से-अधिक 'नकारात्मक-सुखवाद' (निगेटिव हेडोनिजम) की संज्ञा दे सकते हैं। भारत में सुखवाद की या तो आलोचना हुई है या उसे मर्यादित किया गया है अमर्यादित सुख, चार्वाक को छोड़कर, किसी भी भारतीय दर्शन का कभी आदर्श नहीं रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि सुख के लिए भारत में इतना कड़ा विरोध या तो चार्वाकियों की चुनौती के रूप में, अथवा, मानव स्वभाव में सुखेप्सा की ज़बरदस्त उपस्थिति के कारण अभिव्यक्ति पा सका है। अतः भारतीय जीवन मूल्य के संदर्भ में यदि 'सुखवाद' शब्द का प्रयोग कभी करना ही है तो यह केवल 'नकारात्मक सुखवाद' के अर्थ में ही किया जा सकता है और यह एक ऐसा आदर्श है जिसे सभी भारतीय दार्शनिक संप्रदायों ने समानरूप से स्वीकार किया है।[४]

प्रश्न उठता है, क्या मोक्ष में दुःख से मुक्ति (दुःखाभाव) के नकारात्मक अर्थ के अतिरिक्त कोई और धनात्मक अर्थ भी है?

मोक्ष-आत्मानुभूति

मोक्ष की समस्या वस्तुतः आत्मा की समस्या से जुड़ी हुई है आत्मा का स्वरूप क्या है? इस तत्त्वमीमांसात्मक आधार पर ही मोक्ष के स्वरूप का निर्णय हो सकता है। बौद्ध-दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इसलिए मोक्ष का अर्थ इसमें दुःखों की समाप्ति भर है। यहाँ यदि मोक्ष को एक अचिन्त्य पूर्णता की स्थिति भी मान लें तो भी यह आत्मानूभूति तो नहीं ही है।

लेकिन अन्य भारतीय दर्शनों में मोक्ष अंततः आत्मानुभूति ही है और इस प्रकार यह एक निषेधात्मक मूल्य न होकर, एक स्वीकारात्मक परम मूल्य बन जाता है तथा शेष सारे मूल्य इसके परिप्रेक्ष्य में केवल साधन-मूल्य हो जाते हैं।

मोक्ष आत्मानुभूति की वह स्थिति है जिसमें पुरुष सभी बंधनों से मुक्त है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में इसी आत्मन् को 'अंतरात्मन्' कहा गया है। यह मनुष्य का आध्यात्मिक और आंतरिक सार है। मोक्ष वस्तुतः कोई बौद्धिक विचार-मात्र नहीं है, बल्कि एक वास्तविक आध्यात्मिक अनुभव है।

भारतीय दर्शन में आत्मन् को अपरिभाष्य माना गया है। उसे न तो किसी प्रकृतिवादी पद से और न ही किसी तथ्यात्मक या तत्त्वमीमांसात्मक पद द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। ऐसा करने से, जिसे मूल्य के संदर्भ में मूर ने 'प्रकृतिवादी-दोष' कहा था, उससे वह दूषित हो जाता है। इस बात को भारतीय दर्शन में बहुत पहले से ही समझ लिया गया था और इसीलिए आत्मन् की कोई परिभाषा यहाँ कभी नहीं दी गई। उसे अशब्द, अस्पर्श्य, अरूप, अरस, अगंधवत्, अनादि और अनंत माना गया।[५] इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मन् को नेति-नेति सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया गया और बताया गया कि आत्मन् को हम किसी भी बाह्य पदार्थ से परिभाषित नहीं कर सकते।[६] आत्मन्, इस प्रकार अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीय से तात्पर्य अपरिभाष्य और अविवरणीय-दोनों से है।

आत्मानुभूति के रूप में मोक्ष को जब हम अनिर्वचनीय कहते हैं, तो उसके बारे में हम विस्तृत रूप से उसका वर्णन प्रस्तुत भले ही न कर सकें किन्तु समझाने की दृष्टि से बहुत सी बातें उसके विषय में बेशक कही जा सकती हैं। इसीलिए उपनिषद्, आदि ग्रंथों में हमें अनेक संकेतात्मक विवरण मिलते हैं जो मोक्षानुभूति को समझने में निश्चित ही हमारे सहायक हैं। उदाहरण के लिए *तैत्तिरीय उपनिषद्* में ब्रह्म को 'सत्यं, ज्ञानम्' कहा गया है किंतु यह 'सत्यं-ज्ञानम्' कोई सामान्य ज्ञान नहीं है जो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी में आबद्ध हो। यह तो वह ज्ञान है जिसमें ज्ञान की त्रिपुटी तिरोहित हो जाती है। इसी प्रकार मोक्ष को 'दुर्दर्श' (एक कठिन अनुभूति) और 'गूढ़' आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है। यहाँ संकेत यह है कि इस आध्यात्मिक मूल्य को कुछेक लोग ही चरितार्थ कर पाते हैं। पुनः मोक्ष-प्राप्ति एक वैयक्तिक आदर्श न होकर, सार्वभौमिक आदर्श है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में कहा गया है कि आत्मन् के अंतर्गत सभी प्राणी (सर्वभूतानि), सभी देव, सभी लोक, सभी प्राण और सभी आत्मन् संयुक्त रूप से निहित हैं। इस प्रकार इस आध्यात्मिक मूल्य (आत्मा) में एक दूसरे के आत्मन् के बीच कोई द्वन्द्व नहीं रहता क्योंकि वह एकानुभूति है। *तैत्तिरीय उपनिषद्* में आत्मा को अनंत भी कहा गया है। यहाँ निश्चित ही अनंत से आशय केवल देश और काल के संदर्भ में सार्वभौमिकता या शाश्वतता के अर्थ में नहीं है बल्कि विषयों के संदर्भ में भी अनन्तता (अपृथकता) है।

आत्मानुभूति इस प्रकार, समझने की दृष्टि से, एक ऐसी अनुभूति है जो दुःखाभाव की स्थिति की ओर संकेत करती है, जो सत्-चित् स्वरूप है, दुर्दश और गूढ़ है,

सार्वभौमिक, सर्वभूतानि है, अनंत, शाश्वत और समावेशित है। आत्मानुभूति के रूप में मोक्ष केवल एक निषेधात्मक, दुःखाभाव की स्थिति न रहकर निश्चित ही एक सकारात्मक मूल्य बन जाता है।[७]

मोक्ष-आनंदानुभूति

मोक्ष आत्मानुभूति है। किंतु इस अनुभूति का स्वभाव क्या है? यह कैसी है? वस्तुतः यह बता पाना-बल्कि कहा जाए, यह संप्रेषित कर पाना अत्यंत कठिन काम है। एक तो इसलिए कि यह अनुभूति दुर्दर्श है, बहुत कम लोगों को ही प्राप्त है। हम एक उदाहरण लें। ओस से भीगी हरी घास का क्षणिक किंतु सुखद अनुभव एक सामान्य-अनुभव है जिसे कोई भी प्राप्त कर सकता है। अतः इसके संप्रेषण में कोई कठिनाई नहीं है। कठिनाई तब आती है जब कोई अनुभव दुर्लभ हो-कम लोंगो की अनुभूति में ही आया हो और फिर, आत्मानुभूति तो हरी घास की अनुभूति से भिन्न प्रकार की भी है। हरी घास का अनुभव इन्द्रियानुभव है जबकि आत्मानुभूति एक आध्यात्मिक-इन्द्रियानुभूति से परे-अनुभव है।

फिर भी, समझाने ही दृष्टि से ही सही, इस अनुभव का कुछ न कुछ तो वर्णन किया ही गया है। वस्तुतः मोक्षानुभूति अथवा आत्मानुभूति को लेकर भारतीय दर्शन में दो वर्ग बन गए हैं। पहला वर्ग मोक्ष के स्वभाव को दुःख की परिसमाप्ति, शोक का अतिक्रमण या दुःखाभाव की स्थिति के रूप में प्रस्तुत करता है, तो दूसरा वर्ग इसे धनात्मक रूप से आनंदमय मानता है।

बृहदारण्यक में स्पष्ट रूप से कहा गया है-'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः', अर्थात्, आत्मा को देखा जाना चाहिए। इससे पता चलता है कि आत्मा एक एषणीय वस्तु है-मूल्य है। इसी प्रकार गीता में बताया गया है कि जो आत्मानुभूति प्राप्त कर लेता है, वह संतुष्ट है, उसके लिए फिर कोई कार्य शेष नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मा को शांत भी कहा गया है।[८] मोक्ष इस प्रकार एक संतुष्ट और शांत अवस्था है। किंतु *तैत्तिरीय उपनिषद्* में तो 'ब्रह्मन्' कहा गया है।[९] बाद में वेदान्त ग्रंथों में भी मोक्ष को 'परमानंद'[१०] 'उत्तम-सुख'[११] 'अक्षय-सुख'[१२] और 'मोदनीय',[१३] आदि कहा गया है।

वस्तुतः यदि मोक्ष को हम केवल एक नकारात्मक अनुभव ही मानें और किसी भी स्वीकारात्मक अंतर्वस्तु से पूर्णतः रहित मानें तो यह एक निरर्थक अवधारणा-या कोरी अवधारणा मात्र-रह जायेगा। यह ठीक नहीं लगता। भले ही मोक्ष का विश्लेषण

संभव न हो लेकिन मोक्ष साधनों और मोक्ष-परिस्थितियों से संबंधित अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे मोक्ष की रिक्त-अवधारणा पूरी तरह निरस्त हो जाती है। इसीलिए भारतीय दर्शन ने सामान्यतः मोक्ष को आत्मानुभूति कहा है। उपनिषद्-दर्शन तो अंततोगत्वा आनंद को ही परम-मूल्य कहता है। आनंद ब्रह्म है। आनंद में ही सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनंद में ही जीवित रहते हैं और अंत में आनंद में ही प्रवेश कर जाते हैं।[१४] पुनः, सुधीगण उसे (ब्रह्म) ज्ञान के प्रकाश में देखते हैं और अमृत (अर्थात् वह अवस्था जिसमें मृत्यु से मुक्ति पा ली गई हो) स्वयं को आनंद के रूप में अभिव्यक्त करता है।[१५]

अतः आत्मसाक्षात्कार (मोक्ष) अनिवार्यतः आनंद-लाभ है। इस आनंद की लौकिक सुख से तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों में एक गुणात्मक अंतर है। आनंदानुभूति अपने प्रकार का एक विलक्षण अनुभव है।[१६]

सामान्य लोगों के अनुभव में जो सुख (अथवा, कहें-आनंद) का अनुभव होता है वह सावधिक है-आता-जाता रहता है। यह आगंतुक और क्षणिक है। पुनः कोई भी सावधिक सुख विशुद्ध नहीं होता। भोग और भोगांत दोनों में यह दुःख से संपृक्त रहता है। इसे पाकर भी उपभोग की इच्छा अतृप्त रहती है। किंतु यह सावधिक सुख निस्संदेह निरवधि आनंद की ओर निर्दिष्ट अवश्य करता है। जिस प्रकार अभ्यास या प्रतिबिंब अपने मूल-बिम्ब को लक्षित करता है, उसी प्रकार सातिशय और सावधिक सुखों का तारतम्य निरवधिक और निरतिशय आनंद को लक्षित करता है। सामान्यतः दार्शनिक शब्दावली में परिमित सुख के लिए शब्द, 'आनंद' प्रयुक्त नहीं होता। अपरिमित तथा नित्य सुख ही 'आनंद' है।[१७]

अतः मोक्ष केवल दुःखाभाव की निषेधात्मक स्थिति ही नहीं है, यह आनंदानुभूति की एक धनात्मक अवस्था भी है। मोक्षावस्था का आनंद सामान्य-सुख का पर्यायवाची नहीं है बल्कि यह वस्तुतः वह आनंद है जो दुःख-सुख की दोनों ही अनुभूतियों का अतिक्रमण कर जाता है। यह एक पूर्ण, संतुष्ट और शांत अनुभूति है।

आत्मानुभूति और आत्मसंयम

मोक्ष की स्थिति व्यावहारिक जगत् की सभी कोटियों का संक्रमण कर जाती है। वह सामान्य इन्द्रियानुभवों के अर्थ में अनुभवातीत है। अतः यह आवश्यक है कि इस बात की विवेचना की जाए कि आनुभविक और अनुभवातीत मूल्य किस प्रकार एक

दूसरे से संबंधित हैं और क्या आनुभविक से अनुभवातीत तक पहुँचा जा सकता है?

मोक्ष अंततः एक ऐसा मूल्य है जो अन्य सभी त्रिवर्गीय मूल्यों से निवृत्ति के उपरांत ही प्राप्त किया जा सकता है। *महाभारत* में सभी मूल्यों का संबंध कुछ इस प्रकार चित्रित किया गया है- "धर्म सदा से ही अर्थ प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल कहलाता है, परंतु इन तीनों का मूल कारण है- संकल्प, और संकल्प विषय रूप होता है। सभी विषय पूर्णतः इन्द्रियों के उपभोग में लाने हेतु होते हैं। यही धर्म, अर्थ और काम का मूल है, इससे निवृत्त होना ही 'मोक्ष' है।"[१८]

यदि ऐसा है तो मोक्ष और त्रिवर्गीय मूल्यों के बीच, ऐसा प्रतीत होता है, एक बड़ी अपाट्य खाई है जिसे भर पाना असंभव सा लगता है। किंतु वस्तुतः ऐसा है नहीं।

मोक्ष अथवा आत्मानुभूति एक क्रमिक प्रक्रिया है। अन्य जितने भी मूल्य हैं वे मूल्य केवल इसलिए हैं कि वे कमोबेश आत्मानुकूल हैं। अंततोगत्वा मूल्य का स्वरूप आत्मसंकेत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है- "आत्मवस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"। जैसे-जैसे व्यक्ति अधिकाधिक आत्मानुकूल मूल्यों को चरितार्थ करता जाता है, वह मोक्ष की ओर बढ़ता जाता है। किंतु मूल्यों को चरितार्थ किस प्रकार किया जाए कि जिससे परम पुरुषार्थ तक पहुँचा जा सके?

इसके लिए सभी भारतीय दार्शनिक संप्रदायों ने आत्मानुशासन अनिवार्य बताया है। आत्मानुभूति अंततः आत्मानुशासन से ही संभव है। आत्मानुशासन एक नैतिक संयम है जिसमें व्यक्ति धीरे-धीरे अपने अहम् का नाश करता है। अहम् आत्मा के वास्तविक ज्ञान में सर्वाधिक बाधक है। वेदांत में मुमुक्षु को श्रवण, मनन और निदिध्यासन- इन तीन प्रकार की मानसिक क्रियाओं को साधना पड़ता है। इस प्रक्रिया में नानत्व का, कि जो अविद्या कृत है, साक्षात्कार होता है और मुमुक्षु 'तत्त्वमसि' से 'अहंब्रह्मास्मि' की ओर बढ़ता है। बौद्ध दर्शन में अष्टांगिक-मार्ग की व्यवस्था की गई है जो इस प्रकार है- सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस मार्ग का अनुसरण करने से तृष्णा का निरोध होता है और अंततः भवचक्र से मुक्ति मिलती है। सांख्ययोग में साधना के आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इस साधना से मुमुक्षु अहंभाव से मुक्त होता है। सांख्य ईश्वर में विश्वास नहीं करता, लेकिन योग ईश्वरप्रणिधान या भक्ति को भी मोक्ष का साधन मानता है। किंतु यह श्रद्धालु अथवा

अज्ञानियों के लिए ही स्वीकार किया गया है क्योंकि वे कठोर योगांगों का अभ्यास कर पाने में कठिनाई अनुभव करते हैं।

आशय यह है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मसंयम, नैतिक अनुशासन और धर्मानुसार आचरण आवश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि धर्म ही मोक्ष-मार्ग है। धर्म का प्रवेश जहाँ एक ओर अर्थ और काम को मूल्यवत्ता प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर वह मोक्ष-मार्ग भी प्रशस्त करता है। मोक्ष भले ही परम मूल्य हो, किंतु वह त्रिवर्ग को, पूरी तरह निरस्त नहीं करता क्योंकि धर्म, अर्थ और काम साधन-मूल्य तो बने ही रहते हैं। साधन बिना साध्य तक पहुँच पाना असंभव है। स्पष्ट ही त्रिवर्गीय साधन-मूल्यों में, मूल्य की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व धर्म का ही है। धर्म और मोक्ष- इन दोनों को ही आध्यात्मिक और उच्चतर मूल्यों की तरह स्वीकार किया गया है।[९८] इनकी अपेक्षा अर्थ और काम निम्नतर मूल्य हैं किंतु वे भी मूल्य-विहीन नहीं हैं। उनकी अपनी मूल्यवत्ता असंदिग्ध है।

क्या जीवन-मुक्ति संभव है?

मोक्ष की अवधारणा में प्रायः एक संदेह यह उठाया गया है कि क्या मोक्ष अथवा निरपेक्ष आनंद के आदर्श को वस्तुतः हासिल किया जा सकता है? यह प्रश्न एक अर्थ में बेमाने है क्योंकि मोक्ष को प्राप्त करना, जैसा कि हम सभी ऊपर स्पष्ट कर आए हैं, क्रमिक होता है। मोक्ष तक पहुँचने के लिए अनेक सोपान हैं और हर सोपान पर यह सम्पन्न होता रहता है।[९९] तो फिर क्या इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मानुभूति की प्रक्रिया एक अनंत प्रक्रिया है और इस पर कभी विराम लग ही नहीं पाता? और यदि यह अनंत नहीं है और किसी स्तर पर आकर पूर्णता को प्राप्त होती है तो क्या यह पूर्णता कभी प्राप्त हो सकती है? अधिकतर दार्शनिक संप्रदाय कुल मिलाकर इस मत के हैं कि पूर्णता के इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि संसार जो हमें बाँधता है उसमें अपने ही नाश के बीज निहित हैं और देर-सबेर उसका नाश हमें पूर्णता की ओर ले जाएगा। धर्मानुसार साधना इस प्रक्रिया को केवल अधिक शीघ्रता प्रदान करती है।

भारतीय दर्शन के कुछ संप्रदाय मोक्षानुभूति को व्यक्ति के जीवन में ही संभव बताते हैं। पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो उनके अनुसार 'जीवन-मुक्ति' संभव है। *कठोपनिषद्* में स्पष्ट कहा गया है कि जब हमारे हृदय की सभी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, मनुष्य

अमर हो जाता है और तब वह 'अब और यहीं' अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। यही बात अन्यान्य उपनिषदों में भी दोहराई गई है।[२१] बहुत से व्याख्याकार उपनिषदों में उल्लिखित ऐसे कथनों को बहुत गम्भीरता से नहीं लेते। उनके अनुसार ये केवल काव्यात्मक प्रस्तुतियाँ भर हैं, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि जबतक कि शरीर है तब तक मनुष्य कितना ही निष्काम भले ही क्यों न हो जाए, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[२२]

किंतु वेदान्ताचार्यों में शंकराचार्य जैसे दार्शनिकों तक ने जीवनमुक्ति को संभव बताया है। उनका कहना है कि आत्मानुभूति को यद्यपि वैयक्तिक/आत्मनिष्ठ नहीं कहा जा सकता, पर वह फिर भी आत्मानुभूति ही है और इसलिए कोई भी दूसरा व्यक्ति जिसने इस अनुभूति का आस्वादन नहीं किया है, इसे निरस्त नहीं कर सकता। जीवन मुक्ति को न मानने वाले भी इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि निष्काम व्यक्ति के निधन के तत्काल बाद ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। निधन और मोक्ष-प्राप्ति के मध्य कोई अंतराल नहीं होता-ठीक वैसे ही जैसे सूर्योदय के समय में और अंधकार के तिरोहित होने के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती।

जो व्यक्ति जीवन मुक्ति प्राप्त कर लेता है, उसे कर्म से निवृत्त होने की आवश्यकता नहीं रहती। जीवनमुक्ति एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यावहारिक जगत् का तिरोभाव हो जाता है और फिर भी वह ज्यों का त्यों बना रहता है इस स्थिति में सिद्धपुरुष न तो सुख और न ही दुःख से प्रभावित होता है क्योंकि उसका कर्म तब पूरी तरह निर्वैयक्तिक हो जाता है और वह बाह्य परिस्थितियों के प्रति जो भी प्रतिक्रियाएँ/क्रियाएँ करता है उन्हें स्वयं से (अहम् से) असंबद्ध रखता है। वह सही-ग़लत, आत्म-प्रशंसा और आत्मनिंदा, दोनों से ही ऊपर उठ जाता है और पूरी तरह एक मुक्त और पूर्ण व्यक्ति की तरह आचरण करता है। वह निष्क्रिय जीवन नहीं जीता और न ही उसकी वृत्ति निराशाजनक होती है। मोक्ष की स्थिति एक परमानंद की स्थिति है। आज भी हमारे बीच ऐसे तमाम संन्यासी हैं जो अपने जीवन में ही मुक्ति का आस्वादन कर चुके हैं और वे प्रेम, करुणा तथा अनासक्त आनंद से परिपूरित होने के कारण अपने मुख-मण्डल पर एक निरंतर स्मित-भाव बनाए रखने में सफल देखे गए हैं।[२३]

सांख्य-दर्शन भी जीवन-मुक्ति को स्वीकार करता है और इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में भी इसी लोक में परम निर्वाण संभव बताया गया है। स्पष्ट ही जो दर्शन/दार्शनिक 'जीवन-मुक्ति' को संभव बताते हैं वे अधिक मूल्याधारित चिंतन प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं क्योंकि सभी मूल्य जीवन संदर्भ के बिना अपनी मूल्यवत्ता तो खो ही देते हैं।

सर्व-मुक्ति

मोक्ष के संबंध में एक अन्य प्रश्न यह भी है कि क्या इस आदर्श को हर कोई प्राप्त कर सकता है, या केवल कुछ लोग ही प्राप्त कर सकते हैं? और यदि हर कोई इसे प्राप्त कर सकता है तो क्या हर कोई इसे पृथक्-पृथक् प्राप्त कर पाने में सफल हो पाता है या सभी एक साथ प्राप्त करते हैं?

प्रश्न यहाँ केवल जीवन-मुक्ति का नहीं है बल्कि सर्व-मुक्ति का है, और इस संबंध में दार्शनिकों में भी काफी विवाद है। निश्चय ही मोक्ष को एक व्यक्तिगत विषय नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मानुभूति व्यक्तिगत अनुभूति न होकर सार्विक-आत्मा की अनुभूति है और जिसने यह अनुभूति प्राप्त कर ली है, या प्राप्त करने की योग्यता हासिल कर ली है, वह अन्य सभी के उत्थान के लिए कार्य करता है और यह वह पूर्णतः निष्कामता से करता है। इसमें उसका अपना लाभ नहीं होता। वह निस्वार्थ होता है। निष्काम-कर्म जो आत्मानुभूति से पहले तक आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए था, आत्मानुभूति के बाद उसका विस्तार 'सर्व-मुक्ति' के लिए हो जाता है। 'जीवन-मुक्ति' इस प्रकार 'सर्व-मुक्ति' को नकारती नहीं। जीवन-मुक्ति द्वारा ही सर्व-मुक्ति के लिए कार्य किया जा सकता है।

पुरुषार्थ चतुष्टय और पंचकोष

मोक्ष की उपलब्धि अथवा आत्मानुभूति एक क्रमिक प्रक्रिया के अंतर्गत सम्पन्न होती है। इसके अनेक सोपान हैं। इस प्रक्रिया को समझने के लिए पंचकोष की धारणा, जिसे सर्वप्रथम हम *तैत्तिरीय उपनिषद्*[२४] में पाते हैं, अत्यंत सहायक सिद्ध हो सकती है।

पंचकोषीय सिद्धान्त के अनुसार हमारी वास्तविक आत्मा पाँच 'कोषों' में आबद्ध है। आत्मानुभूति के लिए पुरुष को क्रमशः इन सबका अतिक्रमण आवश्यक है। ये पाँचों कोष आत्मा के स्थूलतम शरीर से लेकर सूक्ष्मतम 'शरीर' तक का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हें प्रतीकात्मक रूप से संकेंद्रित वृत्तों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इनमें प्रत्येक उत्तरगामी वृत्त अपने पूर्वगामी वृत्त के अंतर्गत समाया हुआ रहता है। ये पाँचों वृत्त (अथवा 'कोष') क्रमशः इस प्रकार हैं- अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष-

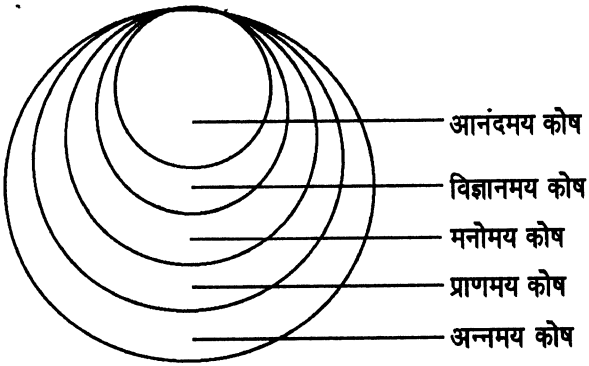

अन्नमय कोष आत्मा का स्थूलतम शरीर है। यह पुरुष के शारीरिक-भौतिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जो भोजन पर पलता है। अन्न से उत्पन्न और अन्न पर ही आधारित रहने के कारण देह को अन्नमय कहते हैं। माता-पिता द्वारा जो अन्न खाया जाता है वह रक्त और धातु में परिवर्तित होता है और वह बाद में शरीर का रूप धारण करता है। यह शरीर आत्मा को अपने अंदर छिपा लेता है ठीक वैसे ही जैसे मानों म्यान में तलवार हो। इसीलिए अन्नमय कोष को आत्मा का 'पाँचवाँ' वस्त्र भी कहा जाता है। यह आत्मा का बाह्यतम स्वरूप है। अन्नमय कोष जहाँ जीव के स्थूलतम शरीर की ओर संकेत करता है, वहीं वह जगत् के भौतिक पक्ष का भी प्रतिनिधित्व करता है। यह ब्रह्म का सांसारिक सत्ता के रूप में प्रकट होने वाला स्थूलतम रूप है। उपनिषद् कहता है, अन्न से ही जगत् के सभी जीव उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और वह उन्हीं को खा लेता है। इसीलिए इसे 'अन्न' कहा गया है। अन्न से क्योंकि सभी जीव बढ़ते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं, अतः इसे 'सर्वोषधि' भी कहा गया है।

अन्नमय कोष के भीतर रहने वाला दूसरा कोष प्राणमय कोष है। जिस तरह अन्नमय कोष पुरुष के स्थूलतम शरीर का प्रतिनिधित्व करने वाला है, उसी तरह प्राणमय कोष भी पुरुषकार ही है। वह, जहाँ एक ओर, अन्नमय कोष से परिपूर्ण है (बिना अन्न के हम प्राण की कल्पना नहीं कर सकते), वहीं, दूसरी ओर, प्राणमय कोष अन्नमय कोष का पूरक है। यदि अन्न, प्राणमय न हो तो वह निर्जीव शरीर मात्र होगा। उसमें जीवन शक्ति नहीं होगी। प्राणमय कोष श्वास से निर्मित है और श्वास जीवित प्राणियों की/भौतिक जगत् की शक्ति है। इसी जीवन-तत्त्व से मिलकर देह सारी क्रियाएँ करती

है। यह पाँचो कर्मेन्द्रियों और पाँच प्रकार के श्वासों का संयोजन है। (पाँच कर्मेंद्रियाँ-मुख, हाथ, पैर, मलद्वार और मूत्रद्वार तथा पाँच श्वास-अपान, समान, उदान, व्यान और प्राण जिनका निवास क्रमशः मलाशय, नाभि, कंठ, संपूर्ण शरीर और हृदय है।) जीव इन्हीं के कारण बोलता, चलता-फिरता, खाता-पीता, आदि दिखाई देता है।

प्राणमय कोष के भीतर मनोमय कोष है। जहाँ प्राण से अन्नमय कोष पूर्ण होता है, वहीं मन से प्राणमय कोष पूरित है। यह कोष भी अन्य कोषों की तरह पुरुषकार है। मनोमयकोष इन्द्रियों द्वारा निर्मित है जिनमें ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मन, जो आंतरिक इन्द्रिय है, भी सम्मिलित है। इसी से व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण (इन्द्रियानुभव) और चिंतन कर पाने में सक्षम हो पाता है। जगत् के परिप्रेक्ष्य में मनोमय कोष अविद्या रूप है और इसी से पुरुष को सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है। यह आत्मा को आवृत करने वाला पाँच कोषों में तीसरा कोष है।

मनोमय कोष के भीतर विज्ञानमय कोष है। विज्ञान, मनोमय का पूरक होता है अतः विज्ञानमय भी पुरुषकार है। विज्ञानमय कोष चेतना द्वारा प्रकाशित है। यह बुद्धि सहित ज्ञानेन्द्रियों से युक्त है। इसी के कारण पुरुष का कर्त्ता और भोक्ता होना संभव हो पाता है। मनोमय कोष के अंदर रहने वाला सामान्यतः 'जीव' कहलाता है। बुद्धि-तत्त्व के कारण यह जीव प्रज्ञावान है। सार्विक दृष्टि से विज्ञानमय कोष कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःख आदि अहंकार विशिष्ट पुरुष के संसार का कारण है।

विज्ञानमय कोष का अंतर्वर्ती आनन्दमय कोष है। आनंद विज्ञानमय कोष का पूरक होता है। अतः यह भी स्पष्टतः पुरुषकार है। यह अंतःकरण का प्रतिनिधित्व करता है जिसके कारण प्रिय, मोद और प्रमोद आदि जैसी सात्विक वृत्तियाँ बलवती होती हैं। यह पुरुष के उस रूप का प्रतिनिधित्व करता है जिसने सभी भोगों को प्राप्त करने के बाद, इच्छाओं सुखों और भोगों पर विजय प्राप्त कर ली है। यह निष्काम पुरुष है।

क्या आनंदमय कोष ही आनंदस्वरूप आत्मन् है? उपनिषद् आनंदमय कोष को परम ब्रह्म (आत्मन्) नहीं मानता। यद्यपि यह भी कहा गया है कि मुक्त पुरुष आनंदमय कोष को प्राप्त होता है। वेदान्तियों में इस संदर्भ में थोड़ा विवाद है। शंकराचार्य और सुरेश्वर आनंदमय कोष का ब्रह्म से तादात्म्यीकरण नहीं करते जबकि गौड़पाद इस तादात्म्यीकरण को स्वीकार करते हैं।[२५]

कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म जहाँ आनंदस्वरूप है, आनंदमय कोष आनंद-स्वरूप न होकर केवल आनंदमय है। बेशक आत्मानंद सभी अन्य प्रकार के सुखों

और उनके विभिन्न प्रकारों से अलग है, मुक्त है। आनंदमय कोष के 'आंनद' और आत्मानंद के बीच घपला नहीं करना चाहिए। आत्मानंद पाँचों कोषों में व्याप्त है- और आनंदमय कोष में भी है। किंतु आनंदमय कोष में आनंद बुद्धि से आबद्ध है। वह हमारे स्वप्न और बच्चों के प्रति हमारे प्रेम और एषणीय पदार्थों की खोज, इत्यादि में अभिव्यक्ति पाता है।[२६] पंचकोषीय सिद्धान्त में सभी कोष आत्मन् (या पुरुष) के स्थूल से अपेक्षाकृत सूक्ष्म शरीर की ओर अग्रसर हैं। अन्न, प्राण की ओर, प्राण मन की ओर, मन, विज्ञान की ओर,और विज्ञान, आनंद की ओर उन्मुख है। आनंदमय कोष का अतिक्रमण करते ही जीव आनंद- स्वरूप आत्मन् की अनुभूति (आत्मानुभूति) प्राप्त कर लेता है। आनंदस्वरूप आत्मन् वस्तुतः वह मुक्त पुरुष है जिसने सभी पाँचों कोषों से मुक्ति प्राप्त कर ली है।

इन सभी कोषों का पुरुष ही अंततः पूरक है। पूरणात् इति पुरुषः। प्राणमय कोष, अन्नमय कोष का पूरक है और मनोमय कोष, प्राणमय कोष का पूरक है। विज्ञानमय कोष, मनोमयकोष का पूरक है तो आनंदमय कोष विज्ञानमय कोष का पूरक है और अंततः मुक्त पुरुष की उपलब्धि ही आंनदमय कोष को पूर्णता प्रदान करती है। सभी कोष इस प्रकार पुरुषकार हैं। पुरुष के ही क्रमशः सूक्ष्म होते जा रहे शरीर हैं।

पंचकोषीय सिद्धान्त, इस प्रकार एक ऐसी पद्धति प्रस्तुत करता है कि जिसके माध्यम से हम क्रमिक रूप से आत्मन् की ओर अग्रसर होते हैं। यह आत्मा की ओर जीव या पुरुष के उपगमन का सूचक है।[२७]

मूल्यों की पुरुषार्थ-चतुष्टय पद्धति और अस्तित्व की पंचकोषीय पद्धति-दोनों में ही, आत्मा, (ब्रह्म) या मोक्ष को अंतिम आदर्श माना गया है जिस तक पहुँचना पुरुष/जीव का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को त्रिवर्गीय पुरुषार्थों/अथवा, पाँच कोषों के अतिक्रमण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। *महाभारत* में स्पष्ट कहा गया है कि मोक्ष त्रिवर्ग से निवृत्ति है। इसी प्रकार पाँचों कोषों को जब तक जीव/पुरुष क्रमशः पार नहीं कर लेता वह ब्रह्मानंद की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मानुभूति या मोक्ष, इस प्रकार, दोनों ही पद्धतियों में परम मूल्य है।

इस परम-मूल्य तक पहुँचने के लिए विभिन्न सोपानों से होकर गुजरना पड़ता है। जीव सर्वप्रथम एक शरीर है जिसमें प्राण है। अतः सर्वप्रथम जीव की शारीरिक-जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। जीवित प्राणी के रूप में जीव के लिए उसकी भौतिक-जैविक आवश्यकताएँ ही मूल्यवान होती हैं, अतः अन्न और प्राण के स्तर पर

हम केवल उन्हीं मूल्यों की परिकल्पना कर सकते हैं जो 'प्राणानुकूल' हों। अर्थात्, जो प्राण-रक्षा और शरीर-रक्षा के प्रयोजन को साध सकें। इस स्तर पर प्राण-चेष्टा ही मूल इच्छा है और प्राण-रक्षा ही मूल प्रयोजन है। किंतु ये प्रथमोन्मिषित मूल्य हैं। इन्हें अंतिम साध्य नहीं माना जा सकता। प्राण-रक्षा आदिम साध्य है, अंतिम साध्य नहीं है।[२८]

प्राणरक्षा, देहरक्षा, प्रजाहित संरक्षण आदि ऐसे प्रयोजन हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए, स्पष्ट ही, मोटे तौर पर जिसे अर्थ कहा गया है- उसकी आवश्यकता होती है। अन्नमय और प्राणमय कोष अंततः अर्थाधारित हैं। आर्थिक मूल्य ही वे साधन मूल्य हैं जिनसे प्राण रक्षा आदि की इच्छाएँ संतुष्ट की जा सकती हैं।

अन्नमय और प्राणमय कोषों के उपरांत मनोमय कोष आता है। मनोमयकोष मन द्वारा आबद्ध है। यह पुरुष की कामनाओं का स्तर है। सभी प्रकार की कामनाएँ-वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा - इस स्तर पर मूल्यवान बन जाती हैं। मनुष्य अन्नमय और प्राणमय कोषों की रक्षा करता हुआ, उनका किसी सीमा तक संक्रमण भी इस स्तर पर कर जाता है और उसके लिए वे सभी कामनाएँ मूल्यवान बन जाती हैं जो सुखानुकूल होती हैं। अन्नमय और प्राणमय कोषों के स्तर पर 'प्राण की अनुकूलता' मूल्य का पैमाना है। किंतु मनोमय कोष के स्तर पर यह पैमाना 'सुख की अनुकूलता' में बदल जाता है। पशु जीवन में सामान्यतः सुखात्मक और दुःखात्मक संवेदनों की एक प्रकृति सिद्ध व्यवस्था नियत रहती है। यह उन्हें राग-द्वेष, जो क्रमशः सुख-दुःख से आसक्त होते हैं, के द्वारा प्राण-रक्षा (वैयक्तिक और जातीय) की ओर प्रवृत्त एवं विघ्नों से निवृत्त करती हैं।[२९] किंतु मानव जीवन अधिक जटिल होने के कारण सुखानुकूलता की चेतन तलाश है। वह प्रकृति सिद्ध सुख व्यवस्था का अतिक्रमण कर अनेकानेक सुखों का निर्माण और उनकी खोज करता है। यह सब मनोमय कोष के स्तर पर ही संभव है।

मनोमय कोष से संबंधित प्रयोजनों (ऐंद्रीय-सुखों) को प्राप्त करने के लिए किन्हीं साधन मूल्यों (माध्यमों) की आवश्यकता होती है। इस स्तर पर कामनाएँ 'साध्य' होती हैं किन्तु इनकी 'प्राप्ति' किन्हीं साधन-मूल्यों पर निर्भर करती है। अतः अर्थ जो अभी तक केवल शारीरिक-जैविक स्तर पर साधन मूल्य था, मनोमय स्तर पर भी साधन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित बना रहता है। किंतु मनोमय कोष के अपने मूल्य हैं जो मुख्यतः मनोवैज्ञानिक मूल्य हैं और जिन्हें मूल्यों की पुरुषार्थ पद्धति में 'काम' कहा गया है।

मनोमय कोष के स्तर पर जो मनोवैज्ञानिक मूल्य हैं वे निश्चित ही स्वतः मूल्य हैं किन्तु वे स्वतः मूल्य केवल इस अर्थ में हैं कि सुख (काम) की तलाश मुंनष्य केवल

सुख के लिए ही करता है, इसमें और कोई प्रयोजन नहीं होता। किंतु सुख की निरंकुश कामना आत्मघाती भी हो सकती है। होती ही है। अतः यह आवश्यक है कि सुख की तलाश पर अंकुश लगाया जाए। यह अंकुश बुद्धि लगाती है। वस्तुतः किसी भी विषय की मूल्यवत्ता तभी समझ में आती है जब उसे बुद्धि और विवेक के जटिल-संदर्भ में रखा जाए। शुभाशुभ विवेक के पीछे काम करने वाली शाक्ति बुद्धि ही है।

विज्ञानमय कोष बुद्धि विशिष्ट कोष है। मनोमय कोष, जहाँ मन द्वारा आबद्ध है, वहीं विज्ञानमय कोष बुद्धि द्वारा संचालित है बुद्धि को हम नैतिक विवेक का प्रथम सोपान कह सकते हैं। बुद्धि द्वारा ही मनुष्य यह तय कर पाता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं। काम अमर्यादित नहीं छोड़ा जा सकता। और यही बात अर्थ पर भी लागू होती है। ऐसे में अर्थ और काम को मर्यादित करना बुद्धि का काम है। बुद्धि से आशय यहाँ केवल सैद्धान्तिक-बौद्धिक व्यापार नहीं है बल्कि उस विवेक से है जो अच्छे और बुरे में अंतर कर सके। अतः कहा जा सकता है कि विज्ञानमय कोष के स्तर पर अर्थ और काम को मर्यादित करने वाला नैतिक-विवेक अधिक मूल्यबान हो जाता है। इसी को पुरुषार्थ व्यवस्था में 'धर्म' कहा गया है। धर्म, जैसा कि हम देख आए हैं, नैतिक मूल्यों का वर्ग है और ये मूल्य विज्ञानमय कोष के स्तर पर अपनी पहचान बनाते हैं किंतु इनका कार्य अर्थ और काम में प्रविष्ट होकर उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करना भी है।

विज्ञानमय स्तर पर धर्म अथवा नैतिक मूल्य मूलतः बुद्धि द्वारा नियोजित हैं। लेकिन बुद्धि सदैव ही सही नैतिक-विवेक नहीं दे पाती। उस पर अक्सर अन्य कारक हावी हो जाते हैं और मूल्यों के चुनाव में, उनके वरण में, वह ग़लती कर सकती है। नैतिक विवेक के लिए एक लंबे अनुशासन की जरूरत होती है। इसे प्राप्त करने के बाद व्यक्ति फिर बाह्य लालच या दंड आदि से प्रभावित नहीं होता और अपने कार्यों की फलेच्छा उसे विचलित नहीं करती। वह निस्पृह होकर कार्य कर सकता है। इस प्रकार निष्काम होकर कार्यों का संपादन उसका स्वभाव बन जाता है। उसे इसके लिए तर्क जुटाने की आवश्यकता नहीं रहती। वह सहज रूप से अपने आंतरिक विवेक से कार्य करने लगता है। यह आंतरिक विवेक बुद्धि न होकर 'अंतःकरण' कहलाता है।

विज्ञानमय कोष जहाँ बुद्धि द्वारा आबद्ध है, आंनदमय कोष बुद्धि की बजाय अंतःकरण द्वारा संचालित है। बुद्धि और अंतःकरण दोनों ही नैतिक-विवेक हैं किंतु अंतःकरण स्पष्ट ही बुद्धि से अधिक विकसित और आत्मन् के अधिक निकट है। 'धर्म',

अथवा, नैतिक मूल्य इन दोनों का ही प्रतिनिधित्व करता है। अतः कहा जा सकता है कि विज्ञानमय और आनंदमय कोषों के मूल्य नैतिक-मूल्य हैं, अथवा, एक शब्द में, धर्म, हैं।

निस्पृह होकर धर्म के पालन में जो अपना आनंद है उसकी तुलना स्पष्ट ही काम में निहित सुख से नहीं की जा सकती। काम-सुख मूलतः इन्द्रिय-सुख है जबकि अंतःकरण से किए गए धर्मानुसार कर्म इन्द्रिय-सुख का अतिक्रमण कर जाते हैं। वे निष्काम होते हैं। ये निष्काम कर्म 'आत्मानुकूल' हैं, न कि 'सुखानुकूल' और आत्मा स्वयं आनंदस्वरूप है। नैतिक मूल्य इस प्रकार आत्मानुभूति या मोक्ष के सर्वाधिक निकट हैं। 'धर्म' को इसीलिए मुक्ति-मार्ग कहा गया है।

पंचकोषीय पद्धति और मूल्यों की पुरुषार्थ पद्धति-ये दोनों ही समानान्तर पद्धतियों के रूप में देखी जा सकती हैं। पंचकोषीय पद्धति व्यक्ति के अस्तित्व के पाँच सोपान बताती है जिसमें से होकर व्यक्ति आत्मानुभूति प्राप्त करता है। मूल्यों की पुरुषार्थ पद्धति पुरुष के प्रयोजनों की ओर संकेत करती है जिनमें अंतिम मूल्य मोक्ष है, जिसे अन्य तीन मूल्यों (त्रिवर्ग) से निवृत्ति के बाद प्राप्त किया जा सकता है। अस्तित्व की दृष्टि से अन्न, प्राण की अपेक्षा; प्राण, मन की अपेक्षा; मन, विज्ञान की अपेक्षा और विज्ञान, आनंद की अपेक्षा अधिक आवश्यक और आग्रही है किंतु मूल्य की दृष्टि से यह क्रम उल्टा हो जाता है। परम मूल्य की अपेक्षा से अन्य सभी मूल्य केवल साधन मूल्य हैं और साधन मूल्यों में भी धर्म सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि एक ओर वह अर्थ और काम को मर्यादित कर, उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करता है और दूसरी ओर वह मोक्ष-मार्ग भी है। इसके अतिरिक्त वह पूरी मूल्य-पद्धति में एक ऊर्ध्वगामी प्रेरक है जो अर्थ और काम का भी उदात्तीकरण करता है और स्वयं भी मोक्षोन्मुख है। पुरुषार्थ व्यवस्था में धर्म को एक प्रेरक शक्ति के रूप में इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है -

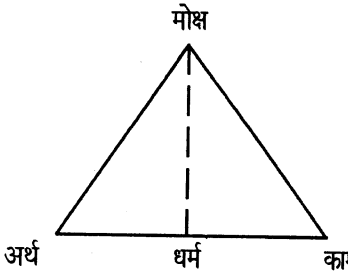

इसी प्रकार पंचकोषीय व्यवस्था और पुरुषार्थ-पद्धति को भी उनके समानान्तर संबंध को रेखांकित करते हुए इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है-

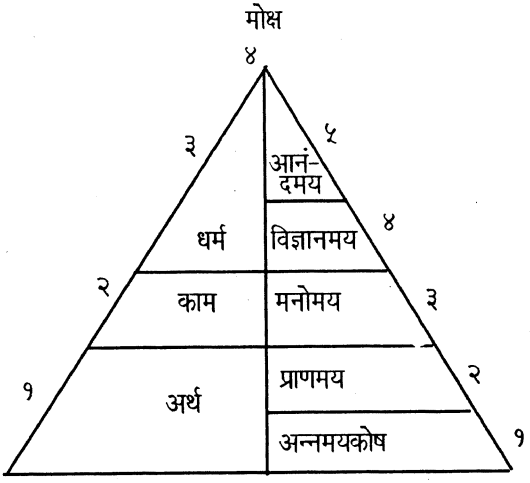

उपर्युक्त आरेख में जो अस्तित्व की पंचकोषीय पद्धति और मूल्यों की चतुर्वर्गीय-पद्धति चित्रित की गई है वह बिंदुवार समानान्तर नहीं है। उसे केवल एक मोटे अर्थ में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसका आशय केवल यही बताना है कि अस्तित्व के किन-किन स्तरों पर कौन-कौन से मूल्य महत्त्वपूर्ण होते हैं। किन्तु जैसा कि हम जानते हैं मनुष्य केवल एक ही स्तर पर नहीं जीता। वह अनेक स्तरों पर साथ-साथ जीता है। भले ही उच्चतर स्तर पर उसके पूर्ववर्ती स्तर का महत्त्व कम क्यों न हो जाए, वह पूर्णतः (मोक्ष प्राप्ति से पहले) समाप्त नहीं हो जाता। जीवन मुक्ति के बाद तक भी, व्यक्ति जब तक शरीरधारी रहता है उसके लिए अर्थ का थोड़ा-बहुत तो मूल्य रहता ही है क्योंकि देह से मुक्ति तो अभी शेष रह ही गई है। अतः यह सोचना कि जीवित रहते अस्तित्व का कोई भी स्तर पूर्णतः महत्त्वहीन होकर विमूल्य हो जा सकता है, ग़लत होगा। सभी मूल्य और सभी कोषीय स्तर अपना न्यूनाधिक महत्त्व बनाए रखते हैं।

शायद इसीलिए पुरुषार्थ-मूल्य व्यवस्था एक ऐसी पद्धति है जिसमें अनावश्यक शारीरिक तप को स्थान नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य की शारीरिक वृत्तियों को यदि पूरी छूट दे दी जाए तो वे उच्छृंखल होकर हानिकारक हो जाती हैं। किंतु इसका अर्थ यह भी नहीं कि उन्हें पूरी तरह 'दमित' कर दिया जाए। कठिन शारीरिक कष्ट और तप द्वारा आत्मनिग्रह के नितांत निवृत्ति मार्ग को अपनाया जाए। जो व्यक्ति केवल

अपनी शारीरिक और मानसिक वृत्तियों को कुचलने में ही अपनी मुक्ति देखता है वह निश्चय ही पुरुषार्थ-पद्धति को ठीक-ठीक नहीं समझता। पुरुषार्थ-पद्धति 'दमन' को आवश्यक नहीं मानती। इस व्यवस्था में अहंनाश को बेशक महत्त्वपूर्ण माना गया है। अहंनाश वस्तुतः वह भावना है जिसमें मनुष्य अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर, अपने व्यापक कर्तव्य को पहचान कर लोक-संग्रह और मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। अहंनाश में लोकसंग्रह की दृष्टि का कभी अभाव नहीं होता क्योंकि आत्मा का विकास आत्मकेंद्रित हो जाने में नहीं है, बल्कि आत्मा को अधिक विस्तृत करने में है। दूसरे व्यक्तियों में भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप देख पाने में है। इसलिए पुरुषार्थ योजना में, उच्चतर मूल्यों की ओर अग्रसर होने के लिए धीरे-धीरे कई सोपानों के माध्यम से होकर जाना होता है ताकि स्वार्थ और अहंभाव पर निश्चितरूप से नियंत्रण पाया जा सके।

पुरुषार्थ चतुष्टय में व्यक्तित्व के समग्र विकास की ओर मूल्यगत आग्रह है। यहाँ समग्र व्यक्तित्व से अर्थ अपने वास्तविक स्वरूप का पहचान कर सार्वभौमिक एकता के लक्ष्य को प्राप्त करना है। यह केवल अपने कायिक-मानसिक तंत्र (अन्न, प्राण और मनोमय कोष) तक ही सीमित न होकर अचेतन से चेतन की ओर होते हुए आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचना है। व्यक्तित्व का यह आध्यात्मिक स्वरुप अनेक शब्दों द्वारा भारतीय दर्शन में व्यक्त किया गया है- आत्मन्, आत्मानुभूति, मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, मोक्ष, अमृत, आदि। किंतु पुरुषार्थ-योजना व्यक्तित्व के किसी भी पक्ष का बहिष्कार नहीं करती। वह व्यक्तित्व के सभी पक्षों के रूपान्तरण के पक्ष में है। मनुष्य की जैविक और पाशविक वृत्तियाँ परिष्कृत होकर अपना पूरा स्वरूप ही बदल लेती हैं। मोक्ष व्यक्ति के आदिम स्वरूप को आध्यात्मिक बना देने में है।

अध्याय पाँच का परिशिष्ट

पंच कोष / *विवेकचूडामणि* (हिंदी अनुवाद-मुनिलाल,) गीता प्रेस, गोरखपुर.

अन्नमय कोष

देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोशश्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः।

त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशिर्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः।। १५६ ।।

अन्न से उत्पन्न हुआ यह देह ही अन्नमय कोश है, जो अन्न से ही जीता है और उसके बिना नष्ट हो जाता है। यह त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, अस्थि और मल आदि का समूह स्वयं नित्यशुद्ध आत्मा नहीं हो सकता।

त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशावहंमतिं मूढजनः करोति।

विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो निजस्वरूपं परमार्थभूतम्।। १६१ ।।

त्वचा, मांस, मेद, अस्थि और मल की राशिरूप इस देह में मूढजन ही अहंबुद्धि करते हैं। विचारशील तो अपने पारमार्थिक स्वरूप को इससे पृथक् ही जानते हैं।

छायाशरीरे प्रतिबिम्बगात्रे यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे।

यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचिज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु।।१६५।।

छाया, प्रतिबिंब, स्वप्न और मन में कल्पित किए हुए शरीरों में जिस प्रकार तेरी कभी आत्मबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जीवित शरीर में भी कभी नहीं होनी चाहिए।

प्राणमय कोष

कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः।

येनात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णः प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु।।१६७।।

पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोष कहलाता है, जिससे युक्त यह अन्नमय कोष अन्न से तृप्त होकर समस्त कर्मों में प्रवृत्त होता है।

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो गन्तागन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः।

यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः।।१६८।।

प्राणमय कोष भी आत्मा नहीं है क्योंकि यह वायु का विकार है, वायु के समान

ही बाहर-भीतर जाने-आने वाला है और नित्य परतंत्र है। यह कभी अपना इष्ट-अनिष्ट, अपना-पराया भी कुछ नहीं जानता।

मनोमय कोष

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः।

संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयांस्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भते यः ।।१६६।।

ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही 'मैं' 'मेरा' आदि विकल्पों का हेतु मनोमय कोष है, जो नामादि भेद-कलनाओं से जाना जाता है और बड़ा बलवान है, तथा पूर्व-कोषों को व्याप्त करके स्थित है।

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्।

तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम्।।१७२।।

जिसमें कोई पदार्थ नहीं होता उस स्वप्न में मन ही अपनी शक्ति से संपूर्ण भोक्ता-भोग्यादि प्रपञ्च रचता है, उसी प्रकार जागृति में भी और कोई विशेषता नहीं है, अतः यह सब मन का विलास मात्र ही है।

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने।

बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणैर्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम्।।१७६।।

इसलिए इस जीव के बन्धन और मोक्ष के विधान में मन ही कारण है, रजोगुण से मलिन हुआ यह बन्धन का हेतु होता है तथा रज-तम से रहित शुद्ध सात्त्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।

तन्मनःशोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा।

विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिं करफलायते।।१८३।।

उस मन का मुमुक्ष को प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिए, उसके शुद्ध हो जाने पर मुक्ति करामलकवत् हो जाती है।

विज्ञानमय कोष

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः।

विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम्।।१८६।।

अनादिकालोऽयमहंस्वभावो जीवः समस्तव्यवहारवोढा।।१८८।।

ज्ञानेन्द्रियों के साथ वृत्तियुक्त बुद्धि ही कर्तापन के स्वभाववाला विज्ञानमय कोष है, जो पुरुष के (जन्म-मरणरूप) संसार का कारण है।

यह अहंस्वभाववाला विज्ञानमय कोष ही अनादिकालीन जीव और संसार के समस्त व्यवहारों का निर्वाह करने वाला है।

आनंदमय कोष

आनन्दप्रतिबिम्बचुम्बिततनुवृत्तिस्तमोगुणाभिभूता।

स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः।।२०६।।

आनन्दस्वरूप आत्मा के प्रतिबिम्ब से चुम्बित तथा तमोगुण से प्रकट हुई वृत्ति आंनदमय कोष है। वह प्रिय आदि (प्रिय, मोद और प्रमोद) गुणों से युक्त है और अपने अभीष्ट पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रकट होती है।

नैवायमानन्दमयः परात्मा सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात्।

कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया विकारसंघातसमाहितत्वात्।।२११।।

यह आनंदमय कोष भी परात्मा नहीं है, क्योंकि यह उपाधियुक्त है, प्रकृति का विकार है, शुभकर्मों का कार्य है और प्रकृति के विकारों के समूह (स्थूल शरीर) के आश्रित है।

पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः।

तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते।।२१२।।

श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पाँचों कोषों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अवधिरूप बोधस्वरूप साक्षी आत्मा बचा रहता है।

योऽयआत्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः।

अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरञ्जनः।

सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता।।२१३।।

इस प्रकार जो आत्मा स्वयंप्रकाश, अन्नमयादि पाँचो कोषों से पृथक् तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी निर्विकार, निर्मल और नित्यानंदस्वरूप है उसे ही विद्वान् पुरुष को अपना वास्तविक आत्मा समझना चाहिए।

संदर्भ

१. 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्, मोक्षोऽपवर्गः'। *अमरकोश,* १.५.६

२. देखें, ताहतिनेन, अन्तु, *इण्डियन फिलॉसफी ऑफ वेल्यु,* तुर्कू। १९६८ पृ० ६३-६४

३. देखें, हिरियन्ना, एम०, *द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन,* मैसूर १९५२, पृ०६९

४. देखें, ताहतिनेन, अन्तु, १९६८ (ऊपर उद्धरित) पृ० ५३

५. *कठोपनिषद्,* १.३.१५

६. *बृहदारण्यक उपनिषद्,* ४.५.१५

७. देखें, ताहतितेन, अन्तु, १९६८ (ऊपर उद्धरित) पृ० ८८

८. *गीता,* ६.४५ तथा ३.१७

९. *तैत्तिरीय उपनिषद्,* ३.६

१०. *बृहदारण्यक उपनिषद्,* ४.३.३२

११. *भगवद्गीता,* ६.२७

१२. वही, ५.२१

१३. *कठउपनिषद्,* १.३.१३

१४. *तैत्तिरीय उपनिषद्,* ३.६

१५. *मुण्डक उपनिषद्,* २.२७

१६. देखें, राधाकृष्णन, एस० (सं), *कॉन्टमपोरैरी इण्डियन फिलॉसफी* (अं) द्वितीय संस्करण, पृ० ५५६

१७. देखें, पाण्डेय, संगमलाल, *ज्ञान, मूल्य और सत्,* इलाहाबाद ७३, पृ०१२८-१२९

१८. धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः।।
विषयाश्चैव कात्स्न्र्येन सर्व आहार सिद्धये।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते।।
महाभारत, १२३.४.५

१९. देखें, हिरियन्ना, एम०, *द क्वेस्ट,* (ऊपर उद्धरित) पृ० २३

२०. देखें, विवरण नीचे, 'पुरुषार्थ चतुष्टय और पंचकोश' के अंतर्गत।

२१. देखें, *कठोपनिषद्,* १.३.१४

श्वेताश्वतर उपनिषद्, १.८

बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४.७

२२. हिरियन्ना एम०, *द क्वेस्ट,* (ऊपर उल्लिखित), पृ० ७२

२३. वही, पृ० ७४-७५

२४. देखें, *तैत्तिरीय उपनिषद्,* प्रथम से पाँचवे अनुवाक तक।

२५. कार्ल पॉटर, *एन एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलॉसफी,* खंड ३, मोतीलाल बनारसीदास १९८१, पृ० ९१

२६. वही, पृ० ५२४-५२५

२७. वही, पृ० ५२४

२८. पांडे, गोविंदचन्द्र, *मूल्य-मीमांसा,* जयपुर १९७३ पृ० ५४

२९. वही, पृ० ५५

अध्याय-६

कुरल में पुरुषार्थ

ईसा पूर्व पहली शताब्दी से पहली शताब्दी ईसवी के बीच कभी, एक प्रसिद्ध तमिल कवि वल्लुवर हुए हैं जिन्हें सम्मान से तिरुवल्लुवर ('तिरु' का अर्थ तमिल भाषा में 'श्री' से है) पुकारा जाता है। इन्होंने एक नीति ग्रंथ की रचना की है। इसका नाम *कुरल* है। तमिल साहित्य की यह एक अत्यंत प्रतिष्ठित रचना है जिसमें जीवन को तीन पुरुषार्थों- धर्म, अर्थ और काम- की विवेचना मिलती है। इस ग्रंथ के महत्व को केवल इस बात से ही समझा जा सकता है कि अभी तक विभिन्न ४० भारतीय और अन्य भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं।[1]

कुरल को पाँचवाँ वेद कहा गया है। यह एक ऐसे बिरले ग्रंथों में से है जिसमें अति उदात्त नैतिक सूक्तियाँ मिलती हैं। यह तीन खंडों में विभक्त है- धर्म (*अरम्*),अर्थ (*पोरुल*) और काम (*इम्बम्*)। इसमें इस प्रकार भारतीय दार्शनिक परंपरा के मूल्यों की 'त्रिवर्ग' पद्धति का अनुसरण हुआ है। 'धर्म' के अंतर्गत ३८ अध्याय हैं, 'अर्थ' के तहत ७० और 'काम' में २५ अध्यायों का समावेश है। प्रत्येक अध्याय में १०-१० 'कुरल' (द्विपदीय काव्य/दोहे) हैं। इस प्रकार कुल १३३० कुरल हैं। ये सभी संयुक्त रूप से मानव एकता, भ्रातृत्व, शांति, समृद्धि, कर्मशीलता, प्रज्ञा, सुख, साहस, सदाचरण जैसे मूल्यों पर बल देते हैं।

कुरल काव्य पर एकाधिक दार्शनिक संप्रदायों ने अपना दृष्टिकोण आरोपित किया है। वैष्णव-जन इसे वैष्णव ग्रंथ मानते हैं और जैन धर्मावलंबी इसे जैन ग्रंथ समझते हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि कुरल वस्तुतः एक धर्म-निरपेक्ष, या कहें, सम्प्रदाय निरपेक्ष ग्रंथ है, और शायद यही कारण है कि इसमें मोक्ष का विवरण किसी स्वतंत्र खंड में नहीं किया गया है। यदि हम भारतीय दार्शनिक संप्रदायों का अवलोकन करें तो पाएंगे कि मोक्ष की अवधारणा प्रत्येक संप्रदाय में थोड़ी भिन्न है। वेदान्त में यदि मोक्ष 'माया' से मुक्ति है तो सांख्य में यह प्रकृति से पुरुष का कैवल्य है, इत्यादि। किंतु सभी दार्शनिक संप्रदाय धर्म, अर्थ और काम को समान रूप से स्वीकार करते हैं। इसी से कुरल में इसी 'त्रिवर्ग' को स्वीकार किया गया है। 'त्रिवर्ग' के लिए तमिल भाषा में 'मुप्पाल' शब्द है, अतः कुरल को मुप्पाल नाम से भी पुकारा जाता है।

कुरल में त्रिवर्ग की स्वीकृति का यह अर्थ नहीं है कि 'मोक्ष' को इसमें मूल्य-व्यवस्था से अलग कर दिया गया है। बेशक कुरल में धर्म, अर्थ और काम की ही स्वतंत्र रूप से विवेचना की गई है। परंतु मोक्ष की अवहेलना भी नहीं हुई है। कुरल में मोक्ष-प्राप्ति के लिए जो त्याग, संन्यास और अनासक्ति की भावनाएँ हैं उनको पूरे काव्य में सर्वत्र व्याप्त देखा जा सकता है। तमिल भाषा में मोक्ष के लिए जिस शब्द का प्रयोग हुआ है उसे 'वीटु' कहा गया है। 'वीटु' वह परम प्रयोजन है जिसमें मानव व्यक्तित्व के किसी भी पक्ष-शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक-की अवहेलना नहीं की गई है बल्कि यह समस्त व्यक्तित्व के सभी पक्षों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर 'पूर्णता' की ओर संकेत करता है। 'वीटु' मनुष्य की समग्र और एकीकृत पूर्णता है जिसमें मानव-जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं है। शायद इसीलिए कुरल का आदर्श एक ऐसा सम्यक् आचरण है जिसमें धर्म, अर्थ और काम का समन्वय अभीष्ट है।

मोक्ष-विवेचना कुरल में कदाचित् इसलिए भी नहीं हुई है कि कुरल मुख्यतः सामान्य जन को संबोधित काव्य है। मोक्ष की सर्वाधिक चिंता तो संन्यासियों और मुनियों को होती है, अतः कुरल में यह स्वतंत्र व्याख्या का विषय नहीं बन पाया है। कुरल का तो आदर्श केवल इतना ही है कि सभी गृहस्थ और राजा अपना जीवन यापन धर्मानुसार करें और धर्मानुसार जीवन बिताने से मोक्ष-मार्ग तो स्वतः प्रशस्त होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि कुरल मुख्यतः एक सक्रिय किंतु नैतिक, सकारात्मक किंतु अनासक्त, जीवन की विकालत करता है। कुरल-नीति की यह विशेषता रही है कि यह आत्मनिषेध की बजाय, आत्मस्वीकृति पर बल देती है। हम किस प्रकार एक-दूसरे से प्रेम से रहें, एक-दूसरे का सम्मान करें और एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें-कुरल की यह विशेष चिंता का विषय है।

कुरल एक महान नीति-विषयक ग्रंथ है। इसके सूत्र और सूक्तियाँ कालजयी हैं। वे आज के युग में भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी वे कभी-जब कुरल लिखा गया होगा-रही होंगी। कुरल का संदेश एक शाश्वत संदेश है। यह केवल ज्ञान देने वाली पुस्तक न होकर, प्रज्ञान प्रदान करने वाला ग्रंथ है। ज्ञान युगीन होता है और हर युग में बदलता रहता है। लेकिन प्रज्ञान वह ज्ञान है जो शाश्वत होता है। वह बदलता नहीं। ज्ञान सूचनात्मक है, प्रज्ञान विवेकात्मक है। पुनः, कुरल की प्रज्ञानात्मक सूक्तियाँ सामान्य कथनों के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। किंतु वे मूर्त को अनदेखा किए बगैर अमूर्त हैं और मूर्तमान पर सहज ही प्रत्यारोपित की जा सकती हैं। कुरल में इस प्रकार मूर्त और अमूर्त का, विशेष

और सामान्य का एक अद्‌भुत सम्मिश्रण मिलता है।

गीता में कहा गया है कि मनुष्य को अपना उत्थान स्वयं करना चाहिए और स्वयं ही गिरने से बचना चाहिए क्योंकि व्यक्ति का मित्र या शत्रु स्वयं व्यक्ति ही है।[२] पुरुषार्थ की यही भावना हमें कुरल में भी मिलती है। यहाँ कहा गया है कि एक वीर पुरुष यदि असफल भी हो जाता है तो हतोत्साहित नहीं होता। बाणों से बिंधे सेना के एक हाथी की तरह वह अपने पैर जमाए अडिग खड़ा रहता है।[३] इसी परिच्छेद के दसवें काव्यांश में पुनः यह कहा गया है कि आत्मबल ही एक मात्र शक्ति है और जो व्यक्ति इससे रहित है वह पशु और वनस्पति के समान है।[४] असंभव कहकर किसी कार्य को करने में हिचकिचाना नहीं चाहिए। पुरुषार्थ से सभी काम संभव हैं। इसी प्रकार कार्य अधूरा छोड़ने के लिए भी मना किया गया है क्योंकि जो अपने कार्य पूरे नहीं कर पाते उन्हें कोई भी आदर की दृष्टि से नहीं देखता।[५] एक स्थान पर बैलों की उपमा देते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति जी तोड़ श्रम करने के लिए तैयार रहते हैं उनके मार्ग की बाधाएँ उन तक पहुँचने में स्वयं ही बाधित हो जाती हैं।[६] तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य पूर्ण शाक्ति और संकल्प से कार्य करे तो वह अपना इष्ट अवश्य प्राप्त करता है।[७] कुरल काव्य में इस प्रकार के अनेक विचार बिखरे पड़े हैं जो मानव प्रयत्न की महिमा का वर्णन करते हैं।[८] भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ का अर्थ दो तरह से किया गया है- पुरुष के 'प्रयोजन' (अर्थ) के रूप में और मानव प्रयत्न के रूप में। पुरुषार्थ, इस प्रकार, मनुष्य के उस लक्ष्य की ओर संकेत करता है जिसके लिए मानव प्रयत्न किया जाना चाहिए। कुरल में इसी मानव प्रयत्न पर विशेष बल दिया गया है। मानव प्रयत्न सर्वोपरि है। कुरल वस्तुतः मानव प्रयत्न का महालेखा है।

कुरल में धर्म

कुरल काव्य का प्रथम खण्ड धर्म (तमिल-*अरम*) को समर्पित है। कुरल कोई ऐसा शास्त्र नहीं है जिसमें अवधारणाओं की शास्त्रीय विवेचना की गई हो। यह तो केवल राजा और उसकी प्रजा को सम्बोधित है और इसलिए इसमें अवधारणाओं की परिभाषा न कर, उनकी अर्थक्रिया पर अधिक बल दिया गया है। धर्म के संबंध में भी धर्म क्या है, यह न बताकर धर्म क्या करता है, या, धर्माचरण किस प्रकार करना चाहिए, या, धर्माचरण का क्या फल होता है- जैसे, प्रश्नों का उत्तर दिए जाने की कोशिश की गई है।

कुरल रचयिता के लिए धर्म, सदाचार, न्यायशीलता, निष्पक्षता, सन्मार्ग, समता, आदि, शब्द एक ही परिवार के शब्द हैं और इन सभी को उसने लगभग समान अर्थ में प्रयुक्त किया है। कुरल के प्रथम चार परिच्छेद क्रमशः ईश्वर, मेघ, मुनि और धर्म की महिमा का गुण-गान करते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि धर्म को कवि ने लगभग भगवान् और मुनि का दर्जा दिया है। साधन मूल्य के रूप में धर्म सर्वोच्च है। धर्म से न केवल मनुष्य की उन्नति (अभ्युदय) होती है, बल्कि उससे उसे मोक्ष (निःश्रेयस्) भी प्राप्त हो सकता है। ऐसे में स्पष्ट ही धर्म से अधिक श्रेयस्कर भला और क्या हो सकता है? अतः धर्म को भुला देने से बढ़कर, कुरल के अनुसार, दूसरी कोई बुराई नहीं है। जहाँ तक संभव हो मनुष्य को अपनी पूरी शक्ति से, अर्थात्, मन, वचन और काया से, सदैव सत्कर्म में लगे रहना चाहिए।[९]

कुरल के अनुसार धर्म का वास्तविक सार अपने अंतःकरण को पवित्र रखने में है। अतः ईर्ष्या, लोभ, क्रोध और अप्रिय बचनों से बचे रहना ही धर्म के मार्ग पर चलना है। *कुरल* परामर्श देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अविलम्ब धर्म के मार्ग पर चलना आरंभ कर देना चाहिए क्योंकि मृत्यु के समय धर्म के अतिरिक्त और कोई साथ देने वाला नहीं है। बड़ी ही काव्यात्मक भाषा में कवि कहता है कि यह मत पूछो कि धर्माचरण का फल क्या होता है? बस, पालकी उठाने वाले को देखो और फिर उस व्यक्ति को देखो जो पालकी में बैठा है।[१०] अतः जो कुछ अच्छा है, उसी को करना चाहिए और हर बुराई से व्यक्ति को बचना चाहिए।

मानव-आत्मा का ऊर्ध्वगामी उत्थान धर्माचरण पर ही निर्भर करता है। जैसे-जैसे व्यक्ति धर्म और नैतिकता का पालन करता जाता है, वह उत्तरोत्तर मोक्ष की ओर बढ़ता जाता है। कुरल-कवि अहिंसा को परम धर्म मानता है, इसीलिए वह मधुर-संभाषण और किसी भी जीव की हिंसा न करने पर बल देता है। जो व्यक्ति धर्मानुसार आचरण करता है, वही धर्म के सुखद परिणामों को प्राप्त कर पाता है। पालकी में बैठा हुआ आदमी निश्चित ही वह व्यक्ति है जिसने पिछले जन्म में सत्कर्म किये होंगे। धर्मपरायणता से ही सच्चा सुख प्राप्त होता है और इसीलिए पाप कर्मों से बचना अनिवार्य है। प्रेम, मधुर-भाषण, कृतज्ञता, परस्त्रीत्याग, क्षमा, ईर्ष्यात्याग, निर्लोभता, व्यर्थ-भाषण त्याग, परोपकार, दया, धूर्ततापरित्याग, निरामिष आहार, निष्कपट व्यवहार, सत्य, क्रोध-शमन और अहिंसा इत्यादि के लिए कुरल में स्वतंत्र परिच्छेद हैं जो यह बताते हैं कि धर्मानुसार आचरण मूर्त रूप में क्या है।

कुरल में धर्म का एक अर्थ निष्पक्षता में भी देखा गया है। निष्पक्ष व्यवहार के लिए कुरल न केवल सामान्य जन को आमंत्रित करता है बल्कि शासक या राजा के लिए भी इसे धर्म का पर्याय मानता है। सामान्य जन के लिए जिस धर्म-परायणता या न्यायशीलता का उल्लेख बारहवें परिच्छेद में हुआ है, उसे संपूर्ण रूप से उद्‌घृत किया जाना यहाँ प्रासंगिक होगा।

परिच्छेद १२ - न्यायशीलता

१. वह जो सभी परिस्थितियों में निष्पक्ष रहता है और शत्रुओं तथा मित्रों से समान व्यवहार करता है, उसी का आचरण न्यायपूर्ण कहा जा सकता है।

२. न्यायनिष्ठ व्यक्ति की संपदा कभी व्यर्थ नहीं जाती, पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसका उपभोग होता है।

३. उस धन का त्याग कर देना चाहिए जो अनुचित साधनों से अर्जित किया जाता है। भले ही उससे सुख और लाभ मिलने की संभावना क्यों न हो!

४. संतान के चरित्र द्वारा ही यह पता चलता है कि व्यक्ति ने अपना जीवन सही जिया या ग़लत।

५. यह सुनिश्चित है कि बुराई का रास्ता विनाश की ओर और भलाई का मार्ग उत्थान की ओर ले जाता है, किंतु एक पुण्यात्मा के लिए उसका निष्पक्ष मन ही उसका आभूषण होता है।

६. जब व्यक्ति का मन सन्मार्ग से च्युत हो जाता है और कुमार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाता है तो उसका पतन सुनिश्चित है।

७. वह व्यक्ति जो सदैव सन्मार्ग पर चलता है, यदि दुर्भाग्य से निर्धन भी हो जाता है तो भी उसकी प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आती।

८. जिस तरह सही तौलते हुए तुलादंड सीधा रहता है, उसी प्रकार सत्पुरुषों का चरित्र भी संतुलित रहता है। निष्पक्षता ही उनका आभूषण है।

९. सच्ची धर्मनिष्ठा अनिवार्यतः सत्यवचन में परिलक्षित होती है जो न्यायसंगत मानसिकता का परिणाम है।

१०. जो मनुष्य दूसरों के कार्य भी इस प्रकार करता है कि मानों वे उसके अपने ही हित में हों, वही एक सफल और अच्छा व्यवसायी है।

जिस प्रकार सामान्य जन के लिए निष्पक्ष होना आवश्यक है उसी प्रकार शासक या राजा के लिए भी न्यायशीलता अत्यंत आवश्यक है। शासक की अपनी परिस्थितियों को देखते हुए कुरल-कवि कतिपय सद्गुणों को राजा के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण मानता है। उदाहरण के लिए, उसके अनुसार राजा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और बुद्धिमानों के उपदेशों का सम्मान करना चाहिए। योग्य पुरुषों की मित्रता उसके लिए लाभकारी है और कुसंग से दूर रहकर विचारपूर्वक काम करना उसके लिए आवश्यक है। कोई भी राजा आलस्य में पड़कर अपने राजकाज को नहीं चला सकता। उसके लिए पुरुषार्थी होना और संकल्प-पूर्वक कार्य करना आवश्यक होता है। किंतु अहंकारपूर्ण व्यवहार उसके लिए आत्मघाती है। प्रायः शासकगण सामान्य लोगों की ही तरह अनेक कुरीतियों के शिकार हो जाते हैं, अतः कुरल के रचयिता ने सामान्यजन की ही तरह राजा के लिए भी वैश्यागमन, मद्यपान और धूतक्रीड़ा, आदि का निषेध किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस तरह सामान्यजन के लिए कुरल में धर्म को मूर्त रूप दिया गया है, उसी प्रकार राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में शासक के लिए भी धर्म-संबधी मूर्त-आचरण का उल्लेख है। यहां भी धर्म को निष्पक्षता और न्यायशीलता का लगभग पर्याय माना गया है। जिस तरह निष्पक्ष आचरण सामान्य जन को सामाजिकता के लिए तैयार करता है और सामाजिक संबंधों को पुष्ट करता है, उसी प्रकार-न्यायपूर्ण शासन सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था को बिखरने नहीं देता। इस प्रसंग में कुरल का परिच्छेअ ५५ उद्धरित करने योग्य है-

परिच्छेद ५५-न्यायनिष्ठता

१. भलीभांति विचार करो और किसी की ओर झुको मत। न्यायविदों की सम्मति प्राप्त करो। न्याय करने की उचित विधि यही है।

२. प्रकृति वर्षा से फूलती-फलती है। राजा जब न्यायप्रिय होता, जनता फलती फूलती है।

३. धर्मग्रंथ, ब्राह्मण संहिताएँ और सदाचार, राजा के न्याय के ये तीन आधार हैं।

४. वह राजा जो न्याय-प्रिय है और अपनी प्रजा से प्रेम करता है, वह अपने राज्य को कायम रख सकेगा।

५. जब राजा न्यायप्रिय होता है तो वर्षा नियमानुसार होती है और फसल खूब होती है।

६. राजा की विजय तलवार से नहीं, न्याय और समता से होती है।

७. राजा संसार पर शासन करता है और न्याय राजा पर शासन करता है।

८. वह राजा जो अपनी पहुँच प्रजा तक नहीं बनाए रखता और न्याय नहीं करता, वह बिना शत्रुओं के भी नष्ट हो जाता है।

९. जो राजा अपनी प्रजा की शत्रुओं से रक्षा करता है और उनके कल्याण के लिए काम करता है, सिवा अपने कर्तव्य निभाने के और कुछ नहीं करता।

१०. अपराधियों को दण्ड देना, और हत्यारों को मृत्यु दंड देना, ठीक ऐसा ही है कि जैसे अच्छी फसल पाने के लिए निराई करना।

उपरोक्त काव्यांशों से स्पष्ट है कि कुरल रचयिता की अभिरुचि धर्म या न्याय को परिभाषित करने में इतनी नहीं है जितनी कि यह बताने में है कि धर्म-परायणता का सुखद परिणाम क्या होता है। जो राजा न्यायशील है उसका राज्य कभी समाप्त नहीं होता और उसके राज्य में सदैव सुख और चैन बना रहता है। लेकिन यदि राजा न्यायशील नहीं है तो उसकी जनता भी उत्पीड़ित रहती है और उसके अन्याय के कारण उसके राज्य का सुख चैन चला जाता है। कुरल के अनुसार जो राजा अपनी प्रजा को सताता है और उस पर अत्याचार करता है वह हत्यारे से भी बुरा है। एक सशस्त्र डाकू जब कहता है कि अपना सारा सामान रख दो तो निश्चय ही यह उत्पीड़न है। लेकिन यदि राजा अपनी प्रजा से राजदण्ड का भय दिखाकर उपहार इकट्ठे करता है तो वह भी अत्याचार ही है। ऐसा राजा अपना राज्य और सम्पत्ति सब कुछ खो सकता है। दुःख से कराहते हुए लोगों के आँसू उसकी समृद्धि को धीरे-धीरे बहा ले जा सकते हैं। और उसके राज्य में भौतिक सुख समाप्त हो जाता है। अन्यायी राजा के राज्य में वर्षा तक ठीक समय पर नहीं होती, गाय के थन सूख जाते हैं। और विद्वान् अपनी विद्या भूल जाते हैं।[१२]

कुरल में सामान्य जन और राजा के सन्दर्भ में धर्माचरण को किस प्रकार सम्पन्न किया जाय इस पर प्रकाश डाला गया है। इसमें व्यक्तियों को केवल दो कोटियों में रखा गया है १. सामान्य जन और २. शासक गण। लेकिन सामान्यजन को वर्णानुसार विभक्त नहीं किया गया। हिन्दू ग्रन्थों में वर्णानुसार धर्मों का उल्लेख है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिये अलग-अलग कर्तव्य बताए गए हैं। लेकिन इस प्रकार का, धर्म के सन्दर्भ में कोई कोटि-भेद, कुरल काव्य में परिलक्षित नहीं होता। कुरल केवल उन सामान्य

धर्मों (कर्तव्यों, सद्गुणों) का उल्लेख करता है जो सभी के पालन करने योग्य हैं। बेशक एक राजा का धर्म प्रजा के धर्म से थोड़ा भिन्न हो सकता है लेकिन ये भिन्नता केवल उसके विशेष कर्तव्य को देखते हुए रेखांकित की गई है अन्यथा सामान्य जन और राजा की धर्मनिष्ठा में कोई अन्तर नहीं है।

प्रश्न किया जा सकता है कि कुरल में यदि धर्म की व्याख्या केवल सामान्य सद्गुणों और कर्तव्यों द्वारा की गई तो वह कौन सा प्रमुख सद्गुण है जिस पर रचयिता ने विशेष बल दिया है और जो सम्पूर्ण कुरल काव्य में मानों व्याप्त है। यदि कुरल को ज़रा भी ध्यान से पढ़ा जाय तो स्पष्ट ही कोई भी पाठक अहिंसा को इसमें सर्वोच्च मान्यता-प्राप्त सद्गुण ठहरा सकेगा। वस्तुतः कुरल में धर्मनिष्ठता, न्याय और अहिंसा इन तीनों ही पदों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो धर्मनिष्ठ है वही निष्पक्ष भी है और उसी में दया भावना भी विद्यमान है। कुरल का प्रथम धर्म-खण्ड अहिंसा और सम्बन्धित भावनाओं के सन्दर्भ में अनेक परिच्छेद प्रस्तुत करता है। कृतज्ञता, क्षमा, परोपकार, दान, दया, क्रोधत्याग आदि पर जो परिच्छेद हैं, वे वस्तुतः एक अहिंसक जीवन शैली की ओर संकेत करते हैं। इसके अतिरिक्त किसी को हानि न पहुँचाने और स्वयं अहिंसा पर जो परिच्छेद हैं वे तो स्पष्टतः अहिंसा के बारे में हैं ही। यहाँ हम कुरल में अहिंसा के आग्रह को देखते हुए इस सम्बन्ध में जो परिच्छेद है उसे पूरा का पूरा उद्धृत करना चाहेंगे।

परिच्छेद ३३ अहिंसा

१. अहिंसा परम धर्म है। हिंसा से अनेक प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं।

२. अपना भोजन ज़रूरतमन्द के साथ बाँटकर खाना और हर जीव की रक्षा करना, सभी धर्मग्रन्थों का यह मुख्य नैतिक आदेश है।

३. अहिंसा परम धर्म है, और झूठ न बोलने का स्थान इसके बाद है।

४. (मोक्ष के लिए) सन्मार्ग कौन सा है? स्पष्ट ही यह अहिंसा का मार्ग है।

५. वह जिसने वस्तुओं के नश्वर स्वरूप और उनकी परिवर्तनशीलता का अनुभव कर लिया है, वह हिंसा की वृत्ति को त्याग देता है।

६. जिसने अहिंसा के व्रत को धारण किया है उसके मन से मृत्युभय समाप्त हो जाता है।

७. जीवन को संकट में डालते हुए भी जो हिंसा को अस्वीकार करता है वह सचमुच सदाचारी है।

८. कहा जाता है कि बलि चढ़ाने से कई प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, लेकिन, ऐसी विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए भी सदाचारी जन किसी की हत्या नहीं करते और न ही किसी को हानि पहुँचाते हैं।

९. जिन लोगों का जीवन-यापन हत्या पर ही निर्भर करता है, वे विवेकवान व्यक्तियों की दृष्टि में कुलीन व्यक्ति नहीं हैं।

१०. वे लोग जो दुःखमय जीवन जीते हैं और जिनके शरीर घृणित बीमारियों से युक्त हैं उन्होंने पूर्वजन्म में अवश्य ही पशुओं की हत्या की होगी कि जिस पाप का दण्ड वे भोग रहे हैं।

कुरल काव्य में अहिंसा की धारणा एक व्यापक धारणा है जो न केवल जीव हत्या का निषेध करती है (और इस तरह पूर्णतः निरामिष आहार की संस्तुति करती है,)[१३] बल्कि वह धनात्मक रूप से प्रेम का भी पर्याय है। प्रेम का अर्थ कुरल के रचयिता के लिए करुणा, बलिदान, मैत्री, दया आदि जैसे सद्गुणों से है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसमें प्रेम न हो। अपने हृदय के द्वार बन्द करके प्रेम को कोई व्यक्ति निष्कासित नहीं कर सकता। व्यक्ति जब अपने प्रिय मित्र को कठिनाई में देखता है तो उसकी आँखों से बरबस प्रेम के अश्रु झरने लगते हैं। जो लोग प्रेम करते हैं। वे अपना सब कुछ बलिदान करने के लिए तत्पर रहते हैं। प्रेम के बिना जीवन मरुभूमि में एक सूखे वृक्ष की तरह है।[१४]

कुरल में प्रेम की उपयोगिता केवल मित्रों के प्रति ही सीमित नहीं है, ऐसा सोचना कि केवल भद्र पुरुषों के साथ ही प्रेम-व्यवहार उचित है, गलत होगा। दुष्टता के विरुद्ध खड़े होने के लिए भी प्रेम एकमात्र उपाय है।[१५] मनुष्य प्रेम से ही घृणा को जीत सकता है, यह भाव कुरल में कई स्थानों पर व्यक्त किया गया है। एक स्थल पर शत्रु को भी हानि पहुँचाने से परहेज करना सबसे बड़ी बुद्धिमानी मानी गई है।[१६]

कुरल में 'अर्थ'

कुरल काव्य में जिस जीवन-पद्धति का समर्थन किया गया है, उसमें तपस्या पर बहुत बल है, लेकिन सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए निषेध भी नहीं है। शर्त केवल यही है कि वे उचित और धर्मानुसार अर्जित की जावें। उपभोग यदि सम्यक् भावना से किया जाए, अर्थात्, यदि नैतिक नियमों को ध्यान में रखकर विषयों को भोगा जाए तो कुरल-धर्म इसके विरुद्ध नहीं है।

कुरल काव्य दरिद्रता या ग़रीबी को व्यक्ति के लिए एक अभिशाप मानता है-

परिच्छेद १०५-दरिद्रता

१. आपके पास कुछ भी न हो इससे बुरा, भला और क्या हो सकता है? कुछ न होने से अधिक बुरा और कुछ नहीं हो सकता।

२. जहाँ दरिद्रता जैसा महान् शत्रु है, वहाँ समस्त सुख समाप्त हो जाते हैं।

३. दरिद्रता से उत्पन्न कुरुचि-कुलीनता और मधुर-वाणी दोनों को ही समाप्त कर देती है।

४. दरिद्रता के मारक प्रभाव से, कुलीन लोग भी हर प्रकार के अशुभ-शब्द और पाप कर्म बोलने/करने लग जाते हैं।

५. दरिद्रता की एकमात्र बुराई, अनेक अन्य बुराइयों का स्रोत है।

६. ग़रीब व्यक्ति के शब्द, भले ही वे कितने ही बुद्धिमान क्यों न हों, किसी पर अपना प्रभाव नहीं डालते।

७. एक दरिद्र व्यक्ति की माँ भी, अपने पुत्र से एक अजनबी की तरह व्यवहार करती है।

८. क्या दरिद्रता, जिसने मुझे अधमरा कर दिया है, कभी भी मेरा साथ नहीं छोड़ेगी?

९. तपते हुए अंगारों में सो जाना शायद संभव हो, लेकिन दरिद्र को अपने बिस्तर पर भी नींद नहीं आती।

१०. यदि दरिद्र अपनी दरिद्रता से पिंड छुड़ाने का प्रयत्न नहीं करता तो वह सम्पन्न लोगों के लिए भी भार बन जाता है।

अतः दरिद्रता मिटाने के लिए प्रयत्न करना अति आवश्यक है। पुरुषार्थ इसी में है कि व्यक्ति अपनी दरिद्रता से निजात पा सके।

किंतु दरिद्रता सांसारिक और भौतिक जीवन का केवल एक नकारात्मक पहलू है। सकारात्मक रूप से आवश्यकता इस बात की है कि धनार्जन किया जाए और संपत्ति का न केवल उत्पाद हो, बल्कि उसका उपभोग भी हो। कुरल-रचयिता ने अपने काव्य के अनेक परिच्छेद सम्पत्ति के उत्पादन और उपभोग के विषय में लिखे हैं। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि अधिक धनोपार्जन की क्षमता के अलावा मनुष्य को सुयोग्य बनाने वाली और अन्य कोई चीज नहीं है। जिसके पास धन नहीं है उसे हर किसी की निंदा

ही मिलती है, तथा इसके विपरीत जिसके पास धन है वह सभी का आदर पाता है। धन एक ऐसा दीपक है जो अंधकार मिटाता है और सभी प्रकार के द्वेष को पराजित करता है।[१७]

कुरल में धर्नाजन का निश्चित रूप से समर्थन किया गया है किंतु यह समर्थन निरपेक्ष नही है। वह धन जो अनुचित रूप से कमाया जाता है उसका इसमें पूर्ण निषेध है क्योंकि सुख और सदाचार केवल उचित विधि से कमाए गए धन से ही उत्पन्न होता है। वह धन जो बिना प्रेम और करुणा के उत्पन्न किया जाता है, उसे तो अच्छा हो हम त्याग ही दें। धर्मानुसार अर्जित सम्पत्ति से ही दूसरे सद्गुण और सुख प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी संपत्ति जो सर्वाधिक तेजधार वाला हथियार है, शत्रुओं के मान तक को नष्ट कर सकती है।[१८]

कुरल काव्य में भ्रष्टाचार से कमाया हुआ धन बहुत अशुभ माना गया है। वह सम्पत्ति जिसे हम कपटपूर्वक अर्जित करते हैं, व्यक्ति को हास्यास्पद बना देती है। लोग ऐसे व्यक्ति से मिलना पसंद नहीं करते। कभी-कभी भ्रष्टाचार द्वारा अर्जित संपत्ति से ऐसा प्रतीत होता है मानों व्यक्ति अपने धन में वृद्धि कर रहा है, लेकिन यह अंततः उसकी बरबादी का कारण बनती है। यह उसके लिए सुखकर नहीं हो सकती बल्कि उसको निश्चित रूप से नष्ट करने में सहायक होती है। जो दूसरों को धोखा देता है, वह कभी सन्मार्ग पर नहीं चल सकता। इसके विपरीत, ज्ञानी पुरुष नीचता और कपट को अपने में कभी पनपने नहीं देता।[१९]

एक सम्पन्न व्यक्ति वस्तुतः वही है जो बिना लालच किए, न्याय-पूर्ण ढंग से धन अर्जित करे।[२०] इसी प्रकार एक गृहस्थ का जीवन तभी सार्थक होता है जब वह अपने भूखे अतिथि को भोजन कराता है। सम्पत्ति की भागीदारी से सम्पत्ति का मूल्य और भी बढ़ जाता है और वह अमृत समान हो जाती है। लक्ष्मी की कृपा बनी रहे इसलिए अतिथियों का सदैव स्वागत किया जाना चाहिए। एक अतिथि को यदि हम आतिथ्य की दृष्टि से नहीं देखते हैं तो उसका चेहरा छुई-मुई के पौधे की भाँति मुरझा जाता है।[२१]

वे लोग जो अपनी संपत्ति में किसी और की भागीदारी स्वीकार नहीं करते और उसका उपभोग अकेले ही करना चाहते हैं, भिखारियों के समान हैं। वे जो अपने भोजन को भूखे लोगों के साथ बाँट कर खाते हैं, वे कभी भूखे नहीं रहते।[२२]

स्पष्ट ही धन का उपयोग आवश्यक है, किंतु यह उपयोग अकेले न होकर जरूरत-मंदों के साथ भागीदारी करके होना चाहिए। जो व्यक्ति धन का उपभोग नहीं करता और

केवल उसका संचय भर करता है, कुरल के अनुसार, वह जीवित होते हुए भी मृत समान ही है। वह धन के दान से मिलने वाली कीर्ति से वंचित रह जाता है। उदारता से धन-संपत्ति में कभी कमी नहीं आती, और यदि ऐसा होता भी है तो यह बहुत थोड़े समय के लिए प्रतीत मात्र होता है। वर्षा से जो मेघ रीत (बरस) जाते हैं, वे फिर उसी जल से भर भी जाते हैं।[२३] संक्षेप में कुरल कवि का यह स्पष्ट मत है कि जो कुछ भी अपने प्रयत्न से मनुष्य पैदा करता है, उस पर सभी का अधिकार है; वह सभी के उपयोग के लिए है। उदार व्यक्ति गाँवों में स्थित उन भरे हुए तालाबों की तरह है, जिनके पानी का उपयोग सभी ग्रामवासी करते हैं। वे फलों से लदे उन वृक्षों के समान हैं, जो समस्त ग्राम के वैभव हैं। वृक्ष जिस प्रकार औषधियाँ प्रदान करते हुए भी सदा हरे-भरे रहते हैं, सहृदय व्यक्ति भी उसी तरह हैं ।[२४]

कुरल कवि के अनुसार 'अर्थ' निश्चित ही एक मूल्यवान वस्तु है। किंतु वह तभी मूल्यवान है जब इसका उत्पादन, उपभोग और वितरण धर्मानुसार, अर्थात्, प्रेम और अहिंसा के मूल्यों को स्वीकार करते हुए, उन्हें चरितार्थ करते हुए, हो। जैन दर्शन के विरुद्ध बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि वह एक नकारात्मक दृष्टि को प्रश्रय देता है। कुरल इस आरोप का एक सशक्त खंडन है।

कुरल में अर्थोपार्जन का सर्वोच्च माध्यम कृषि माना गया है। कृषि को वस्तुतः यहाँ एक देवता की कोटि में रखा गया है। कुरल के पहले चार महिमा-परिच्छेदों में से एक परिच्छेद मेघ-महिमा पर भी है। इसमें बताया गया है कि वर्षा से ही धरती स्वयं को धारण किए हुए है। अर्थात, वर्षा धरती का धर्म है। वर्षा को धर्म की तरह निरूपित करना कृषि कार्य को सर्वोच्च वरीयता देना है। कृषि-कार्य देश की आर्थिक धुरी है। किसान को छोड़कर शेष सभी दूसरे की रोटी खाते हैं। वास्तविक रूप से जीता तो किसान ही है। यदि कोई मनुष्य कहे कि उसके पास खाने तक को नहीं है, तो धरती उसकी काहिली पर हँसती है।[२५]

कुरल में काम

कुरल का तीसरा खण्ड 'काम पुरुषार्थ' से संबंधित है। इसमें पच्चीस परिच्छेद हैं और प्रत्येक परिच्छेद में दस-दस पद हैं। इस खण्ड को 'कामथुप्पाल' शीर्षक दिया गया है। कुरल का यह खण्ड पिछले दो खण्डों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। जहाँ पिछले खण्डों में धर्म को आधार बनाकर गृहस्थ जीवन और शासन चलाने के सन्दर्भ में नैतिक आचरण पर बल दिया गया था और इस प्रकार धर्म और अर्थ

की उपयोगिता को रेखांकित किया गया था वहीं इस तीसरे खण्ड में ऐसा कोई नैतिक आग्रह नहीं दिखाई देता। यहाँ गृहस्थ जीवन के विभिन्न सोपानों की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता के साथ एक काव्यात्मक प्रस्तुति मात्र है। इस खण्ड में कुरल का रचयिता स्त्री-पुरुष के बीच सहज आकर्षण और एक-दूसरे के लिए परस्पर कामना को बहुत वस्तुनिष्ठ ढंग से, किन्तु काव्यात्मक मर्यादाओं को निभाते हुए प्रस्तुत करता है। कुरल के इस 'कामथुप्पाल' खण्ड की तुलना प्रायः वात्स्यायन के *कामसूत्र* से की गई है और कभी-कभी तो इसे *कामसूत्र* का एक तमिल संस्करण तक कहा गया है किन्तु कुरल का यह खण्ड अपने उद्देश्य और प्रयोजन में *कामसूत्र* से वस्तुतः बहुत भिन्न है। *कामसूत्र* में जहाँ हमें काम व्यापार सम्बन्धी अनेक विस्तृत वर्णन मिलते हैं, जैसे-चुम्बन और सम्भोग के और सम्भोग सम्बन्धी विभिन्न अभिरुचियों के प्रारूप, इत्यादि, वहीं 'कामथुप्पाल' में ऐसा कुछ नहीं मिलता। 'कामथुप्पाल' केवल उस गृहस्थ जीवन के प्रेम की, जिस पर समाज की बुनियाद खड़ी है एक काव्यात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति मात्र है। अतः यह समझना कि *कुरल* का तीसरा खण्ड वात्स्यायन के *कामसूत्र* की भाँति कामशास्त्र का कोई ग्रंथ है, पूर्णतः भ्रामक होगा। यदि इन दोनों की बीच कोई समानता देखी जा सकती है तो वह केवल इतनी ही है कि दोनों ही नैतिक आग्रहों से मुक्त हैं किन्तु गार्हस्थ्य प्रेम जिसका सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवरण हमें कामथुप्पाल में मिलता है क्या स्वयं ही मर्यादित प्रेम नहीं है? अतः यह कहना भी अर्धसत्य ही है कि तिरुवल्लुवर काम सम्बन्धी अपने इस खण्ड में नैतिक आग्रह से पूर्णतः मुक्त हैं।

काम का सीमित अर्थ बेशक लैंगिक-प्रेम (SEX) है, किन्तु अपने व्यापक अर्थ में काम मनुष्य की सभी कामनाओं के सन्दर्भ में प्रयुक्त पद है। 'कामथुप्पाल' में काम का संकुचित अर्थ ही लिया गया है। लेकिन सामान्यतः कामनाओं के सन्दर्भ में काम पर तिरुवल्लुवर ने भले ही कुरल के तीसरे खण्ड में कुछ न लिखा हो किन्तु पिछले दो खण्डों में मनुष्य की इच्छाओं और कामनाओं के स्वरूप, सीमाओं, उनके संयम और उनके उदात्तीकरण के बारे में काफ़ी कुछ प्रकाश डाला है।

मनुष्य वस्तुतः कामनाओं का एक संघात है। उसकी इच्छाएँ या कामनाएँ ही उसे कार्य के लिए प्रेरित करती हैं। लेकिन इन इच्छाओं का स्वरूप कुछ इस प्रकार का है कि वे कभी पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हो पातीं, वे सदा अतृप्त ही बनी रहती हैं और यही दुःख का एक बड़ा कारण बनता है। कामना एक जाल और निराशा मात्र है। मनुष्य इनमें फँसता ही चला जाता है। वह यह भ्रम पाल लेता है कि कामनाओं की वह सन्तुष्टि

कर सकता है और उनसे सुख प्राप्त कर सकता है, लेकिन जैसे-जैसे वह अपनी कामनाओं के वश में होता जाता है उसकी अतृप्ति बढ़ती ही जाती है। इच्छाओं और क्लेश में एक सह-सम्बन्ध है। किसी भी इच्छा की उपस्थिति क्लेश उत्पन्न करती है। जहाँ-जहाँ इच्छा है वहाँ-वहाँ दुःख है। इतना ही नहीं इच्छा वह मूल कारण भी है जिससे मनुष्य बार-बार इस सांसारिक जगत् में जन्म लेता है। ज़ाहिर है ऐसी इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ण समाप्ति में ही मनुष्य का भला है।[२६]

स्पष्ट ही मनुष्य यदि चाहता है कि वह अनंत कामनाओं के दुःख और पुनर्जन्म के चक्र (जो अनन्तः कामनाओं से ही संभव होता है) से बच सके, तो उसे अपनी कामनाओं की परिसमाप्ति की दिशा में प्रयत्न करना अनिवार्य है। कामनाओं को पूर्णतः जीतने से ही मनुष्य उस अवस्था पर पहुँच सकता है जो पूर्णतः दुःखरहित है, और जो उसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिला सकती हैं। किन्तु यह काम रातों-रात सम्भव नहीं है। इसके लिए आत्मसंयम की आवश्यकता है जिसे धीरे-धीरे मनुष्य प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करता है। जिस तरह एक कछुवा अपने को सिकोड़कर और खींचकर रखता है उसी तरह आत्मसंयम के लिए मनुष्य को अपनी इच्छाओं को सिकोड़कर और खींचकर रखना चाहिए। कुरल कवि कहता है कि यदि मनुष्य अपनी इच्छाओं को सीमित कर देता है (जैसे कि एक कछुवा अपने अंगों को संकुचित कर पाता है) तो वह सात आगामी पुनर्जन्मों के लिए अपने सुख और चरित्र की दृढ़ता को प्राप्त कर सकता है।[२७] इससे स्पष्ट है कि आत्मा का पुनर्जन्म रोकने के लिए हर जन्म पर नए प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। यदि ऐसा होता तो व्यक्ति का पूर्ण आध्यात्मिक विकास सम्भव ही न हो पाता। क्योंकि हर नए जन्म पर उसे नए सिरे से अपना प्रयत्न पुनः आरम्भ करना पड़ता। किन्तु ऐसा है नहीं। मनुष्य अपने प्रत्येक नए जन्म में अपने आत्म-विकास से संस्कारों को लेकर पैदा होता है और इसीलिए मोक्ष की सम्भावना हर जन्म के साथ बढ़ती ही जाती है।[२८]

स्पष्ट ही ऐसे व्यक्ति बिरले ही हैं जो अपनी समस्त इच्छाओं को जीत सकें। उनका व्यक्तित्व तो एक ऊँचे पर्वत की तरह अलग ही दिखाई देता है।[२९] लेकिन वे लोग जो प्रयत्नपूर्वक और जानबूझकर आत्मसंयम की ओर अग्रसर होते रहते हैं उन्हें भी कोई कम सम्मान नहीं मिलता। इसलिए कुरल आत्मसंयम की रक्षा उसी तरह करने के लिए कहता है जिस तरह एक आम आदमी अपने ख़जाने की रक्षा करता है। आत्मा के लिए आत्मसंयम की अपेक्षा और कोई महत्त्वपूर्ण सिद्धि नहीं है।[३०]

कामनाओं में सर्वाधिक बलवान कामना, लैंगिक इच्छा है। अतः इसको मर्यादित

करने के लिए सर्वाधिक प्रयत्न की भी आवश्यकता है। इसे मर्यादित करने का एक सहज उपाय तो विवाह करके एक गृहस्थ जीवन बिताना है, जो धर्म द्वारा नियन्त्रित और नियमित हो। स्पष्ट ही ऐसे जीवन में व्यक्ति को एक पत्नी व्रत लेकर स्वदार संतोष करना चाहिए। कुरल के परिच्छेद १५ में परस्त्रीत्याग का उपदेश देते हुए पूरे दस पद लिखे हैं। इन्हें ज्यों का त्यों उद्धृत किया जा सकता है।

परिच्छेद १५: परस्त्री त्याग

१. वे लोग जो परिग्रह के नियमों और सद्गुणों से भलीभाँति परिचित हैं, वे भूलकर भी परस्त्री की कामना नहीं करते।

२. भोग-विलास में लिप्त मनुष्यों में, जो धर्म से गिर गए हैं, सर्वाधिक मूर्ख वह व्यक्ति है, जो अपने पड़ोसी के द्वार पर कामेच्छा के वशीभूत भटकता रहता है।

३. वह व्यक्ति जो उस पर भरोसा करने वाले अपने मित्र की पत्नी के साथ दुर्व्यवहार करता है, वह जीवित होकर भी मृत के समान है।

४. मनुष्य चाहे जितना भी महान् क्यों न हो उसकी महानता किस काम की है यदि वह लोकलाज की चिन्ता न कर अपने पड़ोसी की पत्नी से व्यभिचार करता है।

५. पड़ोसी की पत्नी से काम-सम्बन्ध को ज़रा सी बात (महत्त्वहीन) समझने वाले व्यक्ति अपना नाम सदा के लिए कलंकित करते हैं।

६. घृणा, पाप, भय और कलंक ये चारों दुर्गुण उस व्यक्ति का साथ नहीं छोड़ते जो अपने पड़ोसी की पत्नी की इच्छा करता है।

७. वह व्यक्ति जो दूसरे की पत्नी की इच्छा नहीं करता और इस प्रकार सदाचार बनाए रखता है, वही सच्चे अर्थ में सद्गृहस्थ है।

८. धन्य है वह जो दूसरे की पत्नी पर कुदृष्टि नहीं डालता। ऐसा संकल्पवान् व्यक्ति ही सदाचारी है।

९. समुद्र से घिरी इस दुनिया में ऐसा व्यक्ति कौन सा है जो सभी श्रेष्ठ पदार्थों का धनी हो। निश्चित ही यह वह व्यक्ति है जो परस्त्री का आलिंगन नहीं करता।

१०. जो सदाचार के मार्ग पर नहीं चलता और जो बुराई में संलग्न रहता है उस व्यक्ति के लिए भी अच्छा यही होगा कि वह किसी दूसरे की पत्नी से दूर रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक गृहस्थ के लिए भी काम को मर्यादित किया गया है और परस्त्री गमन के लिए निषेध किया गया है। कुरल का रचयिता केवल साधारण जन के लिए ही एक पत्नीवाद का विधान नहीं करता बल्कि वह शासक या राजा को भी काम सम्बन्धी स्वेच्छाचारिता के लिए मना करता है। खण्ड २ के परिच्छेद ६१-६२ में कवि ने शासक को क्रमशः दासता स्वीकार करने और वेश्यागमन करने के विरुद्ध चेतावनी दी है क्योंकि स्त्री के असीम मोह में पड़ा हुआ व्यक्ति कभी न तो समृद्धिशाली हो सकता है और न ही कोई महान कार्य कर पाने की महत्त्वाकांक्षा रख सकता है। वेश्यागमन मानों एक मृत देह के आलिंगन के समान है, जो व्यक्ति को अपवित्र कर देता है।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि कुरल का कवि अन्ततः यही उपदेश देता है कि यदि व्यक्ति अपनी काम-संबधी वासनाओं को शाश्वत सुख के लिए पूरी तरह समाप्त कर देने में फिलहाल असमर्थ है, तो उसे कम से कम एक सद्गृहस्थ के आदर्श को तो अपनाना ही चाहिए और केवल अपनी पत्नी में ही संतोष रखना चाहिए।

कुरल का तीसरा खण्ड एक गृहस्थ के घर के निर्माण की व्याख्या करता है जो समाज और राज्य का अन्तिम आधार है। प्रेम से रहित हम किसी अपेक्षाकृत स्थायी घर की कल्पना नहीं कर सकते। किसी भी गृहस्थी के निर्माण में दो विषमलिंगी व्यक्तियों का होना आवश्यक है, जो एक-दूसरे से परस्पर प्रेम करते हों। कुरल के इस अन्तिम खण्ड में एक सद्गृहस्थी के निर्माण की प्रक्रिया को व्याख्यायित किया गया है। घर किस तरह बसाया जाता है, उसके निर्माण में वे कौन से मनोवैज्ञानिक घटक हैं जो उसे उपेक्षाकृत स्थायित्व दे सकते हैं, आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी विवेचना इस खण्ड में की गई है।

कुरल काव्य के समकालीन समाज में विवाह से पूर्व दो युवा व्यक्तियों के बीच प्रणय निवेदन की, कुछ अवधि के लिए, अवश्य ही कुछ सामाजिक मान्यता प्राप्त रही होगी इसीलिए कुरल का यह अन्तिम खण्ड विवाह पूर्व प्रेम से आरम्भ होता है। यह खण्ड दो भागों में विभक्त है, 'कलवुअय्यल' और 'कर्पुअय्यल' शाब्दिक रूप से इनका अर्थ है, प्रच्छन्न प्रेम और शुद्ध प्रेम। किन्तु इन शब्दों से भ्रान्ति पैदा हो सकती है। 'कलवु' शब्द चोरी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रेम के सन्दर्भ में जब दो प्रेमी एक दूसरे से छिपकर मिलते हैं और इसे अपने माँ-बाप से छिपाकर रखते हैं, तो यह भी एक प्रकार की चोरी ही है। चोरी से इस प्रकार के प्रणय व्यापार पर सम्बन्धित व्यक्तियों के माँ-बाप को

निश्चय ही एतराज़ हो सकता है। लेकिन ये दोनों प्रेमी व्यक्ति यदि एक-दूसरे के प्रति ईमानदार हैं और पति-पत्नी की तरह रहना चाहते हैं तो उनके इस प्रच्छन्न प्रेम में कोई अनैतिकता भी नहीं है। केवल दुर्भाग्यवश वे खुलकर सामने नहीं आ पाते क्योंकि इसके लिये प्रथम आवश्यकता यह है कि वे वैवाहिक बन्धन में बँध जाएँ। विवाह पूर्व प्रणय निवेदन को पूरी तरह से प्रच्छन्न भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें दोनों ओर से अपने-अपने विश्वस्त मित्रों और साथियों की सहायता ली जाती है। कुरल के कामखण्ड का प्रथम भाग इसी प्रकार के प्रणय-निवेदन के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भावों को अभिव्यक्ति देता है। इसमें दो युवा व्यक्ति एक-दूसरे का स्वभाव व चरित्र समझने की कोशिश करते हैं और अन्ततः इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उन्हें जीवन भर एक-दूसरे का जीवन साथी बनकर रहना चाहिए। इसी बीच उनका यह प्रच्छन्न प्रेम उनके माता-पिता को पता चल जाता है। उन दोनों के चरित्र और स्वभाव को देखते हुए उनकी मित्रता को वैवाहिक रूप प्रदान करने के लिए उनके माता-पिता सहमत हो जाते हैं। जब उनके प्रेम-सम्बन्धों को वैवाहिक समारोह के द्वारा पुष्ट कर दिया जाता है तो काम-खंड का दूसरा भाग 'कर्पुअय्यल' आरम्भ होता है। इस खण्ड में कन्या अपनी प्रेमी की पत्नी बन जाती है और अपने घर की मालकिन हो जाती है। अपने पति के प्रति उसकी विश्वसनीयता और श्रद्धा पति को एक अनुशासित और नैतिक रूप से सद्गृहस्थ होने के लिए मजबूर कर देती है। इस खण्ड में पति-पत्नी के परस्पर प्रेम, एक-दूसरे की अनुपस्थिति में उनका विरह, पुनर्मिलन पर पत्नी का रूठना और पति का मनाना इत्यादि अनेक प्रणय-भावनाएँ बहुत सूक्ष्मता से व्यक्त की गई हैं जो दोनों के जीवन को सुखी और सम्पन्न करती हैं।

कुरल निःसन्देह एक ऐसा काव्य है, जिसे सामान्य जन की दृष्टि से लिखा गया है। सामान्यतः अपनी सभी कामनाओं का दमन कर पूर्ण निष्कामता को प्राप्त करना और इस प्रकार निष्कामता की केवल एक कामना को लेकर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना कोई सरल पुरुषार्थ नहीं है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि जब तक पूर्ण मोक्ष का प्रयोजन सफल न हो व्यक्ति अपनी इच्छाओं और कामनाओं को मर्यादित और सीमित करे। कामवासना सबसे उत्कट वासना है और इसे मर्यादित कर पाना सर्वाधिक कठिन भी। कुरल का कवि इसीलिए स्त्री और पुरुष के बीच सहज प्रेम को अस्वीकार नहीं करता बल्कि उसे उदात्त बनाने के लिए मार्ग सुझाता है। वह स्त्री-पुरुष के सहज आकर्षण को विवाह की संस्था में लाकर मर्यादित करता है और इस प्रकार दो प्रेमियों को एक-दूसरे के प्रति समर्पित होने के सुख से अवगत कराता है। कुरल काव्य के तीसरे खण्ड का यही प्रयोजन है।

कुरल में मोक्ष

जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि 'तिरुकुरल' केवल धर्म, अर्थ और काम की ही तीन खण्डों में अलग-अलग विवेचना करता है। इसमें मोक्ष के लिए, जिसे परम पुरुषार्थ माना गया है, कोई स्वतन्त्र परिच्छेद या खण्ड नहीं है। किन्तु इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि कुरल में मोक्ष की विवेचना हुई ही नहीं है। वस्तुतः कुरल मूलतः एक ऐसा काव्य है जिसका विषय पुरुषार्थ ही है और ऐसे में मोक्ष-अवहेलना सम्भव ही नहीं है। यदि कुरल में मोक्ष को व्याख्या के लिए स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला है तो इसके केवल दो कारण समझ में आते हैं। एक तो यह कि कुरल सामान्य जन, और शासक वर्ग को सम्बोधित ग्रन्थ है और ये दोनों ही वर्ग अपने तात्कालिक लक्ष्य को मोक्ष के रूप में स्वीकार नहीं करते। इनका श्रेयस् केवल सांसारिक अभ्युदय है न कि कोई पारमार्थिक अनुभूति है, दूसरे, कुरल भले ही स्वतंत्र रूप से मोक्ष की चर्चा न करता हो किन्तु मोक्षभाव कुरल के लगभग प्रत्येक परिच्छेद में निहित देखा जा सकता है।

सांसारिक जीवन में जन्म और मरण का जो एक क्रम है उसकी तुलना प्रायः समुद्र से की जाती है। इस जीवन सागर में दुःख ही दुःख भरा पड़ा है, इसलिए 'संसारसागरं दुःखम्' की कहावत इतनी प्रसिद्ध हुई है। यह सूत्र सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के उस सामान्य नियम की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार संसार के सागर को पार करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। संसार के इस सागर को पार कर ही मोक्ष सम्भव है। भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए अलग-अलग मार्ग सुझाते हैं और कुरल भी इसका कोई अपवाद नहीं है। कुरल में स्थान-स्थान पर मोक्ष के स्वभाव और उसे प्राप्त करने के मार्ग की ओर संकेत दिए गए हैं। प्रथम परिच्छेद में ही जिसमें ईश्वर की महिमा का गुणगान किया गया है। स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जन्म-मरण के समुद्र को केवल वे ही लोग पार कर सकते हैं जो प्रभु के चरणों की शरण में आते हैं। यहाँ तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने मनुष्य को दुःख के सागर को पार करने के लिए जो नौका संचालन का कौशल दिया है उसके माध्यम से वह यदि चाहे तो मोक्ष प्राप्त कर आत्म-पूर्णता को उपलब्ध कर सकता है। यह कौशल किस बात में निहित है? कुरल कवि के अनुसार यह केवल त्याग और तप से ही प्राप्त किया जा सकता है। जिन साधकों ने अपने तप द्वारा मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर लिया है वे महान हैं। परिच्छेद् तीन में मुनि-माहात्म्य को रेखांकित करते हुए कवि कहता है कि जिन लोगों ने संसार की तुलना में मोक्ष को समझ लिया है और इसलिए त्याग के मार्ग पर चलने का निश्चय

किया है उनकी महानता सभी सांसारिक मूल्यों का अतिक्रमण कर जाती है।[३१]

कुरल में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि मनुष्य को मोक्ष धर्म से ही मिलता है और धर्म ही इस संसार में अभ्युत्थान का कारण है। धर्म से बढ़कर और क्या चीज हो सकती है।[३२] इस पद से स्पष्ट है कि कुरल कवि धर्म को एक साधन मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। एक ओर जहाँ यह सांसारिक समृद्धि का साधन है वहीं दूसरी ओर यह मोक्ष मार्ग भी है। धर्म और तपस्या इस प्रकार कुरल कवि के अनुसार मोक्षप्राप्ति के साधनद्वय हैं।

मोक्ष का अर्थ जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होना है। जन्म-मरण का चक्र सांसारिक दुःख का मूल कारण है। अतः मोक्ष प्राप्ति का अर्थ इस दुःख से छुटकारा भी है। मोक्ष सुख की वह अवस्था है जो दुःख को जन्म नहीं देती। सारे सांसारिक सुख अन्ततः दुःख का कारण बनते हैं। मोक्ष स्थिति का दुःखाभाव ही वस्तुतः शाश्वत सुख है। लेकिन मोक्ष की स्थिति को प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसके लिए सतत प्रयास और पुरुषार्थ की आवश्यकता है। केवल वे ही लोग जो तप कर पाने में सफल होते हैं मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।[३३] सांसारिक चक्र के लिए मृत्यु आवश्यक है और तप इससे बचने का सुनिश्चित मार्ग है। इससे ही मोक्ष या अमरता प्राप्त हो सकती है। अतः यदि कोई जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए धर्म और तप का मार्ग अपनाना आवश्यक है।

कुरल कवि कहता है कि मनुष्य को बिना अपना समय नष्ट किए तत्काल इस मार्गको अपना लेना चाहिए।[३४] जिस तरह एक कछुवा अपने अंगों को सिकोड़कर स्वयं को सुरक्षित कर लेता है, उसी तरह व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए ताकि वह सुख और चारित्रिक बल को प्राप्त कर सके। आत्मपूर्णता का लक्ष्य कोई ऐसा लक्ष्य नहीं है जिसे तुरन्त प्राप्त किया जा सके। इसके लिए सतत प्रयास की आवश्यकता है। व्यक्ति का यह प्रयास संस्कारों के रूप में उसके अगले जन्मों में भी सुरक्षित रहता है और इसलिए वह धीरे-धीरे पूर्णता की ओर बढ़ पाता है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य को अपने प्रत्येक जन्म पर नए सिरे से मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होना पड़े और ऐसी स्थिति में मोक्ष-प्राप्ति एक असम्भव पुरुषार्थ होगा।[३५]

किन्तु यदि मनुष्य निरन्तर सदाचरण को चरितार्थ करता है और प्रत्येक जन्म में इसे धीरे-धीरे विकसित करता है तो उसका पूर्ण आत्मविकास अथवा मोक्ष असम्भव नहीं रहता। मोक्ष की यह स्थिति मनुष्य को अमरता प्रदान करती है और इस प्रकार

वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। मृत्यु भी जो सभी प्राणियों को अपना ग्रास बनाती है उस तक पहुँच पाने में हिचकिचाती है।

संदर्भ

१. हिंदी में कुरल का अनुवाद 'कुरल काव्य' के नाम से विद्याभूषण पं० गोविंद राय जैन, शास्त्री ने किया है। यह महरौनी (झांसी) से प्रकाशित है।
२. *श्रीमद्भगवद्गीता*-६.५
३. *कुरल*-६०.७
४. *कुरल*-६०.१०
५. वही-६२. १-२
६. वही-६३.४
७. वही-६७.७
८. देखें-विशेषकर *कुरल*, अध्याय ६१, ६२ और ६३
९. *कुरल*-४.१-३
१०. वही-४.७
११. देखें-वही, खंड २ के संबंधित परिच्छेद
१२. वही-परिच्छेद ५६ और ५७
१३. वही-देखें-परिच्छेद २६
१४. वही-परिच्छेद-८
१५. वही-८.६
१६. वही-२१.३
१७. वही-७६.१-३,
१८. वही-७६.४,५,९,१०
१९. वही-देखें, परिच्छेद-२९
२०. वही-१८.९
२१. वही-परिच्छेद-९
२२. वही-परिच्छेद-२३
२३. वही-परिच्छेद-१०१.१०
२४. वही-२२.५-७
२५. वही-१०४.२,३,१०
२६. वही-परिच्छेद, ३७
२७. वही-१३.६

२८. *तिरुक्कुरल* (अंग्रेजी) ए. चक्रवर्ती द्वारा अनुवादित, मद्रास १९५३, अनुवादक की १२६वें कुरल पर टिप्पणी, पृ० ८३
२९. कुरल-१३.४
३०. वही-१३.२
३१. वही-३.३
३२. वही-४.१
३३. वही-२७.९
३४. वही-२७.५
३५. वही-१३.३

अध्याय-७

जैन दर्शन में पुरुषार्थ-चतुष्टय

'पुरुषार्थ-चतुष्टय' की अवधारणा हिन्दू मूल्य-दर्शन की आधारशिला है। इस अवधारणा का उल्लेख हमें जैन-दर्शन में भी मिलता है। किन्तु जैन-दर्शन में इसकी विस्तृत व्याख्या नहीं की गयी है। मोक्ष-चर्चा के चलते, पुरुषार्थ-चतुष्टय का उल्लेख मात्र हुआ है। उदाहरणार्थ *ज्ञानार्णव* में कहा गया है कि प्राचीनकाल से ही महर्षियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-पुरुषार्थ के चार भेद माने हैं।[1] किन्तु इस स्वीकृति के बावजूद पहले तीन पुरुषार्थ नाश सहित और संसार के रोगों से दूषित बताए गए हैं। अतः ज्ञानी पुरुषों को केवल मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करने को कहा गया है।[2] इसी प्रकार *परमात्मप्रकाश* में भी धर्म, अर्थ और काम इन सभी पुरुषार्थों में मोक्ष को ही 'उत्तम' माना गया है, क्योंकि अन्य किसी में 'परम सुख' नहीं है।[3] वस्तुतः जैनदर्शन इस प्रकार केवल मोक्ष को ही पुरुषार्थ रूप में स्वीकार करता प्रतीत होता है। धर्म पुरुषार्थ की स्वीकृति उसके मोक्षानुकूल होने में है तथा अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि "भारतीय चिन्तन में जहाँ पुरुषार्थ -चतुष्टय प्रतिबिम्बित होता है, वहाँ जैन है दर्शन-दर्पण में पुरुषार्थ-द्वय ही (धर्म और मोक्ष) अवलोकित होता है।"[4]

लेकिन, यह मानना कि जैन दर्शन में केवल मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ है और धर्म, मोक्ष-मार्ग है तथा शेष दो तथाकथित पुरुषार्थों का इस दर्शन में कोई स्थान नहीं है - एक एकांगी विचार है और कोई भी जिनवचन एकान्त या निरपेक्ष नहीं है। एक आधुनिक व्याख्याकार के अनुसार, 'यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में जो अर्थ और काम बाधक हैं, वे जैन दृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एवं हेय हैं। लेकिन दर्शन यह कभी नहीं कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय हैं... न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन विचारणा में समुचित स्थान है।"[5]

यदि हम ध्यान से देखें तो लगभग यही स्थिति हमें हिन्दू दर्शन में भी मिलती है। हिन्दू-दर्शन में भी अर्थ और काम निरपेक्ष-मूल्य न होकर धर्मानुसार मर्यादित होकर ही मूल्यगत श्रेणी में आते हैं। इतना ही नहीं, जैन धर्माचार्यों ने भी काम और अर्थ को न केवल धर्मोन्मुखी बनाने पर बल दिया, बल्कि ठीक हिन्दू 'त्रिवर्ग' की धारणा के अनुरूप

ही 'धर्म', 'अर्थ' और 'काम' के कुछ इस प्रकार के सेवन की अनुशंसा की कि वे परस्पर अविरोध में रहें।[६]

फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जैन मूल्यों में अर्थ और काम को कुल मिलाकर हेय दृष्टि से देखा गया है, और इन दोनों की आवश्यकता पर बहुत ही कम बल दिया गया है। हिन्दू दर्शन इन्हें निन्दनीय नहीं ठहराता बल्कि इनके उदात्तीकरण पर बल देता है, ताकि ये भी मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त कर सकें। जैन दर्शन में 'अर्थ' और 'काम' की यदि कोई स्वीकृति है तो वह केवल मनुष्य की अपनी दुर्बलता को देखते हुए मानो मजबूरी में है। यदि मनुष्य अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर मोक्ष के लिए उद्यत हो जाता है तो उसके लिए यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि वह काम और अर्थ को मूल्यों के रूप में ग्रहण करे। मोक्ष की अपेक्षा से तो अन्ततः काम और अर्थ जैनदर्शन के अनुसार 'विमूल्य' ही हैं। किन्तु हिन्दू दर्शन में ऐसा नहीं है। हिन्दू दर्शन काम और अर्थ को भी उनके उदात्त स्वरूप में मोक्ष के लिए सहायक मानता है। वे विमूल्य कभी नहीं होते। वे साधन मूल्य की अपनी श्रेणी से कभी च्युत नहीं किये गए हैं। इसका कारण मुख्यतः यही है कि जहाँ एक ओर जैनदर्शन मूलतः निवृत्तिपरक है, वहीं हिन्दू दर्शन के निवृत्तिमार्ग में भी 'प्रवृत्ति' को अंशतः स्वीकृति मिली हुई है। किन्तु जैन दर्शन में 'प्रवृत्ति' के लिए यदि कोई स्थान है तो केवल संयम और तप की ओर प्रवृत्ति के लिए ही कोई गुंजाइश सम्भव है। एक जैन गाथा में बड़े आकर्षक ढंग से कहा गया है कि एक ओर निवृत्ति तो दूसरी ओर प्रवृत्ति का पालन करना चाहिए - असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति।[७] हिन्दू दर्शन भी बेशक संयम पर बल देता है किन्तु वह शरीर की ओर से पूरी तरह से विमुख हो जाने के लिए कभी नहीं कहता क्योंकि जब तक मनुष्य शरीरधारी है उसे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर उसे स्वस्थ रखना ही होगा और इसके लिए अर्थ और काम दोनों ही मूल्य बने रहेंगे। वे कभी विमूल्य नहीं हो सकते।

पूर्णतः निवृत्तिपरक होने के कारण, जैन दर्शन में इस प्रकार केवल दो ही पुरुषार्थों पर बल दिया गया है - मोक्ष और धर्म। मोक्ष परम पुरुषार्थ है और धर्म मोक्ष का राज-मार्ग है।

पुरुषार्थ का अर्थ

पुरुषार्थ से सामान्यतः दो अर्थ लगाए गए हैं - १. पुरुष का प्रयोजन और

२. पौरुष अथवा पुरुष द्वारा किया गया प्रयत्न। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दर्शन में पुरुषार्थ के दूसरे अर्थ पर अधिक बल दिया गया है। पुरुषार्थ को परिभाषित करते समय जैन संस्कृति में कहा गया है - "पौरुषं पुनरिह चेष्टितम्।" तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि अपना प्रयोजन (जो मोक्ष है) प्राप्त करना चाहता है तो उसे इसके लिए स्वयं प्रयत्न करना होगा। इसके लिए किसी भी प्रकार की दैवी सहायता उसे उपलब्ध नहीं है। जैन दर्शन ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करता है।

ईश्वरवादी दार्शनिक पद्धतियाँ प्रायः मानवारोपण के दोष से ग्रसित होती हैं। वे ईश्वर को मनुष्य के स्तर पर देव या अवतार के रूप में नीचे खींच लाती हैं और इस प्रकार ईश्वर मनुष्य का सहायक बन जाता है। जैन दर्शन, ठीक इसके विरुद्ध मनुष्य को ही, जब उसकी शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं, ईश्वर के रूप में देखता है। ईश्वर यहाँ अधिक से अधिक 'आत्मा' के लिए एक दूसरा शब्द है। यह वह 'आदर्श पुरुष' है जो मनुष्य का आदर्श है। इस आदर्श की प्राप्ति का एक ही मार्ग है कि इसे ठीक उसी तरह प्राप्त किया जाय जैसे अर्हतों, ऋषियों-मुनियों ने, जिनके उदाहरण हमारे सामने हैं, इसे प्राप्त किया था। जैन दर्शन के इस आदर्श में मनुष्य को अपने प्रति पूर्ण आस्था है उसे पूर्ण विश्वास है कि वह स्वतः प्रयत्न से ईश्वर की कोटि तक पहुँच सकता है। जैन दर्शन ने इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति का पूरा उत्तरदायित्व स्वयं मनुष्य पर डाल दिया है। उसकी सहायता के लिए किसी भी दैवी शक्ति या ईश्वर का यहाँ प्रावधान नहीं है।

जे० जैनी[६] का मत है कि किसी भी अन्य धर्म की बजाय जैन धर्म मनुष्य को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता या स्वाधीनता प्रदान करता है। मनुष्य जो भी करता है और जो भी उसके कर्मों के फल हैं, इन दोनों के बीच कोई हस्तक्षेप करने वाला नहीं है। एक बार कर्म सम्पन्न हो जाने के बाद उन पर मनुष्य का कोई वश नहीं रहता। उसके फल उसे भुगतने ही पड़ते हैं। इस प्रकार हमारी स्वतन्त्रता और हमारे दायित्व का एक सह-सबन्ध है। हम जैसा चाहें कर सकते हैं। लेकिन एक बार हमारी इच्छानुसार जो भी हमने चुना है उस कर्म से और उसके फल से बचा नहीं जा सकता।

जैन दर्शन में पुरुषार्थ से आशय, इस प्रकार मूलतः मानव-चेष्टा से है- जिसमें व्यक्ति को स्वतन्त्रता भी मिली हुई है और जिसका उत्तरदायित्व भी उसे निभाना है। व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है किंतु फल भोगने का उत्तरदायित्व भी उसी का है। इसमें किसी अन्य व्यक्ति/देवता/ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं है। मनुष्य चाहे तो ईश्वर की कोटि भले प्राप्त कर सकता है, यह मनुष्य की क्षमता के बाहर की वस्तु नहीं है।

लेकिन ईश्वर से तात्पर्य यहाँ व्यक्ति का स्वयं अपना ही निजरूप है जो सभी ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है। अपने निजरूप को प्राप्त करना ही, मनुष्य का प्रयोजन/आदर्श है।

इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए, जैन दर्शन के अनुसार धीर पुरुष को क्षण-भर का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए- 'धीरे मुहुत्तमवि णो पमादए'। कुशल व्यक्ति वही है जो बिना प्रमाद के पुरुषार्थ में विश्वास करता है। कुशल को प्रमाद से भला क्या प्रयोजन?[१०]

जैन दर्शन में इस प्रकार हम मानव प्रयत्न के लिए एक विशेष आग्रह पाते हैं। इसी कारण जैन साहित्य में हमें स्थान-स्थान पर प्रमाद की निन्दा और पुरुषार्थ की प्रशंसा भरपूर मिलती है।

धर्म का स्वरूप

पुरुषार्थ-चतुष्टय में प्रथम मूल्य 'धर्म' है। धर्म से आशय यहाँ मुख्यतः नैतिक मूल्यों से है। जैन दर्शन में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले अनेक सूत्र और गाथाएँ हैं। वे जहाँ एक ओर धर्म के आकारगत स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं वहीं वे दूसरी ओर धर्म की अन्तर्वस्तु को भी स्पष्ट करती हैं।

नैतिक मूल्यों के एक वर्ग के रूप में धर्म को पुरुषार्थ पद्धति में प्रथम स्थान प्राप्त है। जिस प्रकार सभी मूल्यों का स्वरूप आदेशात्मक होता है, धर्म का आकारगत स्वरूप भी आदेशात्मक ही माना गया है। नैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति सदैव ही आदेश के रूप में होती है। हम क्या करें या क्या न करें, नैतिक मूल्य इस सम्बन्ध में ऋणात्मक अथवा धनात्मक उपदेश देते हैं। हम सत्य बोलें, हिंसा न करें, ब्रह्मचर्य का पालन करें और चोरी न करें इत्यादि ऐसे ही उपदेशात्मक मूल्य हैं जो आज्ञाओं के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। ये सभी हमें एक विशेष प्रकार के आचरण के लिए प्रेरित करते हैं। अतः धर्म को 'प्रेरणास्वरूप' कहा गया है।[११] धर्म नियोजक है, विहित है। वेद वाक्य अन्य लक्षणों के अतिरिक्त विहित होने के नाते ही धर्म हैं।

जैन दर्शन में भी धर्म के आदेशात्मक स्वरूप पर स्पष्ट आग्रह है। आचार्य महाप्रज्ञ, 'आज्ञायां मामको धर्मः' सूत्र द्वारा, अपने महाकाव्य *सम्बोधि* में, धर्म को परिभाषित करते हैं। इस सूत्र का आगमिक स्रोत *आयारो* में देखा जा सकता है। *आचारांग* में स्पष्ट कहा गया है- 'आणाए मामगं धम्मं'[१२], अर्थात् आज्ञा में ही धर्म का गूढ़ तत्त्व छिपा हुआ है। इसके रहस्य को जानने वाला ही उसको प्राप्त कर सकता है।[१३]

स्पष्ट ही धर्मादेशों में आदेश के बल के अनुसार भिन्नताएँ हो सकती हैं किन्तु

किसी भी नैतिक वाक्य की यह विशेषता है कि वह नियोजक (प्रेस्क्रिप्टिव) हो। उसका यह नियोजकत्व, स्पष्ट ही उसे स्वयं नैतिक मूल्यों से ही प्राप्त होता है, किसी बाह्य कारक से नहीं। धर्म को इसीलिए 'आणाए मामगं धम्मं', सूत्र द्वारा परिभाषित किया गया है।

धर्म की एक अन्य परिभाषा जो उसके स्वरूप को सुस्पष्ट करती है, हमें निम्नलिखित सूत्र में मिलती है-

"धम्मो वत्थुसहावो।।"[१४]

अर्थात्, धर्म वस्तु का स्वभाव है। सामान्यतः जब हम कहते हैं कि अग्नि का धर्म जलाना है, जल का धर्म शीतल करना है या वायु का धर्म बहना है तो यहाँ धर्म से हमारा तात्पर्य कथित वस्तुओं के स्वभाव से ही है। अतः मानव परिप्रेक्ष्य में पूछा जा सकता है कि मनुष्य का स्वभाव क्या है। कि जिसे धर्म कहा जाय? स्पष्ट ही मनुष्य का सार उसकी चेतना में है। जो मनुष्य जीवित नहीं है, वह जड़ है। शरीर निश्चित ही मनुष्य का एक पक्ष है किन्तु शरीर गौण है। जीवन/चेतना के अभाव में शरीर का कोई महत्त्व नहीं है। चेतन शरीर स्वतः मूल्यवान है और शरीर परतः मूल्यवान है। अतः कहा जा सकता है कि जो चेतना का स्वलक्षण होगा वही मनुष्य का वास्तविक धर्म होगा। हमें अपने धर्म को समझने के लिए 'चेतना' के स्वलक्षण-स्वभाव को जानना होगा।

चेतना क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हमें भगवान् महावीर और गौतम के बीच हुए संवाद में मिलता है। गौतम पूछते हैं- 'भगवन्! आत्मा क्या है और आत्मा का अर्थ या साध्य क्या है'? महावीर उत्तर देते हैं- 'गौतम! आत्मा का स्वरूप 'समत्व' है और समत्व को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।'[१५]

दूसरे शब्दों में समता या समभाव स्वभाव है और विषमता विभाव है। जो विभाव से स्वभाव की दिशा में हमें ले जाता है, वही धर्म है। धर्म विषमता से समता की ओर अधिगमन है। समता धर्म है, विषमता अधर्म है। समता का अर्थ है अपने मूल स्वभाव में विकृति न आने देना। सदैव स्व-भाव में स्थित रहना। आचार्य हेमचंद्र सूरि ने कहा है- *आदीप आस्यौअ समत्व भावं*।

आयारो में तो स्पष्ट ही कहा गया है- 'समियाए धम्मे'[१६] अर्थात् धर्म समता में है या समता है। समता और धर्म में कोई अन्तर नहीं है। जो समता है वह धर्म है और जो धर्म है, वही समता है। जिस प्रकार आत्मा ज्ञान है और ज्ञान आत्मा है (अप्पा णाणं, णाणं अप्पा), उसी तरह समता और धर्म एकरूप हैं।[१७]

प्रवचनसार में समता को धर्म के रूप में और अधिक मूर्तमान लिया गया है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि चारित्रय ही धर्म है और धर्म निश्चित ही समता है।[१८] मोह-क्षोभ से रहित आत्मा की जो परिणति है, वही साम्य है। जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान से विचलित नहीं होता और इस द्वैत के प्रति समभाव रखता है, वही सम्यक् जीवन जीता है।[१९]

इतना ही नहीं, समभाव की आवश्यकता व्यक्ति की द्विविध प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं है। सभी प्राणियों के प्रति भी समभाव आवश्यक है। कहा है, जो सभी त्रस और स्थावर प्राणियों पर समभाव रखता है वह समदृष्ट है और यह बात केवली भाषित है।[२०]

प्रश्न उठता है कि जब आत्मा का स्वभाव ही समत्व है तो मनुष्य को इसे प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर है कि मनुष्य केवल आत्मा ही नहीं है, वह शरीर भी है। वह जीव और अजीव दोनों का सम्मिश्रण है। वह स्वयं ही द्वैत है। इसलिए यह आवश्यक है कि वह अपने इस द्वैत से विरत होकर अपने स्व-भाव में स्थित हो। राग, आसक्ति, तृष्णा आदि भाव-आत्म भाव नहीं हो सकते। इनका सम्बन्ध अन्ततः शरीर से है। जहाँ राग है, आसक्ति है और तृष्णा है, वहाँ सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान भी है। मनुष्य को इन्हीं कषायों से ऊपर उठाना है तभी वह 'सम' पर आ सकता है। आत्मा की समस्थिति प्राप्त करना ही मनुष्य का उद्देश्य है, उसका परम प्रयोजन है। यह स्थिति कहीं बाहर नहीं है, आत्मा के ऊपर प्रक्षेपित नहीं है, किसी और ने उस पर लादी नहीं है। यह उसी की अपनी सत्यनिष्ठ स्थिति है। इस स्थिति में ही आत्मा शान्त रह सकती है। वे सारी बातें जो आत्मा को, मनुष्य को अशान्त करती हैं, उसे द्वन्द्व में अवस्थित करती हैं, उसे तनावग्रस्त करती हैं- आत्मा के अपने भाव नहीं हैं, वे विभाव हैं। आत्मा का क्या स्वभाव है और क्या विभाव है, इसे निर्धारित करने का एक ही मापदण्ड है। जिससे हम तनावग्रस्त होते हैं, विक्षोभित होते हैं, विचलित होते हैं, वही विभाव है। जो शान्ति प्रदान करता है वह स्वभाव है। समभाव स्पष्ट ही शान्तिदायक है क्योंकि इसमें रहते आत्मा अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। वह जो वीतराग है, अनासक्त है, तृष्णारहित है, वह अपना निजी स्वरूप प्राप्त करता है, सम-भाव अर्जित करता है। धर्म का यही आदेश है। यही उसकी आज्ञा है कि व्यक्ति अपनी आत्मा में अवस्थित हो और सभी द्वन्द्वों से सुख-दुःख, काम-क्रोध, मानापमान, निन्दा-प्रशंसा से वीतराग हो। यही धर्म है और यही धर्मादेश है। जिसने अपने धर्म के

इस गूढ़ रहस्य को जान लिया है, वही उसे प्राप्त भी कर सकता है।

धर्म जहाँ एक ओर वस्तु के स्व-भाव की ओर संकेत करता है, वहीं वह दूसरी ओर मनुष्य के कर्तव्य की ओर भी स्वतः इंगित करता है। यदि मनुष्य का स्वरूप आत्मा है और आत्मा का स्वभाव समभाव है तो स्पष्ट ही उस समभाव को प्राप्त कर लेना ही मनुष्य का *कर्तव्य* भी हो जाता है। इस कर्तव्य को कैसे निभाया जाए? जैनधर्म में अपने कर्तव्य का भली-भाँति निर्वाह करने के लिए कि जिससे सम-आचरण सुनिश्चित हो सके दस निष्ठाओं का निर्धारण किया गया है। *स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा* की ४७८वीं गाथा में से एक सूत्र, 'धम्मो वत्थुसहावो' का सन्दर्भ हम पहले ही दे आये हैं। गाथा की पूरी प्रथम पंक्ति इस प्रकार है-

धम्मो वत्थुसहावो, खमादि भावो य दस विहो धम्मो।

अर्थात् धर्म से आशय जहाँ वस्तु के स्वभाव से है, वही क्षमा आदि दस भाव भी धर्म हैं। क्षमा आदि ये दस भाव क्या हैं? उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य- ये दस धर्म गिनाए गये हैं।[२१] ये सभी दस धर्म वस्तुतः वे कर्तव्य हैं जिनके निर्वाह से मनुष्य अपने स्व-भाव में स्थित हो सकता है।

क्षमा मूलतः अक्रोध है। क्रोध भावनात्मक रूप से मनुष्य की एक विचलित अवस्था है। इस विचलन से स्वयं को बचाकर ही व्यक्ति शान्ति प्राप्त कर सकता है। जो क्रोध से तप्त नहीं होता, वही निर्मल क्षमा भाव रखता है।[२२] क्षमा में मैत्री भाव भी निहित है। जो सभी प्राणियों से मैत्री रखता है और किसी से वैर नहीं करता, वही क्षमा भी कर सकता है।[२३]

चित्त में मृदुता और व्यवहार में नम्र वृत्ति का होना *मार्दव* धर्म है। वस्तुओं की नश्वरता का विचार करके ही व्यक्ति अपने अभिमान और गर्व को समाप्त कर सकता है। कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत, और शील का तनिक भी गौरव न करना ही मार्दव धर्म है।[२४]

कुटिलता का परित्याग और सहज आचरण ही *आर्जव* है। अपने दोषों को छिपाए बिना कुटिल विचारों, कुटिल कार्यों और कुटिल वचनों से बचना आर्जव धर्म है।[२५]

शौच से तात्पर्य वस्तुतः अलोभ से है। जिसमें किसी वस्तु के लिए लिप्सा नहीं है, वही सच्चा शौच कर्म का पालन करता है। कहा गया है कि जो सम-सन्तोष रूपी

जल से लोभ-रूपी मल को धो देता है और भोजन तक की लिप्सा जिसमें नहीं रहती, वह विमल शौच का पालन कर पाता है।[२६]

दूसरों को सन्ताप पहुँचाने वाले वचनों का त्याग करके जो स्व पर हितकारी वचन बोलता है, वह *सत्य* धर्म का पालन करता है। निःसन्देह यथार्थ वचन बोलना ही सत्य है किन्तु साथ ही सत्य वचन हितकारी भी होना चाहिए।[२७]

मन, वचन और काय का नियमन करना, अर्थात् विचार, वाणी, गति और स्थिति में सावधानी बरतना *संयम* है।

इंद्रिय-विषयों तथा कषायों का निग्रह कर ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा जो आत्मा को संस्कारित कर अपने अंतःकरण को विकसित करता है वह *तप* करता है।[२८]

इसी प्रकार *त्याग* है। त्यागी वह कहलाता है जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक (स्वेच्छा से) भोगों का त्याग करता है।[२९]

किसी भी वस्तु में ममत्व भाव न रखना ही *आकिञ्चन्य* है। जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम-भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उसमें लिप्त नहीं होता वही अकिंचन ब्राह्मण (सत्-पुरुष) कहलाता है।[३०]

इसी प्रकार देहासक्ति से जो युक्त हैं, अर्थात् जो दूसरे के शरीर से तृप्ति करने से पूर्णतः विमुख हैं (विमुक्त परदेहतृप्ते) और स्त्रियों के सभी अंगों को देखते हुए भी जो अपने मन में दुर्भाव नहीं लाते और विकार पैदा नहीं होने देते, वे वस्तुतः *ब्रह्मचर्य*-भाव को ही धारण करते हैं।[३१]

उपरोक्त सभी दस धर्म मनुष्य के कर्तव्यों की ओर संकेत करते हैं कि उसे क्या करना चाहिए। उसे अपने स्वभाव में स्थित होने के लिए दूसरों को क्षमा कर देना चाहिए, विनम्र होना चाहिए, कुटिलता से बचना चाहिए, किसी के प्रति भी ममत्व नहीं रखना चाहिए इत्यादि। मनुष्य के ये सभी साधारण कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों में, यदि हम ध्यान से देखें, तो कुछ कर्तव्य स्वयं से सम्बन्धित हैं, तथा कुछ अन्य समाज से। मार्दव, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, और ब्रह्मचर्य मूलतः वैयक्तिक गुण हैं। इसी प्रकार क्षमा, आर्जव, सत्य आदि सामाजिक हैं। क्योंकि व्यक्ति से समाज के बीच में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं हो सकती इसलिए इन सद्गुणों को भी वैयक्तिक और सामाजिक की स्पष्ट

कोटियों में नहीं रखा जा सकता। वैयक्तिक गुणों में भी समाज को पूरी तरह ख़ारिज नहीं किया जा सकता और जो सामाजिक सद्गुण हैं, उन्हें बरतने वाला तो आखिर व्यक्ति है ही।

जैन दर्शन में दस सामान्य धर्मों के अतिरिक्त कुछ विशेष-धर्म भी हैं जो मुनियों और सामान्य जन के लिए अलग-अलग निर्धारित किये गए हैं। जैन-साधना में धर्म के दो रूप माने गये हैं-एक, श्रुत धर्म (तत्त्वज्ञान) और दो, चारित्र धर्म (नैतिक सद्गुण)।[३२] श्रुत धर्म का अर्थ है-जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान और श्रद्धा। चारित्र धर्म का अर्थ है-संयम और तप। गृहस्थ और श्रमण दोनों ही साधकों के लिए श्रुत धर्म तो समान है, यदि कोई अन्तर है तो वह चारित्र-धर्म में ही है, जिसके परिपालन में भिन्नता देखी जा सकती है।

चारित्र धर्म दो प्रकार का बताया गया है।[३३] एक अनगार और दूसरा आगार धर्म। अनगार-धर्म, श्रमण-धर्म या मुनिधर्म है जबकि आगार-धर्म, गृहस्थ या उपासक धर्म है। 'आगार' शब्द 'गुरु' या आवास के अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका लाक्षणिक अर्थ है- पारिवारिक जीवन। अतः जिस धर्म का परिपालन पारिवारिक जीवन में रहकर किया जाय उसे आगार-धर्म कहा जाता है। पुनः 'आगार' शब्द का अर्थ जैन परम्परा में छूट, सुविधा या अपवाद के लिए भी लगाया गया है। इस आधार पर आगार धर्म का अर्थ होगा-साधना का वह विशिष्ट स्वरूप जिसमें साधक को साधना की दृष्टि के विशेष सुविधा उपलब्ध हो। जैन विचारणा में गृहस्थ-धर्म को देशविरति चारित्र और श्रमण धर्म को सर्वविरति चारित्र, अथवा क्रमशः विकल चारित्र और सकल चारित्र भी कहा गया है। जिस साधना में अहिंसादि व्रतों की साधना पूर्णरूपेण हो वह सर्व-विरति चारित्र कहलाता है। गृहस्थ अपने पारिवारिक जीवन के कारण अहिंसा, सत्यादि व्रतों की पूर्ण साधना नहीं कर पाता है, अतः उसकी साधना को देश चारित्र, अंश चारित्र या विकल-चारित्र भी कहते हैं।

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि यद्यपि जैन धर्म में मुनि-धर्म और गृहस्थ-धर्म में भेद अवश्य किया गया है किन्तु यह भेद गुणात्मक न होकर केवल मात्रिक है। एक गृहस्थ अपने परिवार में रहता है और पारिवारिक दायित्वों से मुक्त नहीं होता, इसलिए उसे केवल धर्माचरण में कुछ छूट मात्र मिली हुई है। अंहिसा, सत्य-व्रत आदि का पालन तो वस्तुतः उसे भी करना ही है तभी वह साधना पथ पर आगे बढ़ सकता है। उसके लिए सद्गुणों की कोई अलग से गणना नहीं हुई है। जब

कहा जाता है कि अणुव्रतों और महाव्रतों में अन्तर है तो यह अन्तर केवल उनके पालन करने की मात्रा में है न कि व्रतों में अन्तर्वस्तु का अन्तर है।

दूसरी बात यह है कि मुनि-धर्म और गृहस्थ-धर्म यद्यपि दो विशेष प्रकार के लोगों के लिए निर्धारित धर्म हैं किन्तु इन्हें इस अर्थ में विशेष-धर्म नहीं मानना चाहिए कि जिस अर्थ में हिन्दू दर्शन में वर्णाश्रम विशेष-धर्म माने गये हैं। जैन दर्शन गृहस्थों की किसी वर्ण-व्यवस्था में विश्वास नहीं करता और इसलिए प्रत्येक वर्ण के व्यक्तियों के लिए उसमें कर्तव्यों का अलग-अलग प्रावधान भी नहीं है। सभी गृहस्थों को अणुव्रतों का पालन करना है, वह फिर हिन्दुओं के हिसाब से किसी भी वर्ण का क्यों न हो। इसी प्रकार जैन धर्म में आश्रम-व्यवस्था का भी कड़ाई से पालन आवश्यक नहीं माना गया है। यहाँ किसी भी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के बिना वानप्रस्थ या संन्यास धारण नहीं कर सकता। वस्तुतः यहाँ जितनी ही शीघ्रता से व्यक्ति मोक्ष के लिए अपने को तैयार कर लेता है, उतनी ही जल्दी वह श्रमण-धर्म धारण कर सकता है।

धर्म का निरुक्त अर्थ धारण करवाने से है। *धरतीति धर्मः,* जो धारण करावे, पहुँचावे उसे धर्म कहते हैं। धर्म, पूछा जा सकता है-कहाँ पहुँचाता है, क्या धारण कराता है? धर्म जीवों को संसार के दुःखों से निकाल कर उन्हें उत्तम-सुख धारण कराता है। *संसारदुःखतः सत्त्वान यो धरत्युत्तमे सुखे।*[३४] यहाँ उत्तम सुख से तात्पर्य मोक्ष सुख से है क्योंकि मोक्ष प्राप्त होने पर ही जीव जन्म-मरण के दुःखों से बच सकता है। मोक्ष-प्राप्ति के अभाव में स्वर्गादिक सुखों को भी आपेक्षिक सुख कहा जाता है, परन्तु मुमुक्ष का लक्ष्य उस ओर नहीं होता। उसका लक्ष्य तो मोक्ष-सुख की ओर ही रहता है।[३५]

धर्म इस प्रकार अन्ततः मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। यही उसकी अर्थ-क्रिया है। किन्तु वे गृहस्थ जिनका तात्कालिक लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति नहीं है वे भी यदि धर्म का सेवन करते हैं और उन्हें ऐसा करना ही चाहिए तो उनका गार्हस्थ्य कम नहीं होगा अपितु बढ़ेगा ही। दुःख में निश्चत ही कमी आएगी।[३६] गृहस्थों हेतु इसीलिए अणुव्रत रूप में धर्म-पालन व्यवस्था जैन दर्शन में की गई है। धर्म की तो किसी न किसी रूप में इस प्रकार सदा ही आवश्यकता है।

वस्तुतः धर्म की तो इन्द्रिय-सुख के लिए भी आवश्यकता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों के इष्ट विषय सम्बन्धी जो सुख हैं, उन सबको धर्म वृक्षों के ही फल समझना चाहिए। अतः धर्म की रक्षा करते हुए, विषय फल भोगों को भोगना ही उचित है।[३७] धर्म की अर्थ

क्रिया-उसका अपना कार्य-कभी घातक नहीं हो सकता। कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष रूप से धर्म तो साधक ही होता है। अतः ऐसा सोचना कि विषय-सुखों में धर्म-धारण से बाधा आ पड़ेगी और इसलिए धर्म से विमुख हो जाना चाहिए, गलत होगा। धर्म से तो सदैव ही सुख की उत्पत्ति होती है।[३८] सुख-सम्पत्ति आदि विभव की प्राप्ति धर्म द्वारा ही हुई है। इसलिए धर्मरूप प्रधान कारण की रक्षा करते हुए ही भोगने चाहिए, न कि धर्म का ध्वंस करके। किसान को जो धान्य मिलता है वह बीज बोने से ही मिलता है। इसीलिए वह बीज को आगे के लिए भी सँभालकर रखता है जिससे कि एक बार उत्पन्न हुआ धान्य भोग लेने पर भविष्य में उसकी उपज होती रहे।[३९] इसी प्रकार धर्म है। धर्म से ही हम भविष्य में भी सुख के लिए आश्वस्त हो सकते हैं अन्यथा स्वच्छन्द विषय-भोग तो आत्मघाती ही होते हैं।

धर्म सेवन इस प्रकार सदैव ही सभी लोगों के लिए उपकारार्थ है, '*जीवलोकोपकारार्थं धर्मः*'।[४०] वस्तुतः धर्म के समान अन्य कोई पुरुषार्थ (अर्थ या काम) समस्त प्रकार से अभ्युदय का साधक नहीं है। यदि परम पुरुषार्थ, मोक्ष, प्रार्थनीय है तो भी धर्म का ही सेवन करना होगा।[४१]

संक्षेप में, धर्म जैसा कि हिन्दू-दर्शन में कहा गया है, अभ्युदय और निःश्रेयस, दोनों की ही सिद्धि कराता है।[४२] उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है और यदि हम उसकी रक्षा करते हैं तो वह भी हमारी रक्षा करता है- *धर्मो रक्षति रक्षितः*। ठीक वैसे ही कि जैसे यदि किसान अपने बीजों की रक्षा करता है तो वे ही बीज उसे भविष्य में भरपूर फसल देते हैं। धर्म न केवल विषय-भोगों में निहित दुःख को कम करता है, वरन् निःश्रेयस, परम पुरुषार्थ-मोक्ष-को भी प्राप्त कराने का राजमार्ग है।

जैन आचार्यों ने धर्म की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। जैसा कि हम उल्लेख कर ही आए हैं कि कभी इसे "वत्थुसहावो धम्मो" कहा गया है तो कभी इसे "खमादिभावो य दसविहो धम्मो" कहा गया है। कभी "चारित्रं खलु धम्मो" कह कर इसे पारिभाषित किया गया है तो कभी "जीवाणं रक्खणं धम्मो" कह कर इसके अहिंसा पक्ष पर बल दिया गया है। यदि हम ध्यान से देखें तो धर्म की ये सभी परिभाषाएँ 'वत्थुसहावो धम्मो", इस परिभाषा के विस्तार के ही विभिन्न रूप हैं। अन्ततः क्षमा आदि सारे धर्म आत्मा के ही तो स्वभाव हैं। एक स्वभाव के कथन में अन्य स्वभावों का कथन स्वतः ही सम्मिलित हो जाता है। पुनः, इस स्वभाव की प्राप्ति में सहायक तत्त्व भी उपचार रूप से धर्म ही माने जाने चाहिए।[४३]

अर्थ और काम

सामान्यतः यह समझा जाता है कि निवृत्ति प्रधान जैन दर्शन में मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ है। धर्म-पुरुषार्थ की स्वीकृति उसके मोक्षानुकूल होने में ही है। अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। लेकिन यह विचार एकांगी माना जाएगा। जैन दर्शन यह कभी नहीं कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय हैं।[४४] भद्रबाहु ने अपनी *दशवैकालिकनिर्युक्ति* में स्पष्ट घोषणा की है कि धर्म, अर्थ और काम को भले ही अन्य विचारक परस्पर विरोधी मानते हों किन्तु जिन-वाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने पर परस्पर असपत्न (अविरोधी) हैं।[४५] यही बात बाद में आचार्य हेमचंद्र भी कहते हैं कि गृहस्थ उपासक धर्म और काम पुरुषार्थों का इस प्रकार सेवन करे कि कोई किसी का बाधक न हो।[४६] अर्थ और काम के सम्बन्ध में वस्तुतः यही दृष्टि हिन्दू दर्शन में भी अपनायी गयी है और इस प्रकार हम दोनों दृष्टिकोणों में साररूप कोई भेद नहीं पाते। किन्तु मूलतः निवृत्तिपरक होने के कारण जैन-दर्शन में विषय का निरूपण अलग ढंग से हुआ है जो कुछ इस प्रकार का आभास देता है कि मानो अर्थ और काम को मूल्य-व्यवस्था से पूरी तरह निरस्त कर दिया गया हो। वस्तुतः जिस अर्थ और काम को जैन दर्शन में निरस्त किया गया है, वह अमर्यादित अर्थ और काम है जिसे पुरुषार्थ-चतुष्टय में मूल्य माना ही नहीं गया है। अर्थ और काम पुरुषार्थ-चतुष्टय में मूल्य का रूप तभी धारण करते हैं जब वह धर्म द्वारा मर्यादित होकर मोक्षोन्मुख होते हैं। जैन दर्शन के एक आधुनिक व्याख्याकार अमरमुनि का भी यही मत है।[४७] उनके अनुसार अर्थ जब धर्म की छाया में आ जाता है तभी वह धर्म की ही तरह दिव्य हो जाता है। लक्ष्मी, जो अर्थ का प्रतीक है, देवी है, राक्षसी नहीं। अर्थ को देवत्व धर्म प्रदान करता है। धर्म दृष्टि देता है कि अर्थ कहाँ से आना चाहिए, उसका किस प्रकार उपयोग होना चाहिए और आगे भी कैसा रहना चाहिए। धर्म अर्थ के आने की दिशा निर्धारित करता है और आगे की गति का भी निर्देश करता है।

यही बात काम (भोग) पर भी लागू होती है। काम भी देव है। काम-देव असुर नहीं है। न जैनों ने कहा, न बौद्धों ने और न ही वैदिक आचार्यों ने। सबने ही देव कहा उसे। राक्षस किसी ने नहीं कहा। देव का मतलब दिव्य होता है। इसका अर्थ यह है कि काम शरीर की क्षुद्र वासना ही नहीं है। शरीर के जितने भी भोग हैं वे काम में आ जाते हैं। अर्थ का उपभोग भी काम ही है। यह भोग दिव्य कब बनेगा? अमर मुनि कहते हैं कि धर्म का प्रकाश अर्थ के माध्यम से सीधे काम तक जाना चाहिए, तभी वह दिव्य

होगा। अथवा कहें, तभी काम मूल्यवत्ता प्राप्त कर सकेगा। दूध, पानी इत्यादि यदि साफ नहीं होता तो हम उसे छानते हैं, उसी प्रकार अर्थ को भी छानना होगा और यह छानना धर्म ही करेगा। यदि अर्थ छाना नहीं गया, उसका ठीक-ठीक उपयोग नहीं किया गया तो वह अर्थ, अर्थ न रहकर अनर्थ हो जाएगा।

अर्थ के छानने का क्या आशय है? दान। अर्थ के पीछे यदि दान की भावना है तभी व्यक्ति अर्थ पचा सकता है। कहा भी है कि अगर तू पचा पाता है तो सौ हाथों से कमा और सौ हाथों से समेट, इकट्ठा कर, लेकिन उसे हजार हाथों से लुटाने की, बरसाने की हिम्मत भी रख।

अर्थ की तरह काम को भी छानना होगा। काम को छानने के लिए जो छनना है वह है, अनासक्ति। काम यदि आसक्ति से भरा हुआ है तो वह क्षुद्र है, हीन है, किन्तु यदि वह आसक्तिरहित है तो दिव्य है। जिस काम में आसक्ति की गन्दगी है, वह सड़कर बर्बाद हो जाता है। अर्थ और काम धर्म के प्रकाश से ही मोक्षोन्मुख होते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में भी अर्थ और काम को विमूल्य नहीं माना गया है, यदि वे धर्मानुकूल हैं। धर्म, 'अर्थ और काम' दोनों को ही मूल्यवत्ता प्रदान करता है वह अमर्यादित अर्थ जिसमें दान के लिए, अपरिग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है, और अमर्यादित काम जो आसक्तियुक्त है निश्चय ही मूल्य नहीं माने जा सकते।

अर्थ का स्वरूप

जैन दर्शन में 'अर्थ' की कहीं भी कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। मोटे तौर पर अर्थ से आशय यहाँ परिग्रह से लिया गया है और कुल मिलाकर परिग्रह का या तो निषेध किया गया है (मुनिधर्म), अथवा उसे मर्यादित किया गया है। (गृहस्थ-धर्म)। यदि हम इस बात पर विचार करें कि किन वस्तुओं के परिग्रह का निषेध अथवा मर्यादा बताई गयी है तो हमें स्पष्ट ही 'अर्थ' का मतलब समझ में आ सकता है। अलग-अगल गाथाएँ/श्लोकों में अलग-अलग प्रकरण के अनुसार वस्तुओं के अपरिग्रह के लिए अथवा सीमित परिग्रह करने के लिए उपदेश हैं। *तत्त्वार्थसूत्र* में १. खेती-बाड़ी और निवास हेतु जमीन, २. चाँदी-सोना, ३. धन (रुपया-पैसा) और पशुधन तथा अनाज, ४. नौकर-चाकर और कर्मचारी इत्यादि तथा ५. बर्तन-भाँडे, वस्त्रादि की मात्रा को निश्चित करने को कहा गया है।[४८] इससे स्पष्ट है कि अर्थ के अन्तर्गत ये पाँचों वस्तुएँ आ जाती हैं। *सूत्रकृताङ्ग* में धन सम्पत्ति और सहोदर भाई-बहनों के त्याग की बात कही गयी

है।[४६] इससे प्रतीत होता है कि अर्थ के नाते-रिश्तेदार भी अर्थ-रूप ही माने गए हैं जो सम्पत्ति की भाँति ही मनुष्य की रक्षा करने में समर्थ समझे जाते हैं किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। वे भी रक्षा करने में अन्ततः असमर्थ ही सिद्ध होते हैं, अतः उनके त्याग में भी मनुष्य का कल्याण ही है। *सूत्रकृताङ्ग* की ही एक अन्य गाथा सम्पत्ति और पशुओं के साथ-साथ ज्ञानियों को भी धन अथवा अर्थ में सम्मिलित करती है क्योंकि वे भी त्राण और शरण देने वाले समझे गए हैं।

इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि जिसे भी हम अपना रक्षक और पोषक समझते हैं, अथवा वे सब जो त्राण या शरण देने वाले समझे गए हैं, 'अर्थ' के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनकी निम्नलिखित वर्गों में गणना की जा सकती है-

१. क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य और कुप्य आदि वस्तुएँ।

२. दास-दासी, सहोदर भाई-बहिन, नाते रिश्तेदार आदि।

३. ज्ञानी, विद्वान् पुरुष जिन्हें हम अपना रक्षक और शरणदाता समझते हैं।

स्पष्ट ही अर्थ से तात्पर्य यहाँ केवल धन-सम्पत्ति से ही नहीं है बल्कि उन सभी जीवित प्राणियों से भी है जिन्हें हम अपना हितैषी या रक्षक मानते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि *कामसूत्र* में भी अर्थ के अन्तर्गत न केवल भूमि, चाँदी-सोना, पशुधन, धन-धान्य और भांडोपस्कर का अर्जन सम्मिलित किया गया है बल्कि विद्यार्जन और मित्र-लाभ को भी, यदि भौतिक लाभ और लौकिक कल्याण के लिए उनका इस्तेमाल किया जाता है, तो अर्थ की कोटि में ही रखा गया है।[५०]

परिग्रह-अपरिग्रह

जैसा कि हम ऊपर संकेत दे आए हैं कि अर्थ अपने आपमें न मूल्य है और न ही विमूल्य। यदि वह धर्मानुसार अर्जित, वितरित और उपभुक्त है तो वह मूल्यवान हो जाता है और यदि वह अमर्यादित है तो वह विमूल्य बन जाता है। ऐसे महत्त्वहीन अर्थ को त्यागना एवं उससे पूर्ण निवृत्ति पा लेना ही श्रेयस्कर है। जैन-दर्शन में जब अर्थ को अनर्थ कहा गया है[५१] तो तात्पर्य अमर्यादित अर्थ से ही है। इसका परिग्रह, मनुष्य भ्रमवश समझता है कि उसकी रक्षा कर सकेगा। किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि धन-सम्पत्ति और सहोदर भाई-बहन इत्यादि कोई भी व्यक्ति किसी की भी रक्षा करने में असमर्थ है। यदि व्यक्ति यह जान सके और अपने जीवन की क्षण-भंगुरता को समझ सके तभी वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकता है।[५२]

वस्तुतः अज्ञानी जीव ही धन, और ज्ञानी पुरुष को अपना शरणदाता या रक्षक समझते हैं, कि ये मेरे हैं और मैं उनका हूँ। परन्तु ये सब, वस्तुतः, न तो त्राणरूप हैं और न ही शरणरूप।[५३]

जैनदर्शन इस प्रकार किसी भी प्रकार के अर्थ के परिग्रह को गलत समझता है क्योंकि यह सोचना ही अर्थ हमारी रक्षा करेगा मात्र एक भूल है। वस्तुतः परिग्रह ही (स्वयं, अर्थ नहीं) अनर्थों का मूल है।[५४] इसी से इच्छाएँ और कामनाएँ जन्म लेती हैं।[५५]

परिग्रह को 'मूर्च्छा' कहा गया है।[५६] मूर्च्छा सम्मोहन है, आसक्ति है। आन्तरिक या बाह्य, भावों या वस्तुओं में बँध जाना है, उनमें संलग्न हो जाना है और इस प्रकार विवेक-शून्य हो जाना है। अर्थ से जब हमारा इस प्रकार का परिग्रह हो जाता है तो अर्थ विमूल्य बन जाता है, अनर्थ हो जाता है। इस प्रकार के परिग्रह से अपने आपको बचाना ही पुरुषार्थ है, मूल्यवान है। एक अपरिग्रही वस्तुतः वह है तो अर्थ के प्रति मूर्च्छा नहीं रखता, उससे कोई लगाव नहीं रखता और उसके संग्रह को इसलिए अनावश्यक समझता है।

अर्थ के प्रति मूर्च्छा न रखना और इसलिए उसके संग्रह से बचे रहना, यही अपरिग्रह है, यही धर्म है। यदि अर्थ के प्रति कोई लगाव नहीं होगा तो उसका दान भी सम्भव हो सकेगा और दान करने से व्यक्ति उसके संग्रह से भी बच सकेगा। इसीलिए कहा गया है कि इस संसार में जितने मनुष्य अपरिग्रही हैं वे इसी अर्थ में अपरिग्रही हैं कि वे न तो वस्तुओं के प्रति आसक्त होते हैं और न ही उनका संग्रह करते हैं।[५७]

पुनः अपरिग्रह दो प्रकार का होता है। एक, बाह्य (वस्तुओं के प्रति) और दूसरा, आभ्यन्तर परिग्रह। दस प्रकार की वस्तुएँ बाह्य हैं जिनके प्रति व्यक्ति का परिग्रह (आसक्ति, लगाव) हो सकता है, वे हैं- खेत, मकान, धन-धान्य, वस्त्र, भाण्ड, दास-दासी, पशु, यान (वाहन), शय्या और आसन। इसी प्रकार चौदह प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह हैं, वे हैं-रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, इत्यादि। उन सभी के परिग्रह से यदि मनुष्य मुक्त हो जाता है तो वह शान्ति पाकर प्रसन्नचित्त हो सकता है और यह मुक्ति-सुख ऐसा होगा जो चक्रवर्ती राजा-महाराजाओं को भी नसीब नहीं है।

परिग्रह का सामान्य अर्थ संग्रह से है। यदि संग्रह का यह सामान्य अर्थ ही लिया जाय तो अर्थ का पूर्ण-अपरिग्रह लगभग ससम्भव है। मनुष्य आखिर एक देहधारी प्राणी है और देहधारी की अपनी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति अर्थ द्वारा ही की

जा सकती है, और फिर मोक्ष हेतु धर्म साधने के लिए भी तो शरीर की आवश्यकता है। अतः शरीर और उसकी आवश्यकताओं को हम पूर्णतः निरस्त नहीं कर सकते। मोक्ष का साधन ज्ञान और तप है और तप का साधन देह है। देह के लिए आहार आवश्यक है।[५८] अतः थोड़ा बहुत अर्थ-संग्रह और अर्थ-उपार्जन भी जरूरी है। जैन-दर्शन में इसलिए गृहस्थ के लिए यह निर्देश है कि वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से ही सम्पत्ति का अर्जन करे। पुरुषार्थ से यहाँ तात्पर्य स्वप्रयत्न से है। मनुष्य को केवल स्वप्रयत्न से उपार्जित सम्पत्ति को भोगने का ही अधिकार है। *गौतमकुलक* में कहा गया है कि पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए होती है और दूसरों की लक्ष्मी पर-स्त्री के समान है। दोनों का ही भोग वर्जित है। अतः स्वयं अपने पुरुषार्थ से धन का उपार्जन करके ही उसका भोग धर्मानुसार कहा जा सकता है।[५९] प्रश्न यह है कि व्यक्ति को भोग करने का भी आखिर कितना अधिकार है? यह प्रश्न हमें सीधे काम की व्याख्या की ओर अग्रसर करता है।

काम का स्वरूप

जैन दर्शन में मनुष्य-जीवन में काम के महत्व को कभी अनदेखा नहीं किया गया। आगमिक साहित्य स्पष्टतः कहता है कि पुरुष निश्चित रूप से काम-कामी है।[६०] मनुष्य की कामनाएँ विशाल हैं, अनन्त हैं। इतना ही नहीं वे दुराग्रही और हठी हैं- 'गुरू से कामा।'[६१] उनका अतिक्रमण करना सहज नहीं है। इसीलिए कामना को 'गुरु' कहा गया है और फिर, किसी भी कामना की पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हो पाती, क्योंकि यह पुरुष अनेक चित्तवाला है। एक कामना सन्तुष्ट हो नहीं पाती कि मन दूसरे की ओर आकृष्ट हो जाता है। कोई अगर यह सोचता है कि शयन से नींद पर, भोजन से भूख पर अथवा लाभ से कामनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है तो निश्चित ही वह भ्रम में है।[६२] मनुष्य मानो चलनी भरना चाहता है जो कभी भर ही नहीं सकती।[६३]

पुरुषार्थ चतुष्टय में काम साध्य है और अर्थ साधन। काम की आसक्ति ही मनुष्य को अर्थसंग्रह के लिए प्रेरित करती है[६४] और अर्थ-संग्रह से कामनाएँ पैदा होती हैं।[६५] यह एक दुष्चक्र है।

जो बात अर्थ के लिए सही है, काम के सन्दर्भ में भी वही खरी उतरती है। अर्थ अपने आप में न मूल्य है, न विमूल्य। उसका उपयोग ही उसे मूल्य या विमूल्य बनाता है। जो अर्थ का परिग्रह करता है और पदार्थों के प्रति आसक्ति रखता है, वह अर्थ

को विमूल्य कर देता है। इसी प्रकार जो कामभोग के प्रति ममत्व रखता है, वह काम को विकृत करता है, उसे विषम बनाता है।[६६] अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम काम को विकृत न होने दें और इस प्रकार उसे मूल्यवान बनाएँ।

ऐसा नहीं है कि विषय-भोगों (काम) में कोई सुख नहीं है। यदि सुख न होता तो मनुष्य उसकी ओर आकृष्ट ही क्यों होता? किन्तु काम की अपनी सीमाएँ और समस्याएँ हैं, वे इस प्रकार हैं-

१. सभी विषय-भोग जो सुख प्रदान करते हैं, उनका सुख क्षणिक है और वे दीर्घकाल तक दुःख देने वाले हैं।[६७]

२. शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त व्यक्ति आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकता क्योंकि ये सभी विषय इन्द्रियों से सम्बन्धित हैं। इन्द्रियाँ शरीर का अंग हैं। वे आत्मा में अनुपस्थित हैं। शुद्ध आत्मा में तो वर्ण, रस आदि तथा स्त्री, पुरुष आदि पर्याय और संस्थान, संहनन होते नहीं हैं,[६८] फिर इनमें आसक्ति रखकर भला व्यक्ति आत्मलाभ कैसे कर सकता है?

३. विषय-भोग द्वारा प्राप्त शारीरिक सुख, जिसे हम वस्तुतः सुख समझते हैं, सुख होता ही नहीं। इसकी तुलना खुजली के रोगी से की जा सकती है। खुजली का रोगी जैसे खुजलाने पर दुःख को भी सुख मानता है, वैसे ही मोहातुर मनुष्य कामजन्य दुःख को सुख मानता है।[६९]

४. जो मनुष्य शरीर में आसक्त हैं वे विषयों की ओर खिंचे चले जाते हैं और इस प्रकार बार-बार दुःख उठाते हैं। काम-भोगों के ये कटु परिणाम हैं। इन्हें भ्रान्ति जान लेना चाहिए।[७०]

५. इन्द्रिय-विषय व्यक्ति को चारों ओर से घेर लेते हैं। जैसे एक आवर्त (भँवर) में फँसा व्यक्ति निकल नहीं सकता वैसे ही विषयों में घिरा व्यक्ति स्वयं को असहाय पाता है। इसीलिए कहा गया है कि जो विषय है, वह आवर्त है और जो आवर्त है वह विषय है।[७१] विषय और आवर्त का एकत्व प्रतिपादन कर यह निर्दिष्ट किया गया है कि साधक को यदि विषयों का ग्रहण करना ही पड़े तो मूर्च्छा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मूर्च्छा से ग्रस्त व्यक्ति इच्छा के अधीन होकर विषय-लोलुप हो जाता है और फिर विषयों से छुटकारा लगभग असम्भव हो जाता है।

६. कामनाओं का अतिक्रमण सहज नहीं है। वे विशाल हैं, दुराग्रही और हठीली

हैं। इसलिए अज्ञानी पुरुष उनकी पूर्ति के लिए क्रूर से क्रूर कर्म करने को उद्यत हो जाते हैं। क्रूर कर्म करते हुए वे सुख की बजाय दुःख का सृजन करते हैं और इस प्रकार 'विपर्यास' को प्राप्त होते हैं। सुख का अर्थ ही इस तरह दुःख को प्राप्त होता है।[७२] सुखवाद की यही विडम्बना है। सुख की तलाश अपने आप में दुःखद है। इसी को पाश्चात्य नीतिशास्त्र में 'पैराडॉक्स ऑव हेडोनिज्म' कहा गया है।

काम की उपर्युक्त सीमाओं को देखते हुए मनुष्य को सही निर्णय लेना आवश्यक है। वस्तुतः जैसा कि कहा जा चुका है कि भोग अपने आप में न अच्छा है न बुरा है, न तो समत्व जाग्रत् करने वाला है और न ही वह विषम है। काम-भोग में जो विकृतियाँ या विषमताएँ आती हैं, वे काम के प्रति व्यक्ति के ममत्व, आसक्ति के कारण आती हैं। यह लिप्तता ही काम को विषम बनाती है। अतः आवश्यकता इस बात की इतनी नहीं है कि काम से व्यक्ति पूर्णतः विरत हो जाए या उसे निरस्त कर दे। जब तक व्यक्ति के पास शरीर है, ऐसा किया भी नहीं जा सकता। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि वह-

(क) अपने काम का वृत्त कम करे। कामनाओं को असीमित न होने दे, बल्कि उनकी सीमा निर्धारित करता जाए और धीरे-धीरे इस सीमा को, काम के दायरे को, संकुचित करता जाए।

(ख) काम के प्रति आसक्ति न रखकर एक निःसंग, निष्काम-भाव विकसित करे? विषय-भोगों की विकृतियों से इसी प्रकार बचा जा सकता है। सत्पुरुष इसीलिए काम आदि विषय-भोगों का सेवन सम्यक्त्व भाव से करते हैं न कि उनमें लिप्त होकर। जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से विकारों और विषयों में लिप्त नहीं होते[७३] और वे जो भले ही तिलक आदि लगाकर मुनि का वेश धारण कर लें, यदि काम के प्रति अपनी आसक्ति नहीं छोड़ पाते तो उन्हें काम से आवर्त ही समझा जाएगा। कुछ लोग तो विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करते हैं (अर्थात् विषयों में लिप्त नहीं होते) और कुछ सेवन न करते हुए भी विषयों का सेवन करते हैं (अर्थात्, उनसे अपने रागात्मक लगाव को नहीं छोड़ पाते)। इन दोनों में स्पष्ट ही प्रथम प्रकार के लोग ही सच्चे सत्पुरुष हैं जो कर्म तो करते हैं किन्तु उसमें (उसके फल में/उसके कर्तृत्व में) अपना अधिकार नहीं मानते।[७४] यह ठीक वैसे ही है जैसे अतिथि रूप में आया कोई पुरुष विवाहादि कार्य में लगा रहने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से कर्ता नहीं होता।

मोक्ष का स्वरूप

अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति ही जैन-दर्शन का अभीष्ट भी ज्ञान प्राप्त करना मात्र नहीं है। मोक्ष जैन-दर्शन का केन्द्र बिन्दु है और मोक्ष से आशय दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति और चरम सुख प्राप्त करना है। इसीलिए जैन दर्शन में मोक्ष को पुरुषार्थ में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और क्योंकि इस मोक्ष की प्राप्ति केवल धर्म-मार्ग से ही सम्भव है इसलिए धर्म भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया है। धर्म, यद्यपि मोक्ष की अपेक्षा से, केवल एक साधन मूल्य है किन्तु साधन-मूल्य होने के नाते वह मोक्ष-मार्ग भी है। अतः उसकी मूल्यवत्ता मोक्ष से कृतई कमतर नहीं है।

जैन दर्शन में 'मार्ग' और 'मार्ग-फल' इन दो अवधारणाओं में अन्तर किया गया है। 'मार्ग' मोक्ष का उपाय है। उसका फल 'मोक्ष' या 'निवार्ण' है किन्तु उपाय या मार्ग आखिर है क्या? गाथा के अनुसार यह निश्चित ही 'सम्यक्त्व' है।[७५] जो व्यक्ति सम्यक् मार्ग पर चलता है, वही अन्ततः मोक्ष प्राप्त करता है। इस मार्ग के अनुसरण के फलस्वरूप ही निर्वाण सम्भव हो सकता है। जैन दर्शन में समत्व को धर्म कहा गया है। जो धर्म है, वही समत्व है।[७६] अतः सिद्ध हुआ-

मार्ग = समत्व = धर्म

धर्म और मोक्ष एक दूसरे से साधन-साध्य रूप में सम्पृक्त हैं। एक मार्ग है, दूसरा मार्ग-फल है। एक उपाय है, दूसरा गन्तव्य है। गन्तव्य (मोक्ष) वह प्रयोजन है जिस तक केवल मार्ग (धर्म) द्वारा ही पहुँचा जा सकता है।

मोक्ष केवल वे ही प्राप्त कर सकते हैं जो धर्म-मार्ग पर चलते हैं, उन्हें महर्षि कहा गया है। उन्हें महावीर, अर्हत्, वीतराग आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है। मोक्ष के लिए भी जैन साहित्य में एकाधिक नाम मिलते हैं- १. निर्वाण, २. अबाध, ३. सिद्धि, ४. लोकाग्र, ५. क्षेम, ६. शिव और ७. अनाबाध इत्यादि मोक्ष के ही समानार्थक हैं[७७], भले ही उनके अर्थ-छटाओं में थोड़ा-बहुत अन्तर क्यों न हो।

निर्वाण शब्द का प्रयोग अधिकतर बौद्ध-दर्शन में हुआ है। उसका अर्थ बुझा देने से है। निर्वाण वह अवस्था है जहाँ दुःखों और कष्टों की अग्नि शान्त कर दी गई है। जैन-दर्शन में भी निर्वाण शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। *अबाध* से तात्पर्य बन्धनरहित होने से है। यह आत्मा की वह अवस्था है जिसमें आत्मा जन्म-मरण के चक्र से पूर्णतः मुक्त हो जाती है और इस प्रकार अपने सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पा जाती है। सिद्धि,

आत्मसिद्धि या आत्मलाभ है। यह आत्मा के स्वभाव की उपलब्धि है। आत्मा का स्वभाव जैन दर्शन के अनुसार 'समत्व' है। समत्व का आध्यात्मिक अर्थ आत्मा का अपने आपमें अवस्थित होना है। आत्मा जब अपने आप में, सभी कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर, अवस्थित होती है, तभी वह सिद्धि प्राप्त करती है। सिद्धि इस प्रकार आत्मा की सिद्धावस्था है। जैन दर्शन का एकमात्र मूल्य आत्मा की अपनी पहचान प्राप्त करना है। यह *सर्च फॉर आइडेंटिटी* है। इसी खोज की परिणति सिद्धि है। *लोकाग्र* से अर्थ, जैन दर्शन के अनुसार, ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग से है जहाँ आत्माएँ सिद्धि के उपरान्त 'सिद्धशिला' के नाम से विश्रुत स्थान पर स्थित रहती हैं। जैन दर्शन में कई 'लोकों' की परिकल्पना की गई है और आत्मा को ऊर्ध्वगामी माना गया है आत्मा जब कर्मों के बन्धन से पूर्णतः मुक्त हो जाती है तो वह ऊर्ध्वगमन करती है यह ऊर्ध्वगमन ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग तक ही सम्भव होता है। क्योंकि इसके आगे धर्मास्तिकाय (गति का नियम) का अभाव है। अतः मोक्ष को लोकाग्र भी कहा गया है। *क्षेम* से आशय कल्याणकारी या हितकर से है। मनुष्य का हित या कल्याण इसी में है कि वह मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे। क्षेमावस्था एक ऐसी स्थिति है जो सभी उपद्रवों से मुक्त है। मोक्ष को *अनाबाध* भी कहा गया है। यहाँ कोई बाधा नहीं है। यह बाधा-रहित, अबाधित है। यह वह अवस्था है जहाँ आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र है, अनाबाध है। अन्ततः स्वयं *मोक्ष* शब्द वस्तुतः कर्म-बन्धनों से मुक्ति की ओर संकेत करता है। आत्मा जब तक कर्म-बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाती, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। मोक्ष आत्मा की पूर्ण मुक्तावस्था है।

जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप वस्तुतः आत्मा का अपना स्वरूप है। यहाँ कल्पना की गई है कि आत्मा ऊर्ध्वगामी है- "उड्ढं पक्कमई दिसं", वह सदा ऊर्ध्व दिशा की ओर प्रस्थान करती है। दुर्भाग्य से, आसक्ति के कारण, कर्म-कण उससे संलग्न हो गये हैं और इस प्रकार आत्मा के भारी हो जाने से वह अधोगति को प्राप्त है। किन्तु कर्म-बन्धन से जैसे-जैसे वह मुक्त होती जाती है, वह उर्ध्वगामी होती जाती है और पूर्ण-मुक्ति होने पर मोक्ष पा जाती है।

जैन दर्शन में मोक्ष को दो रूपों में वर्णित किया गया है- नकारात्मक और स्वीकारात्मक। जिस प्रकार उपनिषदों में 'नेति-नेति' सूत्र द्वारा आत्मा के बारे में वस्तुओं और विषयों को इंगित करते हुए कथन किये गए हैं कि आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है, इत्यादि, उसी तरह जैन दर्शन में भी आत्मा/मोक्ष के स्वरूप का हमें प्रायः नकारात्मक वर्णन ही मिलता है। आगमिक साहित्य में कहा गया है कि वह न शब्द है, न रूप है, न गन्ध है, न रस है और न ही स्पर्श है।[७८]

कहा गया है कि वहाँ से सब स्वर लौट जाते हैं। वचन द्वारा उसे प्रतिपाद्य नहीं किया जा सकता। उसका वर्णन असम्भव है क्योंकि वहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं है, वहाँ तर्क-वितर्क के लिए भी कोई स्थान नहीं है। वह बुद्धि से परे है। मति द्वारा ग्राह्य नहीं है। वह अकेला, ओज और प्रकाश से पूर्ण शरीर में अप्रतिष्ठित होने के कारण, अशरीरी है। वह शरीर न होकर आत्मा है, ज्ञाता है।[७९]

पुनः वह *निराकार* है। न बड़ा है, न छोटा है, न वृत्त है, न त्रिकोण है और न ही चतुष्कोण है। वह परिमण्डलाकार भी नहीं है। उसका कोई रंग नहीं है। वह न कृष्ण है, न नील है, न लाल है, न पीत है और न ही शुक्ल है। वह गन्धहीन है। वह न सुगन्ध है और न ही दुर्गन्ध है। वह रसरहित है। न तिक्त है, न कटु है, न कषाय है, न अम्ल है और न ही मधुर है। वह स्पर्श से परे है। न कड़ा है, न मुलायम है, न भारी है, न हल्का है, न ठंडा है, न गरम, न चिकना है और न ही रूखा है।[८०] वह अशरीरी, अजन्मा और असंग है।[८१] वह लिंगातीत है। न पुरुष है, न स्त्री है और न ही नपुंसक है।[८२] वह अनुपम, अतीत और सभी पदों से परे है।[८३]

इतना ही नहीं, मोक्षावस्था एक ऐसी अवस्था है जहाँ न दुःख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है, न जन्म है। जहाँ न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न तृष्णा है, न भूख है, जहाँ न कर्म है, न नोकर्म (शरीर) है। न चिन्ता है, न किसी भी प्रकार का ध्यान है।[८४]

मोक्ष/आत्मा के उपर्युक्त नकारात्मक वर्णन से जैन दर्शन में यह रेखांकित किया गया है कि मोक्ष का वास्तविक विवरण, इन्द्रियानुभव में परे होने के कारण, शब्दों में सम्भव नहीं है। साथ ही मनुष्य की संवेगात्मक अनुभूतियाँ (जैसे, दुःख-सुख इत्यादि) की कोटि में भी इसे नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः मोक्षानुभूति शारीरिक-भौतिक अनुभवों से परे है, अनुभवातीत है।

प्रश्न उठता है, फिर उसे कैसे, किस प्रकार, समझा-समझाया जा सकता है? जैन दर्शन मोक्ष को अनुभवातीत और शब्दातीत कहकर चुप नहीं बैठ जाता बल्कि उसका भावात्मक (पॉज़िटिव) विवरण भी प्रस्तुत करता है। बेशक, मोक्ष इन्द्रियानुभूति नहीं है, लेकिन यह एक अशरीरी आध्यात्मिक अनभूति तो है ही, जिसको पूरी सावधानी बरतते हुए, भाषा में प्रस्तुत तो, समझाने की दृष्टि से, करना ही होगा और इसी प्रस्तुतीकरण में जैन दर्शन हिन्दू दर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। हिन्दू दर्शन में तो आत्मा को अनिर्वचनीय कहकर उसके सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही गयी, किन्तु

जैन दर्शन में मोक्ष के सम्बन्ध में निश्चित तौर पर काफी कुछ कहा गया है। उदाहरण के लिए एक गाथा के अनुसार, मोक्षावस्था एक ऐसी अवस्था है जहाँ केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख, केवल वीर्य, अमूर्तता, अस्तित्व और सप्रदेशत्व के गुण होते हैं।[८४]

केवलज्ञान से तात्पर्य यहाँ उस ज्ञान से है जो इन्द्रिय आदि से निरपेक्ष तथा सर्वग्राही आत्मज्ञान है। यह एकान्त रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह लोक और अलोक को सर्वतः परिपूर्ण रूप से जानता है। भूत, भविष्य और वर्तमान में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे केवल ज्ञान नहीं जानता।[८५] इसी प्रकार *केवलसुख* केवल ज्ञानवत् इन्द्रियादि से निरपेक्ष अनन्तसुख या निराकुल आनन्द है। *केवलदर्शन* भी केवलज्ञान के समान ही सर्वग्राही दर्शन है। *केवलवीर्य* जानने-देखने आदि की अनन्त शक्ति है और यह भी इन्द्रिय आदि से निरपेक्ष और सर्वग्राही है।[८७] *अमूर्तता* से अर्थ है कि मोक्ष/आत्मा स्वभावतः इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। वह नित्य है, साथ ही आन्तरिक रागादि भावों से मुक्त है।[८८] *अस्तित्व* तो आत्मा का बेशक है। मोक्षावस्था में भी उसका अस्तित्व बना रहता हैं लेकिन यह शरीरी-भौतिक अस्तित्व न होकर बिना किसी विशेषण के (मात्र) अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त मुक्त-जीवों का निवास मुक्ताकाश में होता है। इसी को आत्मा का *सप्रदेशत्व* गुण कहा गया है।

मुक्त-आत्मा के उपर्युक्त सभी गुण, यदि हम ध्यान से देखें, तो शरीर-निरपेक्ष हैं। स्पष्ट ही आत्मा का स्वभाव शारीरिक-भौतिक न होकर आध्यात्मिक है।

क्या मोक्षावस्था केवल दुःखाभाव है अथवा भावात्मक रूप से सुख-भाव है? यह प्रश्न दार्शनिकों को काफी परेशान करता रहा है। हिन्दू दर्शन में सुख और आनन्द में अन्तर करके मोक्षावस्था को आनन्दमय माना गया। इसका कारण मुख्यतः यह था कि सुख सदैव दुःख की अपेक्षा से ही सुख है। इसी प्रकार दुःख भी सुख की अपेक्षा से ही सम्भव है। सुख-दुःख एक दूसरे से अपृथक हैं और दोनों ही इन्द्रियानुभूति के विषय हैं। आनन्द आत्मा का विषय नहीं है। आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है। जैन दर्शन आनन्द और सुख में इस तरह का कोई भेद नहीं करता लेकिन वह सुख में एक गुणात्मक अन्तर अवश्य करता है। एक प्रकार का सुख इन्द्रियानुभविक सुख है जो निःसन्देह दुःख-सापेक्ष है और इसलिए क्षणिक है किन्तु एक सुख ऐसा भी सम्भव है जो दुःख सापेक्ष न हो। जो वस्तुतः अनन्त और अतीन्द्रिय हो। गाथा के अनुसार कर्ममल से विमुक्त जीव ऊपर लोकान्त तक जाता है और वहाँ वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में अतीन्द्रिय अनन्त सुख भोगता है।[८९] मोक्षावस्था इस प्रकार केवल दुःखाभाव ही नहीं है। वह अतीन्द्रिय और अनन्त सुख की अवस्था है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैन-दर्शन में मोक्ष का अर्थ केवल नकारात्मक रूप से ही नहीं समझा गया है। बेशक मोक्ष कर्म-बन्धनों से, जन्म मरण के चक्र से, दुःख से मुक्ति है। यह इस प्रकार एक दुःखाभाव की स्थिति है किन्तु साथ ही यह अनन्त सुख की एक नित्य स्थिति भी है। आत्मा इस स्थिति में अमूर्त होते हुए भी अस्तित्ववान है, वैयक्तिकता से परे सर्वज्ञ है। मुक्ताकाश में स्थित वह केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवलसुख के गुणों से परिपूर्ण है।

सन्दर्भ

१. धर्मश्चार्थश्चकामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः।
पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः।। *ज्ञानार्णव*, ३/४ शुभचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, १९७८, ३/४

२. वही, ३/३-५

३. *परमात्मप्रकाश*, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, वि०सं० २०२९, २.३

४. देखें, आनन्द प्रकाश त्रिपाठी का आलेख, "जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पुरुषार्थ चतुष्टय", *तुलसी प्रज्ञा*, लाडनूं, खंड २०, अंक १-२, पृ० ४२

५. देखें, प्रो० सागरमल जैन का आलेख, "मूल्य और मूल्य-बोध की सापेक्षता का सिद्धान्त", *श्रमण*, वाराणसी, जनवरी-मार्च १९९२, पृ० १०-११

६. देखें, *योगशास्त्र* (आचार्य हेमचन्द्र), पृ० १-५२

७. *असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं*
अथवा '*असंयमान्निवृत्तिं च, संयमे च प्रवर्तनम्। समणसुत्तं*, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, १९८९, श्लोक १२९
आयारो, संपा० मुनि नथमल, जैनविश्वभारती, लाडनूं, वि०सं० २०३१ में भी (२. २७, पृ० ७६) यही बात कही गई है- '*अरइं आउट्टे से मेहावी*' अर्थात् जो अरति का निवर्तन करता है, वह मेधावी होता है। 'अरति' से यहाँ तात्पर्य स्पष्ट ही उद्वेगों से है।

८. देखें, हिरियन्ना, एम० : *आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी*, लंदन, पृ० १७०

९. वही, पृ० १७१

१०. *आयारो*, पृ० ८८ (२. ६५)

११. देखें, *मीमांसासूत्र* (१. १) जिसमें धर्म की परिभाषा, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' दी गई है। इसका तात्पर्य यही है कि धर्म का अर्थ उसके प्रेरणा देने के लक्षण में निहित है।

१२. *आयारो*, पृ० २३८ (६. २. ४८)

१३. देखें, समणी स्थितप्रज्ञा का निबन्ध, 'संबोधि के आगमिक स्रोत' *तुलसी प्रज्ञा*, पूर्णांक ६०, पृ० १३५

१४. *स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा*, स्वामी कार्तिकेय, संपा० ए० एन० उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, वि० सं० २०३४, गाथा ४७८

१५. *भगवतीसूत्र*, १/६

१६. *आयारो*, पृ० २७४ (८. ३१)

१७. देखें, उदयचंद जैन का निबन्ध, *समता*, अक्टूबर ६३ में , पृ० ३७

१८. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।
समणसुत्तं, गाथा २७४

१९. लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ।। *उत्तराध्ययनसूत्र*, २०.३७

२०. जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामा यिगंई इदि केवलिसासणे।। *समणसुत्तं*, गाथा ४२६ग

२१. उत्तमखममद्दवज्जव सच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवचागमकिंचण्हं, बम्ह इदि दसविहो धम्मो।। *समणसुत्तं*, गाथा ८४
उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।
तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, विवेचक सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, संशोधित संस्करण, १९९३,
यहाँ पर ध्यातव्य है हिन्दू दर्शन में भी *याज्ञवल्क्यस्मृति* में नौ तथा *मनुस्मृति* में दस सामान्य धर्मों या धर्म-लक्षणों का उल्लेख हुआ है। मनु के अनुसार वे निम्नलिखित हैं- धृति, क्षमा, दम अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या सत्य और अक्रोध।

२२. *समणसुत्तं*, ८५

२३. वही, ८६

२४. वही, ८८

२५. वही, ६१

२६. वही, १००

२७. वही, ६२

२८. वही, १०२

२९. वही, १०४

३०. वही, १०६

३१. वही, १११-११२

३२. *स्थानांगसूत्र*, २. १

३३. वही, २. १

३४. स्वामी समन्तभद्र, *रत्नकरण्डक श्रावकाचार*, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, १९७२, १. २

३५. देखें, पं. पन्नालाल 'बसंत' द्वारा सम्पादित *रत्नकरण्डक श्रावकाचार*, वाराणसी, ७२, पृ० ६

३६. सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः।
सुखितस्य तदभिवृद्धयै दुःखभुजस्तदपघाताय।। *आत्मानुशासन*, १८

३७. वही, १९

३८. वही, २०

३९. वही, २१

४०. *ज्ञानार्णव*, १०. ८-९

४१. वही, १०. १६

४२. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। *वैशेषिक सूत्र*, १.१.२

४३. पन्नालाल 'बसंत' (सं०) *रत्नकरण्डक श्रावकाचार*, पृ० ७-८

४४. देखें प्रो० सागरमल जैन का आलेख, "मूल्य और मूल्यबोध की सापेक्षता का सिद्धान्त", *श्रमण*, जनवरी-मार्च, अंक १३

४५. *दशवैकालिक निर्युक्ति*, २६२-२६४

४६. 'अन्योन्या प्रतिबंधेन त्रिवर्गमति साधयन्'। *योगशास्त्र*, १. ५२

४७. देखें, उपाध्याय अमर मुनि का लेख- 'धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष', *श्री अमर भारती*, जून १९९५, वीरायतन, राजगिरि

४८. क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः।।

तत्त्वार्थसूत्र, ७.२४

४९. वित्तं सोयरिया च। *सूत्रकृतांग*, १. १. ५

५०. *कामसूत्र*, *परिशीलन*, वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६७ पृ० ९.

५१. *मरणसमाधि*, ६०३

५२. वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेतं न ताणए।
संखाए जीवियं चेव कम्मणा उ तिउट्टति।। *सूत्रकृतांग*, १.१.५

५३. वित्तं पसवो य णाइयो तं बाले सरणं ति मण्णई।
ए मम तेसिं वा अहं, णो ताणं सरणं ण विज्जई।। *समणसुत्तं*, ५०९

५४. 'संग एव मतः सूत्रे निःशेषानर्थमंदिरं', *ज्ञानार्णव*, १६.१३

५५. 'संगात्कामस्ततः', वही, १६.१२

५६. 'मूर्च्छापरिग्रहः', *तत्त्वार्थसूत्र*, ७. १२

५७. देखें, *आयारो* ५.३९ की व्याख्या, पृ० १८४

५८. वही, ९

५९. मोक्खपसाहणहेतुं णाणादी तप्पसहणे देहो।
देहट्ठा आहारो तेण तु कालो अणुण्णातो।। *निशीथभाष्य*, ४७.९१

६०. *आयारो*- कामकामी खलु पुरिसे। २.१२३

६१. वही, ५.२, पृ० १७६

६२. न शयानो जयेन्निद्रां, न भुञ्जानो जयेत् क्षुधाम्।
न काममानः कामानां, लाभेनेह प्रशाम्यति।। *आयारो*, टिप्पणी १५, पृ० १४७

६३. 'अणेगचित्ते खलु अयं पुरिस, से केयणं अरिहए पूरइत्तए।' *आयारो* ३.४२

६४. "कामेसु, गिद्धा णिचयं करेंति"। *आयारो*, ३.३१

६५. 'संगात्कामस्ततः'। *ज्ञानार्णव*, १६.१२

६६. न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ।। *समणसुत्तं*, २३०

६७. खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा, अणिगामसुक्खा"।
समणसुत्तं, ४६

६८. वही, १८३

६९. वही, ४९

७०. *आयारो*, ५. ११-१३

७१. "जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे।" *वही*, १. ६३

७२. वही, ५. ६ तथा २. १५१

७३. *समणसुत्तं*, २२७

७४. वही, २२६

७५. वही, १६२

७६. वही, २७४-२७५ जैन दर्शन में धर्म को कई तरह से परिभाषित किया गया है। कहा गया है कि वास्तव में चारित्र ही धर्म है और यह धर्म समत्व है समत्व, मोह ओर क्षोभ से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम है। इतना ही नहीं, समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्वभाव-आराधना- ये सभी शब्द एकार्थक हैं।

७७. वही, ६२१

७८. *आयारो*, ५. १४०

७९. वही, ५. १२३-१२६

८०. वही, ५. १२७-१३१

८१. वही, ५. १३२-१३४

८२. वही, ५. १३५,

८३. वही, ५. १३७-१३६

८४. *समणसुत्तं*, ६१७-६१६

८५. वही, ६२०

८६. वही, ६८४

८७. वही, पृ० २६६ (पारिभाषिक शब्दकोश)

८८. वही, ५६५

८९. वही, ६१४

अध्याय-८

पंचव्रत

भारतीय आचार-शास्त्र में व्रतों पर बहुत महत्त्व दिया गया है। व्रत मनुष्य के वे नैतिक कर्तव्य हैं जिन्हें निष्ठाओं की तरह मनुष्य को निभाने के लिए कहा गया है। भारतीय दर्शन में व्रतों को 'शील' और 'यम' में संज्ञाएँ भी दी गई हैं। जैन-दर्शन जहाँ मनुष्य के आचरण के इन सद्गुणों को व्रत का नाम देता है वहीं बौद्ध और योगदर्शन में वे क्रमशः शील और यम के नामों से अभिहित किए गए हैं।

व्रतों को यम या शील के रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत बाद में हुआ है। आरम्भ में, *ऋग्वेद* के समय में व्रत को दैवी आदेश के रूप में जाना गया था। समस्त संसार ईश्वर के आदेश का पालन करता है और ईश्वर का वास्तविक आदेश यह है कि सभी वस्तुएँ अपने नैसर्गिक स्वभाव के अनुसार आचरण करें और, इस प्रकार, अपने-अपने व्रतों का पालन करें। उदाहरण के लिए वाक् बोलता है और आँखें देखतीं हैं और इस प्रकार वे अपना-अपना व्रत पालन करतीं हैं।

व्रत जो आरम्भ में ईश्वर का आदेश था और प्रकृति का नियमानुसार कार्य था वह कालान्तर में मनुष्य के पवित्र कर्मों के पालन की अवधारणा से जुड़ गया। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में जहाँ वाणी का बोलना और चक्षुओं का देखना व्रत समझा गया है वहीं *मैत्रेयी उपनिषद्* में अन्न का निरादर नहीं करना और मनुष्य का उदार होना आदि जैसे सद्कार्यों को व्रत माना गया है। किन्तु व्रत का प्रचलित अर्थ, जो नैतिक कर्तव्यों से मेल खाता है और जिन्हें मनुष्य के मुख्य सद्गुण या निष्ठाओं के रूप में लिया गया है, और भी बाद वाला विकास है। इस प्रकार हमें जैन दर्शन के पंचव्रतों, योगदर्शन के पाँच यमों और बौद्धदर्शन के पाँच शीलों का वर्णन मिलता है।

भारतीय दर्शन में जहाँ पुरुषार्थ-धारणा में मूल्य-समस्या की हमें एक ऐसी सृजनात्मक बौद्धिक व्याख्या देखने को मिलती है जो मानव जीवन के प्रयोजनों और अन्तः सम्बन्धों पर प्रकाश डालती है, वहीं दूसरी ओर, भारतीय दर्शन इन प्रयोजनों (मूल्यों) को किस प्रकार प्राप्त किया जाय, इसके लिए विभिन्न साधना पद्धतियों पर भी प्रकाश डालता है। 'साधना' अपने व्यापकतम अर्थ में एक जीवन-पद्धति है जो मनुष्य को अपने परमलक्ष्य तक ले जाती है। इस जीवन-पद्धति के चिर्वाह के लिए

यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी जीवन-पद्धति के अनुरूप किन्हीं विशेष सद्गुणों का अपने आचरण में विकास करे। इन्हीं सद्गुणों को शील, यम, व्रत या निष्ठा कहते हैं। व्रत इस प्रकार मूल्यों से भिन्न हैं। वे जीवन-पद्धति के मूल्यों को चरितार्थ करने के लिए आचरण संबंधी सद्गुण हैं। वे स्वयं लक्ष्य नहीं हैं जिन्हें प्राप्त किया जाना है बल्कि वे मानव प्रयोजन (मूल्यों) को प्राप्त करने के लिए आचरण सम्बन्धी सद्विशेषताएँ हैं, जो यह बताती हैं क्या करने योग्य है और क्या न करने योग्य है। इनका नियमपूर्वक पालन करना ही व्रत है।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सदाचरण से संबंधित नियमों का प्रतिज्ञापूर्वक पालन करना ही व्रत है। भारतीय चिन्तन में ऐसे पाँच व्रतों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। योगदर्शन में ये क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप में यम बताए गए हैं।[2] इसी प्रकार जैन दर्शन में भी इन्हीं पाँचों यमों को पंचव्रत की संज्ञा दी गई है किन्तु इनका निरूपण नकारात्मक रूप से हुआ है और कहा गया है कि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से निवृत्ति या विरति ही व्रत हैं।[3] बौद्ध दर्शन में भी व्रतों का निरूपण नकारात्मक ही है और उन्हें भी विरतियाँ ही कहा गया है ये क्रमशः इस प्रकार हैं-पानातिपात वेरमणी, अदत्तादान वेरमणी, अबह्मचरिया वेरमणी, मूसावाद वेरमणी, सुरामैरेयमद्यप्रमादस्थान वेरमणी।

पानातिपात वेरमणी किसी भी जीव के प्राणों के हनन का निषेध करती है। अदत्तादान वेरमणी उन वस्तुओं से बचने को कहती है जो प्रदान न की गई हों, अबह्मचरिया वेरमणी से अर्थ है काम मिथ्याचार से बचना। मूसावाद वेरमणी का तात्पर्य झूठ न बोलने से है और इसी प्रकार सुरामैरेयमद्यप्रमादस्थान वेरमणी से तात्पर्य ऐसे स्थानों पर न जाने से है जहाँ शराब का सेवन और प्रमादयुक्त मनोरंजन कराया जाता हो। यहाँ द्रष्टव्य है कि बौद्ध दर्शन में अपरिग्रह के लिए स्वतन्त्र रूप से व्रत-विधान नहीं है और उसकी जगह शराब और प्रमादयुक्त मनोरंजन को त्यागने की बात कही गई है। इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि बौद्ध दर्शन अपरिग्रह को सद्गुण नहीं मानता और न ही इससे तात्पर्य यह है कि अन्य दर्शनों, जैसे बौद्ध और हिन्दू, में शराब या प्रमाद के लिए पूरी छूट दी गई है। इन सारे सद्गुणों को सभी दर्शनों में सम्मिलित किया गया है, अन्तर केवल आग्रह का है। जो भी हो, जिन्हें जैन दर्शन में पंचव्रत और योगदर्शन में पाँच यमों के नाम से पुकारा गया है वे सभी निष्ठाएँ न केवल समान हैं बल्कि उन पर समान रूप से दोनों ही दर्शनों में बल भी दिया

गया है। निम्नलिखित पंक्तियों में हम एक-एक निष्ठा का स्वतंत्र शीर्षकों में निरूपण करेंगे।

अहिंसाव्रत

अहिंसा हिन्दू, जैन और बौद्ध दर्शनों में प्रथम निष्ठा मानी गयी है, अतः कहा जा सकता है कि यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निष्ठा है। अहिंसा का शब्दार्थ है, वह जो हिंसा रहित है किन्तु अहिंसा का यह शब्दार्थ उसके वास्तविक अर्थ को जानने के लिए पर्याप्त नहीं है। अहिंसा केवल नकारात्मक नहीं होती। केवल हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है। उसके भावात्मक पक्ष को ग्रहण किया जाना भी आवश्यक है और अपने भावात्मक स्वरूप में अहिंसा प्रेम है। प्रेम का भी यहाँ कोई संकुचित अर्थ में नहीं, बल्कि अपने व्यापकतम अर्थ में प्रयोग किया गया है। अपने इस व्यापक अर्थ में प्रेम से तात्पर्य मूलतः करुणा और दया से है।

प्रश्न किया जा सकता है कि फिर भारतीय दर्शन में दया, करुणा और प्रेम के लिए अहिंसा जैसे नकारात्मक शब्द का ही प्रयोग क्यों किया गया। इसकी व्याख्या दो तरह से की जा सकती है। १. जैसा कि हम जानते हैं भारतीय जीवन-पद्धति का अन्तिम प्रयोजन या मूल्य मोक्ष है और मोक्ष का अर्थ मुक्त होने से है। अतः इस जीवन पद्धति में जितने भी सद्गुण हैं उन्हें मोक्ष के संदर्भ में ही ग्रहण किया गया है। अहिंसा इस प्रकार हिंसा से मोक्ष या मुक्ति है। २. व्यावहारिक दृष्टि से भी हिंसा का निराकरण, प्रेम अथवा करुणा की स्वीकृति की अपेक्षा अधिक सहज है। इसे आचरण में आसानी से उतारा जा सकता है।

हिन्दू दर्शन में अहिंसा को सदा से ही एक प्रतिष्ठित स्थान मिला है। यूँ तो वैदिककाल से ही अहिंसा किसी न किसी संदर्भ में रेखांकित होती रही है किन्तु इस प्रत्यय का विकास औपनिषदिक काल में अधिक उत्साह से हुआ है। *छान्दोग्य उपनिषद्* में इसका स्पष्ट उल्लेख है।[४] मनु ने भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह को धर्म कहा है और इनमें अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है।[५] *महाभारत* में भी अहिंसा को परमधर्म के रूप में निरूपित किया गया है। किन्तु पंचमहाव्रत के रूप में अहिंसा को जितनी प्रतिष्ठा योगदर्शन और जैनदर्शन में मिली है उतनी कदाचित् अन्यत्र नहीं मिल सकी है। योगदर्शन में अहिंसा को पाँच यमों में से प्रथम यम माना गया है और उसे हिंसा के प्रतिपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है और हिंसा अनेक प्रकार की हो सकती है। इसका अर्थ केवल प्रत्यक्षतः शारीरिक रूप से हानि पहुँचाना ही नहीं है। हिंसा करने के अतिरिक्त उसे करवाना और दूसरे द्वारा की गई हिंसा का अनुमोदन करना भी हिंसा ही है। अतः कर्म के रूप में हिंसा तीन प्रकार की है- कृत, कारित और अनुमोदित।[६]

हिंसा का एक अन्य वर्गीकरण उन भावनाओं से किया जा सकता है जो हिंसा में 'पूर्वका' का कार्य करती हैं।[७] अर्थात् जो अहिंसा का एक प्रकार से कारण हैं। इस दृष्टि से अहिंसा तीन प्रकार की मानी गई है। लोभजन्य, क्रोधजन्य और मोहजन्य। लोभ, क्रोध और मोह तीनों ही ऐसी दुर्भावनाएँ हैं जो हिंसा का स्रोत बन सकती हैं। इन भावनाओं से संलग्न हिंसा क्रमशः लोभकारित, क्रोधकारित और मोहकारित हिंसा कहलाती है।

हिंसा का अन्य वर्गीकरण मात्रिक वर्गीकरण है। इस वर्गीकरण में हिंसा की मात्रा को आधार बनाकर हिंसा के प्ररूप बताए हैं। हिंसा की मात्रा के अनुसार हिंसा मृदु हिंसा, मध्य हिंसा और अधिमात्रिक हिंसा हो सकती है- *मृदुमध्याधिमात्रा* [८] कीट-पतंगों को पीड़ा देना या आततायियों का वध करना, इत्यादि, मृदु हिंसा है। पशुओं को पीड़ा देना मध्य हिंसा है तथा सामान्य रूप से मनुष्यों को पीड़ा देना या कुटुम्ब के व्यक्तियों का वध करना अधिमात्रिक या तीव्र हिंसा कही जा सकती है।

योगदर्शन में हिंसा के न केवल प्रकार बताए गए हैं बल्कि उससे उत्पन्न फल का भी उल्लेख हुआ है। हिंसा को इस प्रकार अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान देने वाला-*दुःखाज्ञानानन्तफला*- कहा गया है।[९] ऐसी सभी हिंसाओं से बचने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वयं में प्रतिपक्षभावना का विकास करे और हिंसा की प्रतिपक्ष भावना स्पष्ट ही अहिंसा है।

जिस तरह अहिंसा की अर्थक्रिया या उसका परिणाम अंततः अनंत दुःख और अनंत अज्ञान में है उसी तरह अहिंसा में पूर्णतः प्रतिष्ठित व्यक्ति (योगी) अपने निकट समस्त वैर को समाप्त कर देता है। ऐसे में उसके निकट आए हुए हिंसक प्राणी भी अपना वैर भाव त्यागकर अहिंसक हो जाते हैं और उसे कोई हानि नहीं पहुँचाते। इतना ही नहीं उसके निकट का पूरा परिवेश ही अहिंसामय हो जाता है और परस्पर सभी पशु इत्यादि अपना स्वाभाविक वैरभाव त्याग देते हैं।[१०]

योग-दर्शन की भाँति ही, बल्कि कदाचित् उससे भी अधिक, जैन दर्शन में अहिंसा पर बल दिया गया है। सच तो यह है कि यद्यपि वैदिक परंपरा में भी अहिंसा

एक महत्त्वपूर्ण निष्ठा रही है लेकिन 'यज्ञ में हिंसा' के लिए वहाँ छूट थी। पर वैदिक परम्परा में अहिंसा पर विशेष आग्रह श्रमण परंपरा से ही संभव हो पाया, और योग-दर्शन में वह प्रथम निष्ठा बन सकी है। जैन पंचमहाव्रतों में भी अहिंसा प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्रत है।

जैन दर्शन में अहिंसा का आधार समत्व-भाव है जिसे जैन-दर्शन का सर्वोच्च मूल्य माना जा सकता है। इसके अनुसार सभी जीव समान हैं और वे सभी मित्र हैं- *मित्ती मे सव्व भूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि*। सभी जीने की इच्छा करते है, मरना कोई नहीं चाहता- *सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं*।[११] ऐसे में अहिंसा स्वतः प्रतिष्ठित हो जाती है।

जैन दर्शन में अहिंसा के प्रत्यय को समझने के लिए हिंसा के स्वभाव को समझना आवश्यक है। हिंसा दो प्रकार की बताई गई है। स्व-हिंसा और पर-हिंसा। काम, क्रोध, लोभ, और मोह आदि दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा आत्मा के स्वगुणों का विनाश करना, स्व-हिंसा है। दूसरे प्राणियों को पीड़ा एवं हानि पहुँचाना पर-हिंसा है। श्रमण का पहला कर्तव्य स्व-हिंसा से विरत होना है क्योंकि स्व-हिंसा से विरत हुए बिना पर-हिंसा से बचा नहीं जा सकता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जब तक स्व-हिंसा से व्यक्ति मुक्त नहीं हो जाता वह पर-हिंसा करने के लिए स्वतंत्र है। जैन दर्शन स्पष्ट यह निर्देश देता है कि जगत् में जितने भी प्राणी हैं, व्यक्ति उनकी हिंसा जान कर अथवा अनजान में न तो करे, न करावे और न ही हिंसा करने वाले का अनुमोदन करे।[१२]

सामान्यतः मनुष्य अपने विभिन्न प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए हिंसा करता है। इन प्रयोजनों की दृष्टि से हिंसा, पुनः चार प्रकार की बताई गई है। प्रथम, *संकल्पजा* हिंसा है। यह आक्रामक हिंसा है जिसमें व्यक्ति सोच-समझकर, जानबूझकर, आक्रमण करता है। द्वितीय, *विरोधजा* हिंसा है। यह अपनी और दूसरों की रक्षा हेतु की गई हिंसा है। यह आक्रामक न होकर सुरक्षात्मक हिंसा है। तृतीय, *उद्योगजा* हिंसा है। यह उपार्जन के लिए की गई हिंसा है अतः इसे उपार्जनात्मक हिंसा भी कह सकते हैं; और अंत में *आरंभजा* हिंसा होती है जो जीवन निर्वाह के निमित्त की गई हिंसा है। जैन दर्शन में श्रमणों को उपर्युक्त चारों प्रकार की हिंसा से विरत रहने के लिए कहा गया है।

हिंसा के तीन करण हैं। कृत, कारित और अनुमोदित। जैन दर्शन में हिंसा

न तो करने की छूट है (कृत), न करवाने की छूट है (कारित) और न ही हिंसा करने के अनुमोदन की छूट दी गई है। इसी प्रकार हिंसा के तीन करण हैं। मन, वचन और काया। श्रमण को इन तीनों 'करणों' द्वारा की गई हिंसा से बचना है। उसे न तो किसी की हिंसा का विचार मन में लाना है, न हिंसात्मक भाषा का प्रयोग करना है और न ही उसे अपने शरीर द्वारा किसी की हिंसा करना है।

'हिंसा' जैन दर्शन में एक व्यापक अवधारणा है। इसका अर्थ है किसी भी प्राणी के प्राण ले लेना। प्राण दस प्रकार के हैं। इनमें से पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं, तीन- मन, वचन और काय हैं तथा अंतिम दो, श्वास और जीवन हैं। इन सभी प्राणों या इनमें से किन्हीं का भी हरण हिंसा है। पुनः, प्राणों के दो पक्ष हैं- द्रव्य और भाव। इन्हें हम क्रमशः भौतिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष कह सकते हैं। हिंसा भौतिक भी हो सकती है और मनोवैज्ञानिक भी। *द्रव्य हिंसा* भी हो सकती है और *भाव-हिंसा* भी। जैन दर्शन दोनों ही प्रकार की हिंसा के विरुद्ध है। बल्कि कहना चाहिए, वह भाव-हिंसा को अपेक्षाकृत अधिक बुरा मानता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में हिंसा को परिभाषित करते हुए बताया गया है कि "प्रमत्त योग से होने वाला प्राणवध हिंसा है।"[१३] "प्रमत्त योग" से तात्पर्य रागद्वेष या असावधान प्रवृत्ति से युक्त होना है। हिंसा का यही कारण-रूप है। 'प्राण-वध' केवल कार्य-रूप है। जब तक मनुष्य रागद्वेष से लिप्त नहीं होगा या असावधान नहीं होगा वह प्राणवध नहीं कर सकता। यहाँ स्पष्ट ही हिंसा के पीछे जो हिंसा के अनुकूल बौद्धिक गठन है उसको विशेष रूप से रेखांकित किया गया है।

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दर्शन में हिंसा के नकारात्मक अर्थ-प्राण न लेने-पर ही अधिक बल दिया गया है। किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जैन दर्शन में अहिंसा के साठ पर्यायवाची नाम गिनाए गए हैं और वे सभी विभिन्न सद्गुणों की ओर संकेत करते हैं। अभय-दान, जीव-दया, अनुकंपा आदि कुछ ऐसे ही पद हैं जो अहिंसा के ही समानार्थक हैं। ये सभी नकारात्मक न होकर सकारात्मक पद हैं। वस्तुतः 'अहिंसा' जैन दर्शन में सभी सद्गुणों में निहित है। वह सद्गुणों का ही एक संघात है।

जैन दर्शन में प्रत्येक व्रत के दो रूप स्पष्ट किए गए हैं- महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रत मुनियों और श्रमणों के पालन हेतु है तथा अणुव्रत सामान्य जन के सेवन हेतु है। महाव्रत के रूप में अहिंसा के पालन का अर्थ है- हिंसा के लिए किसी भी

प्रकार की कोई भी छूट न होना। किन्तु अणुव्रत के रूप में इसके पालन में थोड़ी बहुत छूट का प्रावधान किया गया है। एक प्राणी जब अहिंसा महाव्रत का पालन करता है तो उसे इसका पालन मन वचन काय तथा कृत, कारित और अनुमोदित, इन तीनों 'योगों' और तीनों 'करणों' सहित, करना होता है। साथ ही इसके सम्यक् पालन के लिए पाँच-भावनाओं का विधान भी है- १. *ईर्यासमिति-* चलते-फिरते, बैठते-उठते सावधानी रखना, २. *वचन समिति-* हिंसक अथवा किसी के मन को दुःखाने वाले वचन नहीं बोलना; ३. *मन समिति-* मन में हिंसक विचारों को स्थान नहीं देना; ४. *एषणासमिति-* अदीन होकर ऐसा निर्दोष आहार प्राप्त करने का प्रयास करना जिसमें श्रमण के लिए कोई हिंसा न की गई हो तथा ५. *निक्षेपणसमिति-* साधु जीवन के पात्रादि उपकरणों को सावधानीपूर्वक प्रमार्जन करके उपयोग में लेना अथवा उन्हें रखना और उठाना।[१४] श्रमण केवल विशेष परिस्थितियों में ही इन नियमों के परिपालन में अपवादमार्ग का आश्रय ले सकते हैं।

किन्तु सामान्यजन को अहिंसाव्रत का एक महाव्रत के रूप में पालन न कर, इसका सेवन एक अणुव्रत के रूप में करना ही पर्याप्त है।

अहिंसाणुव्रत की व्यवस्था के अंतर्गत समान्यजन को जीवन-यापन आदि के लिए थोड़ी-बहुत हिंसा की सुविधा प्रदान की गई है। यह छूट सामाजिक जीवन की स्वीकृति भी दर्शाती है क्योंकि इस छूट के बिना व्यक्ति का सामाजिक जीवन सहज और संभव नहीं बन सकता।

अहिंसा अणुव्रत में गृहस्थ साधक को केवल स्थूल-हिंसा से विरत रहने के लिए कहा गया है। इसीलिए से 'स्थूल प्राणातिपात विरमण' की संज्ञा दी गई है जिसके अनुसार गृहस्थ को आदेश है कि वह निरपराध और निर्दोष स्थूल त्रस प्राणी की जानबूझ कर संकल्पपूर्वक मन-वचन-काय से न तो स्वयं हिंसा करे, न करवाए, और न ही हिंसा का अनुमोदन करे।

प्राणी दो प्रकार के होते हैं। एक स्थूल और दूसरे सूक्ष्म। सूक्ष्म प्राणी का ज्ञान सामान्य इन्द्रियों द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। अतः गृहस्थ साधक को मात्र स्थूल प्राणियों की हिंसा से बचने का आदेश है। इसी प्रकार, प्राणियों को स्थावर और त्रस वर्गों में भी विभाजित किया गया है। जिन प्राणियों में स्वेच्छानुसार गति करने की सामर्थ्य होती है वे त्रस कहे जाते हैं। स्थावरों में अपनी इच्छा से गति के लिए क्षमता नहीं होती। गृहस्थ साधक को केवल त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करना होता है।

जैसा कि हम ऊपर बता ही चुके हैं कि हिंसा प्रयोजनानुसार चार प्रकार की है। इसमें संकल्पजा हिंसा, जिसमें व्यक्ति जानबूझकर आक्रामक हिंसा करता है, सभी गृहस्थ और श्रमण- के लिए वर्जित है। किन्तु हिंसा के अन्य तीन प्रकार गृहस्थ के लिए वर्जित नहीं है। उद्योगी, विरोधी और आरम्भी हिंसा से गृहस्थ यदि बचना भी चाहे तो उसके लिए यह संभव नहीं है क्योंकि अपने जीवन-यापन के लिए और अपनों की रक्षा के लिए उसे कुछ न कुछ हिंसा तो करनी ही पड़ती है।

अहिंसाणुव्रत का विधान कर जैन दर्शन ने सामान्यजन की सीमित क्षमता को ध्यान में रखकर एक व्यावहारिक दृष्टि अपनाई है, जो स्तुत्य है। फिर भी एक गृहस्थ साधक को अहिंसा अणुव्रत के सम्यक् पालन हेतु निम्नांकित दोषों से तो बचना ही चाहिए-[१५]

१. *बन्धन-* प्राणियों को कठोर बंधन में बाँधना, पशु-पक्षियों को पिंजरे में डालना अथवा उन्हें अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकना। इसी प्रकार कर्मचारियों को निश्चित समयावधि से अधिक समय तक रोक कर रखना भी एक प्रकार का बंधन ही समझा जाना चाहिए।

२. *वध-* प्राणियों को लकड़ी, चाबुक आदि से पीटना अथवा ताड़ना देना अथवा अन्य किसी प्रकार से उन पर घातक प्रहार करना आदि। उन्हें असहनीय कष्ट देना। भारी दंड देना। पीड़ा देना-वध है। प्राणियों को जान से मार डालना अतिचार ही नहीं, बल्कि अनाचार है।

३. *छविच्छेद-* से आशय शरीर के छेदने से है। अंग-भंग करना, अंगों का काटना, ख़स्सीकरण (बधियाकरण) करना आदि भी छविच्छेद के ही रूप हैं। लाक्षणिक रूप से किसी के जीविकोपार्जन में बाधा पहुँचाना, कम पराश्रमिक देना या उसे छीन लेना भी छविच्छेद ही कहलाएगा।

४. *अतिभार-* प्राणियों पर शक्ति से अधिक बोझ लादना, या उनसे अत्यधिक काम लेना अतिभार है। इसी प्रकार अधीनस्थ कर्मचरियों आदि से उनकी सामर्थ्य और सीमा से अधिक काम लेना भी 'अतिभार' के अंतर्गत ही आता है।

५. *भोजन- पानी का निरोध-*इसी प्रकार पशुओं और अधीनस्थ कर्मचारियों और परिवार जनों को समय पर एवं आवश्यक मात्रा में भोजन-पानी आदि जीवन की आवश्यक वस्तुएँ नहीं देना भी अहिंसा-व्रती गृहस्थ के लिए वर्जित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ सामान्यजन के लिए अहिंसा के प्रति जैन दृष्टिकोण लचीला होने के साथ-साथ मानवतावादी और व्यावहारिक है वहीं वह श्रमणों और मुनियों के लिए कठोर अनुशासन को परिलक्षित करता है।

सत्यव्रत

अहिंसा की भाँति ही सत्य भी एक महत्त्वपूर्ण निष्ठा है जिसे वैदिक और श्रमण, दोनों ही परंपराओं में प्रतिष्ठा प्राप्त है।

वैदिक परंपरा को प्रायः समाजोन्मुख माना गया है जब कि सत्य निष्ठा एक व्यक्तिगत सद्गुण अधिक प्रतीत होती है फिर भी यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इसे वैदिक साहित्य में शायद अहिंसा से भी अधिक, महत्त्व मिला है।

वस्तुतः वैदिक परंपरा में जो 'ऋत' अवधारणा है वह सत्य का ही एक प्रारूप है। ऋत व्यवस्था का नियम है। इसके पालन से ही प्रकृति व्यवस्थित है। सत्य भी व्यवस्था का ही नियम है- इसके रहते सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है। अतः वैदिक परंपरा में इस पर विशेष आग्रह दिखाई देता है।

सत्य के अनेक अर्थ हैं। सत्य के विषय में श्रुति कहती है 'सत्यमेव जयते नानृतम्'[१६] आदि। सत्य की ही सदैव विजय होती है असत्य की नहीं। यहाँ सत्य से आशय स्पष्ट ही उस 'परम-सत्य' से है जो सारे जगत् का अधिष्ठान है। यह सत्य का तत्त्वमीमांसात्मक अर्थ है। 'सत्य' शब्द 'सत्' से बना है। सत् अर्थात् 'जो है'- जो समान रूप में सभी में विद्यमान है।

श्रमण, और विशेषकर महावीर की परंपरा में, 'सच्चं' भी तत्त्व-मीमांसात्मक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। कहा गया है कि सत्य समस्त विश्व का सार है। यह समुद्र से भी गंभीर/गहन है और मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है।[१७] वस्तुतः पारमार्थिक रूप से जैन दर्शन में 'सच्च' को भगवान् का दर्जा मिला हुआ है- *तं सच्चं खु भगवं।* हम इसे सत्य का धार्मिक आयाम कह सकते हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि महात्मा गाँधी ने भी संभवतः जैन प्रभाव से ही, सत्य को ईश्वर माना है।

किंतु जैन और हिंदू दोनों ही परंपराओं में सत्य का सर्वाधिक महत्त्व 'नैतिक' है और इस तात्पर्य 'सत्य बोलने' से या 'सत्य-वचन' से है। सत्य साधना एक कठिन वस्तु है और इसे निष्पादित करने के लिए पहले मौन या अल्पभाषिता का अभ्यास करना पड़ता है। अधिक बातें करने से अनेक असत्य बातें प्रायः कही जाती हैं। मन

को सत्य-प्रवण करने में काल्पनिक विषयों से विरत होना पड़ता है और पश्चात् सभी 'अपारमार्थिक सत्यों' को त्यागकर केवल पारमार्थिक सत्य पर चिंतन मनन करना होता है। कल्पना विलास न छोड़ने से तात्त्विक सत्य-साधना कठिन हो जाती है। हिंदू दर्शन इस प्रकार व्यावहारिक से पारमार्थिक सत्य की ओर उन्मुख होता है।

सत्य वचन अनिष्ट नहीं होना चाहिए। ऐसे में सत्य वचन की अपेक्षा मौन ही श्रेयस्कर है। वैदिक साहित्य में 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' का विधान है। जैन दर्शन में भी सत्य बोलना आवश्यक अवश्य है किन्तु अहिंसा की 'क़ीमत पर' सत्य नहीं बोला जाना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में जहाँ अहिंसा और सत्य में विकल्प हो, अहिंसा का चयन ही श्रेष्ठ है। जैन परंपरा में एक साधु भी सत्य के कारण अपने अहिंसा व्रत को हानि नहीं पहुँचा सकता। ऐसे में उसे पहले मौन रहने की, और यदि मौन परिस्थितिवश न साधा जा सके तो असत्य बोलने तक की, सुविधा है।[१८]

किन्तु सामान्य स्थिति में 'सत्य बोलना' जैन दर्शन में भी- मणसा, वयसा, कायसा-आवश्यक माना गया है। सत्य वस्तुतः न केवल वचन से संबंधित है यह हमारे मन और शरीर से भी उतना ही संबंधित है- मणसच्चे, वायसच्चे, कायसच्चे। 'सच बोलना' बहुत कुछ हमारे मन पर निर्भर करता है। असत्य का स्रोत अंततः मनोवैज्ञानिक होता है। यदि मानसिक रूप से हम सत्यनिष्ठ नहीं है तो वचन और काया से भी हम सत्यनिष्ठ नहीं हो सकते।

जिस प्रकार हिंसा की विवेचना के बिना अहिंसा नहीं समझी जा सकती उसी तरह असत्य की विवेचना के बिना सत्य को समझना भी कठिन है। *तत्त्वार्थसूत्र* में कहा गया है कि असत् बोलना अनृत है ("असदभिधानमनृतम्"-७.९) सूत्र में इस प्रकार असत्-कथन को असत्य कहा गया है। व्यापक अर्थ में असत्-चिंतन, असत्-भाषण और असत् आचरण, इन सबका समावेश असत् कथन में माना जाना चाहिए। ये सभी असत्य हैं। जैसे हिंसा की व्याख्या में 'प्रमत्तयोग' विशेषण लगा है वैसे असत्य आदि दोषों की व्याख्या में भी यह विशेषण जोड़ देना चाहिए। वस्तुतः जो प्रमत्तयोगपूर्वक असत् कथन है, वही असत्य है। असत्य के उक्त अर्थ से सत्यव्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं[१९]-

१. प्रमत्तयोग का त्याग करना।

२. मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में एकरूपता रखना।

३. सत्य होने पर भी दुर्भाव से न तो अप्रिय सोचना, न बोलना और न करना।

जैन दर्शन में सत्यासत्य की अनेक कोटियों का वर्गीकरण किया गया है। एक वर्गीकरण में सत्य के दस प्रकार बताए गए हैं[२०]-

१. *जनपद-सत्य-* जिस देश में जो भाषा- या शब्द-व्यवहार में प्रचलित हो, उसके द्वारा वस्तु तत्त्व का संकेत करना जनपद सत्य है। एक जनपद या देश में प्रयुक्त होने वाला वही शब्द दूसरे देश में असत्य हो जाएगा। 'बाई' शब्द मालवा प्रदेश में 'माता' का बोध कराता है किंतु उत्तर प्रदेश में माता के लिए इसका प्रयोग असत्य हो जाएगा।

२. *सम्मत-सत्य-* वस्तु के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करना सम्मत सत्य है, जैसे- राजा, नृप, भूपति आदि। भले ही ये व्युत्पत्ति की दृष्टि से अलग-अलग अर्थों के सूचक क्यों न हों। जनपद सत्य और सम्मत सत्य का अर्थबोध स्पष्ट ही प्रयोगाधारित है।

३. *स्थापना-सत्य-* शतरंज के खेल में प्रयुक्त विभिन्न आकृतियों को 'राजा', 'वजीर' आदि नामों से संबोधित किया जाता है- यह स्थापना सत्य है। इसमें वस्तु के प्रतिबिम्ब या स्थानापन्न को भी एक ही नाम से संबोधित किया जाता है। महावीर की प्रतिमा भी महावीर ही कहलाती है।

४. *नाम-सत्य-* गुण-निरपेक्ष, मात्र दिए गए नाम के आधार पर वस्तु का संबोधित करना, यह 'नाम-सत्य' है। एक गरीब व्यक्ति को भी "लक्ष्मीपति" नाम दिया जा सकता है। उसे इस नाम से पुकारना नाम सत्य है।

५. *रूप-सत्य-* वेश के आधार पर व्यक्ति को उस नाम से पुकारना रूप-सत्य है, जैसे, नाटक में राम का वेश धरने वाले व्यक्ति को राम कहना या साधुवेशधारी को साधु कहना, इत्यादि।

६. *प्रतीति-सत्य-* सापेक्षिक कथनों को सत्य मानकर चलना प्रतीति-सत्य है। जैसे, अनामिका बड़ी है, मोहन छोटा है, इत्यादि। पृथ्वी स्थिर है, सूर्य पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाता है, आदि भी केवल प्रतीति सत्य है।

७. *व्यवहार-सत्य-* व्यवहार में प्रचलित भाषाई प्रयोग व्यवहार-सत्य कहे जाते हैं भले ही वे असत्य ही क्यों न हों। घड़ा झरता है, बनारस आ गया, यह सड़क बम्बई जाती है, इत्यादि ऐसे ही कथन हैं। वस्तुतः घड़ा नहीं, पानी झरता है, बनारस आता नहीं, हम बनारस पहुँचते हैं। सड़क कहीं नहीं जाती, हम उस पर चलकर बम्बई पहुँचते हैं।

८. *भाव-सत्य*- किसी एक गुण की प्रमुखता के आधार पर वस्तु को वैसा कहना भाव-सत्य है। जैसे, अंगूर मीठे हैं, (हालाँकि उनमें खट्टापन भी होता ही है)।

९. *योग-सत्य*- वस्तु के संयोग के आधार पर उसे उस नाम से पुकारना योग-सत्य है। जैसे, दंड धारण करने वाले को दंडी कहना या घी रखे जाने वाले घड़े को घी-का-घड़ा कहना, इत्यादि।

१०. *उपमा-सत्य*- यद्यपि चंद्र और मुख दो भिन्न तथ्य हैं फिर भी 'चन्द्रमुखी', सत्य है। इसी प्रकार 'मृगनयनी' भी है।

सत्य के उपरोक्त प्रकारों से यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन में कोई भी कथन निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं होता। वह देश काल परिस्थितियों के अनुसार ही सत्य माना जा सकता है। जैन दर्शन के स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में सत्य निष्ठा के महत्त्व को विशेष रूप से समझा गया है। 'स्यात्' शब्द प्रयोग जैन विचारकों ने किसी भी कथन में सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही आविष्कृत किया है। जैन मत के अनुसार कोई भी ऐकांतिक कथन वस्तुतः सत्य न होकर असत्य है। स्यात्, कथन की अनेकान्तता को इंगित करता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि जैन धर्म को सत्य के नैतिक और तत्त्वमीमांसात्मक पक्ष अपृथक् रूप से परस्पर संबंधित है।

मुनियों और साधुओं के लिए महाव्रत के रूप में सत्य "सब्बाओ मुसावायाओ वेरमणम्" का रूप लेता है। इसके अनुसार एक मुनि को सभी असत्य- वचनों से पूरी तरह बचना होता है। उसे झूठ के लिए तनिक भी छूट नहीं मिलती। उसे अपने सत्य कथनों को क्रोध आदि दुर्भावनाओं से पूर्णतः मुक्त रखना होता है और साथ ही उन्हें कल्याणकारी भी बनाना होता है। उसे मन, वचन और काया से सत्यनिष्ठ होना होता है और सत्य को कृत, कारित और अनुमोदित करना होता है। सत्य के लिए सम्यक् दृष्टि अपनाकर ही मुनि सत्यनिष्ठ बन सकता है।

अतः मुनि को आदेश है कि वह सत्य को ही धारण करे और उससे विचलित न हो क्योंकि सत्य में रत रहने वाला मेधावी सर्व पाप कर्म का शोषण कर डालता है।[२१]

सत्य महाव्रत के पालन के लिए भी पाँच "भावनाओं" का विधान है- १. *अनुवीचिभाषण*- विचारपूर्वक बोलना चाहिए, बिना विचारे बोलने से असत्य बोलना संभव है। २. *कोह-विवेग*- क्रोध का त्याग करके बोलना चाहिए क्योंकि क्रोध की अवस्था

में विवेक कुंठित हो जाता है और इसलिए असत्य बोलने की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं; ३. *लोभ-विवेग-* लोभ का त्याग करके बोलना चाहिए क्योंकि लोभ से वशीभूत होकर असत्य बोलना सम्भव है; ४. *भय-विवेग-* भय का त्याग करके बोलना चाहिए क्योंकि भय के कारण असत्य बोलना सहज सम्भव हो पाता है। ५. *हास-विवेग-* हास्य का त्याग करके बोलना चाहिए क्योंकि हास्य के प्रसंग में भी असत्य भाषण की सम्भावनाएँ रहती हैं। जो श्रमण उपर्युक्त पाँचों भावनाओं को ध्यान रखते हुए बोलता है, तब ही यह कहा जा सकता है कि उसने सत्य-महाव्रत स्वीकार किया है।[२२]

यदि सत्य महाव्रत "सब्बाओ मुसावायाओ वेरमणं" का स्वरूप ग्रहण करता है तो सत्यानुव्रत 'थूलाओ मूसावायाओ वेरमणं' है, अर्थात्, इस व्रत के तहत सामान्य जन से कम से कम स्थूल मृषावाद का त्याग अपेक्षित है। लेकिन स्थूल मृषावाद को परिभाषित कर पाना बड़ा कठिन काम है। जैन दर्शन में निम्नलिखित पाँच स्थूल असत्य निरूपित किए गए हैं-[२३]

(क) *कन्यालीक-* वर-कन्या के संबंध में झूठी जानकारी देना।

(ख) *गो-अलीक-* गो आदि पशुओं के संबंध में असत्य भाषण करना।

(ग) *भूमि-अलीक-* भूमि के संबंध में झूठ बोलना।

(घ) *न्यासापहार-* किसी की अमानत (धरोहर) दबाने के लिए असत्य कहना।

(ङ) *कूट-साक्ष्य-* झूठी गवाही देना।

अतः श्रावक को असत्य संबंधी निम्नलिखित अतिचारों से बचना चाहिए-[२४]

(क) *मिथ्योपदेश-* सही-ग़लत समझाकर किसी को विपरीत स्थिति में डालना।

(ख) *रहस्याभ्याख्यान-* रागवश, विनोद के लिए किसी पति-पत्नी को अथवा अन्य स्नेही जनों को एक-दूसरे से अलग कर देना, अथवा किसी के रहस्य प्रकट कर, गोपनीयता भंग कर देना। रहस्याभ्याख्यान से कभी-कभी दोषारोपण का अर्थ भी लिया जाता है।

(ग) *कूटलेख क्रिया-* मोहर, हस्ताक्षर, आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना तथा खोटा सिक्का आदि चलाना।

(घ) *न्यासापहार-* कोई धरोहर रखकर भूल जाए तो उसका लाभ उठाकर थोड़ी या पूरी धरोहर दबा जाना।

(ङ) *साकारमंत्र भेद-* किन्हीं लोगों की आपसी प्रीति तोड़ने के विचार से चुगली करना।

अस्तेय व्रत

पंचमहाव्रतों में अस्तेय का तीसरा स्थान है। इसे "अदत्तादान-विरति" भी कहा गया है। शाब्दिक रूप से, अदत्तादान विरति का अर्थ है- वह जो नहीं दिया गया है (अदत्ता) उस दान का त्याग। इस अर्थ में यह केवल चोरी से बचना ही नहीं है। चोरी का अर्थ है किसी दूसरे व्यक्ति की वस्तु को बिना उसकी अनुमति के ग्रहण कर लेना। अदत्ता-दान विरति, वस्तु किसी की हो या न हो तो भी, यदि उसे कोई देता नहीं तो उसे त्याग देने में है। उदाहरण के लिए जंगल में या सड़क पर पड़ी हुई कोई नगण्य सी वस्तु जो किसी की नही है, उसे भी ग्रहण न करना-अदत्तादान विरति है। ऐसी वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करना 'चोरी' नहीं कहा जा सकता। "अचौर्य" के लिए 'अदत्तादान विरति' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग श्रमण परंपरा का भारतीय चिंतन को अपना एक विशिष्ठ योगदान माना जा सकता है। 'स्तेय' की अपेक्षा 'अदत्ता' अपेक्षाकृत एक नया शब्द है।

'अस्तेय' वस्तुतः 'अहिंसा' से ही फलित होता है। अहिंसा को चाहे हम धनात्मक रूप से सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने वाला सद्‌गुण मानें या फिर उसे, नकारात्मक रूप से दूसरों को हानि न पहुंचाने के अर्थ में लें, दोनों ही के लिए 'अस्तेय' निष्ठा आवश्यक है। चोरी सामाजिक व्यवस्था को भी गड़बड़ाती है और उस व्यक्ति को भी, जिसे उसकी संपत्ति से वंचित किया जाता है हानि पहुँचाती है। जैन और बौद्ध परंपराओं में तो अस्तेय व्रत को स्पष्टतः अहिंसा व्रत के ही एक अनुपूरक व्रत के रूप में ग्रहण किया गया है।

ऋग्वेद के काल से ही स्तेय (चोरी) को एक गम्भीर अपराध माना गया है। उपनिषदों में चोरी न करने का स्पष्ट उपदेश है। चोरी के पीछे मनुष्य का लालच और लोभ काम करता है। यदि व्यक्ति लोभ को नियंत्रित कर सके, तो वह स्वतः चोरी नहीं करेगा। उपनिषदों में इस प्रकार चोर का काफ़ी गइराई से अध्ययन किया गया है। जैन दर्शन भी यही कहता है- "लोभाविले आययई अदत्तं"।

मनुस्मृति और *पातंजल योग* मे भी अस्तेय नैतिक आचरण का एक प्रमुख सद्‌गुण है। अहिंसा, सत्य, शौच और इन्द्रिय-निग्रह के साथ-साथ अस्तेय को भी मनु ने एक नैतिक निष्ठा के रूप में प्रस्तुत किया है।[२५] इसी प्रकार *पातंजल योग सूत्र* में पांचों यमों में आचौर्य का तीसरा स्थान है। यहाँ आचौर्य से तात्पर्य वस्तुतः लोभ या लालच से मुक्ति है। चोरी से बचने के लिए प्रतिपक्ष भावना का विकास आवश्यक है

और यह प्रतिपक्ष भावना 'संतोष' या 'अलोभ' की भावना है। हिंसा और झूठ (अनृत) की तरह स्तेय भी कृत, कारित और अनुमोदित हो सकता है तथा क्रोध, लोभ और मोह पूर्वक आचरित हो सकता है। इसकी मात्रा भी कम या ज्यादह- मृदु, मध्य या अधि-हो सकती है। व्यक्ति को इन सभी 'प्रकार' के स्तेय से यदि बचना है तो इसकी (स्तेय की) प्रतिपक्ष भावना का विकास करना आवश्यक है अन्यथा वह अनंत दुःख और अनंत अज्ञान में फँसे बिना नहीं रह सकता। पतंजलि के अनुसार जिस प्रकार पूर्णतः अहिंसानिष्ठ व्यक्ति के सानिध्य में सम्पूर्ण वैर समाप्त हो जाता है और सत्य में पूर्णतः प्रतिष्ठत व्यक्ति की वाणी सफल हो जाती है, उसी प्रकार अस्तेय में प्रतिष्ठित व्यक्ति (योगी) को सभी रत्नों की प्राप्ति हो जाती है।[२६]

पातंजल-योग की भांति जैन-दर्शन में भी अस्तेय निष्ठा को पंचव्रतों में तीसरा ही स्थान प्राप्त है। महावीर से पहले पार्श्वनाथ के समय में जब केवल चार ही व्रतों की व्यवस्था थी, अस्तेय उनमें से एक था। उसे तब "आदिण्णादाणाओ वेरमणं" कहा जाता था।

उमास्वामी ने 'स्तेय' को इस प्रकार परिभाषित किया है- "अदत्तादानं स्तेयं"[२७]। इस परिभाषा के अनुसार जो वस्तु प्रदान नहीं की गई है, उसे लेना स्तेय है। टिप्पणीकार कहते हैं कि जिस तरह अहिंसा की व्याख्या में "प्रमत्तयोग" विशेषण लगा है वैसे ही इसे "अदत्तादान" दोष की व्याख्या में भी जोड़ लेना चाहिए। ऐसे में केवल बिना दिए लेना ही स्तेय नहीं है बल्कि किसी वस्तु को लालच या आसक्ति-पूर्वक ग्रहण करना स्तेय है। इस व्याख्या से अचौर्यव्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं-

१. किसी भी वस्तु के प्रति लालची वृत्ति से दूर रहना।

२. जबतक लोभ न छूटे तब तक वस्तु को न्यायपूर्वक अपने आप ही अर्जित कर लेना चाहिए किंतु दूसरे की ऐसी वस्तु आज्ञा के बिना लेने का विचार तक नहीं करना चाहिए।[२८]

जैन दर्शन में अस्तेय का आधार जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अहिंसा है। अहिंसा वह प्रथम निष्ठा है जिसपर सभी अन्य निष्ठाएँ निर्भर हैं। अस्तेय भी केवल इसीलिए प्रतिष्ठित है क्योंकि यह अहिंसा का सहायक या पूरक सिद्धान्त है। चोरी करना हिंसा करना है क्योंकि इससे व्यक्ति को मानसिक और भौतिक दोनों ही तरह से हानि होती है। वस्तुतः जहाँ भी चोरी है वहाँ हिंसा भी है- यत्र यत्र स्तेयं

तत्र तत्र हिंसा। हिंसा और स्तेय दोनों सहवर्त्ती हैं लेकिन उनका संबंध एकपक्षीय है। आवश्यक नहीं कि जहाँ हिंसा हो वहां स्तेय भी हो। लेकिन स्तेय के साथ हिंसा तो रहती ही है।

जैन साहित्य में स्तेय के अनेक प्रकार बताए गए हैं और इसे अनेक तरह से वर्गीकृत किया गया है। एक वर्गीकरण के अनुसार चुराई जा सकने वाली वस्तुएं छः प्रकार की होती हैं- (१) अल्प (मात्रा में कम) २. स्थूल (आकार या मूल्य में अधिक) ५. सचित्त (जीवित प्राणी) और ६. अचित्त (अजीव पदार्थ)।

इन सभी वस्तुओं की चोरी मन, वचन या काया-तीनों ही योग से की जा सकती है। इसी प्रकार चोरी 'की' भी जा सकती है। 'कराई' भी जा सकती है और 'अनुमोदित' भी की जा सकती है। इन सभी "प्रकारों" के संयोजन और संमिश्रण से स्तेय के अनेक अन्य प्रकार हो सकते हैं जो वस्तुतः छोटे-बड़े अपराध ही हैं।

जैन साधुओं और मुनियों को अस्तेय एक "महाव्रत" के रूप में पालन करना होता है अर्थात् उन्हें किसी भी प्रकार की कोई चोरी करने की छूट नहीं होती। महाव्रत के रूप में अस्तेय को "सब्बाओ अड्डिण्णादाणाओ वेरमणम्" कहा गया है। अर्थात् सभी 'प्रकार' की चोरी से विरत रहने के लिए विधान किया गया है। मन, वचन और काय से, चित्त-अचित्त, अल्प-बहु, अणु-स्थूल-किसी भी प्रकार की वस्तु को यदि वह उसे स्पष्टतः वस्तु के स्वामी द्वारा दी नहीं गई है, तो साधु उसे न तो स्वयं ग्रहण कर सकता है न दूसरों के द्वारा प्राप्त कर सकता है और नहीं ऐसे ग्रहण का अनुमोदन कर सकता है।

इसके अतिरिक्ति अदत्तादान का एक अन्य वर्गीकरण जो प्रमुख रूप से साधुओं के लिए बना है इस प्रकार है- (१) स्वामी अदत्तादान- इससे तात्पर्य है कि किसी भी मुनि को घास का एक तिनका भी ग्रहण नहीं करना चाहिए यदि वह उसके (घास के) स्वामी द्वारा दिया न जाए। (२) जीव अदत्तादान- से आशय है कि मुनि को किसी भी व्यक्ति (बालक) को अपना शिष्य नहीं बनाना चाहिए जब तक कि उसके अभिभावक उसे ऐसा करने के लिए न कहें। (३) तीर्थंकर अदत्तादान- मुनि/साधु को कोई ऐसी भिक्षा नहीं लेना चाहिए जिसके लिए तीर्थंकरों ने मना किया है तथा (४) गुरु अदत्तादान- अर्थात् साधु को ऐसी भिक्षा भी ग्रहण नहीं करना चाहिए जिसके लिए उसके गुरु की अनुमति न हो।[२६]

अस्तेय महाव्रत के सम्यक् परिपालन के लिए 'पांच-भावनाओं' का भी विधान

है। ये भावनाएं इस प्रकार हैं- (१) अनुवीचिअवग्रहयाचन (२) अभीक्ष्णअवग्रहयाचन (३) अवग्रहावधारण (४) साधर्मिक से अवग्रहयाचन और (५) अनुज्ञापितपानभोजन।[३०] 'अनुवीचअवग्रहयाचन' का अर्थ है कि श्रमण विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करें। दूसरी भावना से आशय है कि श्रमण याचित आहारादि वस्तुओं का उपभोग आचार्य की आज्ञा से ही करे। आचार्य को बताए बिना किसी भी वस्तु का उपभोग न करे। तीसरे, श्रमण अपने लिए निश्चित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे। चौथे, श्रमण को जब भी कोई आवश्यकता हो उस वस्तु की मात्रा का परिणाम निश्चित करके ही याचना करे और पाँच, अपने सहयोगी श्रमण के लिए भी विचार पूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तुओं की चाचना करे।

सामान्यतः प्रत्येक श्रमण को अपनी दिनचर्या में जो याचना पर आधारित है उपर्युक्त 'भावनाओं' (नियमों) का कुछेक अपवादों को छोड़कर पालन करना चाहिए।

जहाँ श्रमणों के लिए अस्तेय का एक महाव्रत के रूप में प्रावधान है, वहीं गृहस्थों के लिए इसका प्रावधान एक अणुव्रत के रूप में है। अचौर्याणुव्रती को स्थूल चोरी से विरत रहना होता है। स्थूल चोरी के निम्नलिखित रूप बताए गए हैं-[३१]

१. खात खनना ('खत्त खणणं') सेंध लगाकर वस्तुओं को चुराकर ले जाना।

२. गाँठ काटना (गाँठ-भेयणं) अर्थात् बिना पूछे किसी की गांठ खोलकर वस्तुएं निकाल लेना, वर्तमान में जेब काटना ही गांठ काटना है।

३. ताला तोड़कर ('जतुग्घाऽणं') या कोई दूसरी चाभी लगाकर वस्तुएं चुराना।

४. किसी पड़ी हुई वस्तु को उठा लेना- ('पडिय-वत्थुहरणं')

५. डाका डालकर दूसरे की वस्तु ले लेना ('ससाथिअवत्थुहरणं')

जैसा कि बताया जा चुका है चोरी या तो स्वयं की जा सकती है, या किसी दूसरे से कराई जा सकती है या चौर्य कर्म की प्रशंसा, अनुशंसा की जा सकती है- तीनों ही चौर्य कर्म हैं। अणुव्रत के रूप में अस्तेय के अंतर्गत गृहस्थ को चोरी की प्रशंसा/अनुशंसा करने की छूट है क्योंकि इस प्रकार की प्रशंसा से सामाजिक व्यवस्था में कोई अंतर नहीं पड़ता। यह एक मानसिक वृत्ति अधिक है।[३२]

जैन गृहस्थ के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वह स्थूल चोरी से बचता रहे, वरन् यह भी आवश्यक है कि वह उन कृत्यों के प्रति भी सावधान रहै जो प्रकट

में चोरी नहीं दीखते हुए भी, चोरी के ही रूप हैं। ऐसे चोरी से संबंधित पाँच अतिचार बताए गए हैं।[३३]

१. *स्तेन प्रयोग*- चोरी की गई वस्तु को खरीदना या अपने घर में रखना। चोरी का माल खरीदना चोरी करने के समान ही दूषित प्रवृत्ति है।

२. *स्तेनाहृतादान*- व्यक्तियों को नियुक्त कर उनके द्वारा चोरी, ठगी आदि करवाना अथवा चोरों को चोरी करने में विभिन्न प्रकार से सहयोग देना।

३. *विरोधी राज्य का अतिक्रमण*- राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, राजकीय आदेशों के विपरीत वस्तुओं का आयात-निर्यात करना तथा समुचित राजकीय कर का भुगतान न करना। विरोधी राज्यों में जाकर गुप्तचर का काम करना या सीमातिक्रमण के द्वारा दूसरे राज्यों की भूमि हड़पने का प्रयास करना भी इसी के अंतर्गत आता है।

४. *हीनाधिक मानोन्मान*- न्यूनाधिक मापतौल करना- तौल में बेईमानी।

५. *प्रतिरूपक व्यवहार*- मिलावट करना। अशुद्ध वस्तुएं बेंचना, इत्यादि।

गृहस्थ को, जो अचौर्याणुव्रत का पालन करता है, उपर्युक्त सभी अतिचारों से बचने के लिए निर्देश दिया गया है।

ब्रह्मचर्य-व्रत

'ब्रह्मचर्य' चौथी नैतिक-निष्ठा है। इसे जिन अन्यान्यं नामों से पुकारा गया है वे हैं- 'अब्रह्मचर्य-विरति', 'काममिथ्याचार विरति' और 'मैथुन विरमण व्रत'। ये सभी समानार्थक पद हैं जो 'ब्रह्मचर्य' को निषेधात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं। इनमें केवल 'ब्रह्मचर्य' शब्द ही विध्यात्मक है और यही सर्वाधिक प्रचलित भी है।

ब्रह्मचर्य से अर्थ सामान्यतः ऐन्द्रीय कामनाओं, विशेषकर काम-प्रवृत्ति, के नियंत्रण या निरोध से लगया जाता है लेकिन व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका अर्थ बहुत व्यापक है। ब्रह्मचर्य, 'ब्रह्मन्' और 'चर्य'- इन दो से मिलकर बना है। अतः इसका अर्थ हुआ, ब्रह्म की खोज से संबंधित आचरण। ब्रह्म अंतिम-सत्ता या परम-सत्य है। इसी परम सत्य की खोज में संलग्नता ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य सत्य से निकट रूप से जुड़ा हुआ प्रत्यय है। यह केवल कामाचार से निवृत्ति ही नहीं है। बेशक, कामचार से निवृत्ति ब्रह्मचर्य के लक्ष्य की प्राप्ति में एक अत्यंत सहायक घटक है और कदाचित्

इसीलिए कालांतर में ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल काम-वृत्ति के निरोध तक ही सीमित रह गया।

वेदों में ब्रह्मचर्य पद का उपयोग अपने व्यापक अर्थ में किया गया है किंतु उपनिषदों में यह एक महत्वपूर्ण नैतिक सिद्धान्त के रूप में भी विकसित हुआ है। इसे न केवल सत्य (ब्रह्म) की खोज माना गया है बल्कि इसे इस उद्देश्य के लिए उपयुक्त आचरण भी माना गया है। काम से निवृत्ति इस आचरण का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। किंतु कुल मिलाकर उपनिषदों में ब्रह्मचर्य का अर्थ ब्रह्म की खोज के लिए इन्द्रिय-निग्रह ही अधिक है। उपनिषदों में वर्णित इन्द्रिय-निग्रह बहुत कुछ, बौद्ध धर्म में जिसे 'काम-मिथ्याचार विरति' कहा गया है, उससे काफ़ी निकट है। वस्तुतः नैतिकता के दो मापदंड हैं-एक, आदर्श और दूसरा, सामाजिक। आदर्श मापदंड वैयक्तिक है जो पूर्ण इन्द्रिय-निग्रह के लिए अनुशंसा करता है किन्तु सामाजिक आदर्श इन्द्रिय-भोग को केवल सीमित करने के लिए निर्देश देता है। इसके अनुसार एक-पत्नी व्रत (स्वदार संतोष) भी ब्रह्मचर्य ही है।[३४]

ऐन्द्रीय इच्छाओं के नियंत्रण के रूप में ब्रह्मचर्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति हमें *पातंजल योगसूत्र* में देखने को मिलती है। *योगसूत्र* में यह पाँच 'यमों' में से एक है। यहाँ ब्रह्मचर्य से तात्पर्य उसके वियुत्पत्ति-संबंधी अर्थ से इतना नहीं है जितना कि उसके प्रचलित अर्थ से है। यह स्पष्ट रूप से कामाचारण पर नियंत्रण है किन्तु इसमें अन्यान्य ऐन्द्रीय कामनाओं का नियमन भी सम्मिलित है। पतंजलि के सूत्रों पर अपनी टिप्पणी करते हुए व्यास ने कहा है कि 'गुप्तेन्द्रिय-संयम' ही ब्रह्मचर्य है।[३५] लेकिन स्पष्ट ही उपस्थ-संयम मात्र ही ब्रह्मचर्य नहीं कहलाता। उपस्थ-संयम भी वस्तुतः तभी संभव है कि जब हम चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों पर संयम करें। अतः अब्रह्मचर्य के आठों रूपों का वर्जन ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। ये आठरूप हैं-काम संबंधी स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय तथा क्रिया। इन सभी से बचना आवश्यक है।[३६]

पतंजलि के अनुसार, यदि किसी व्यक्ति में पर-स्त्री व्यभिचार की भावना आती है तो इसके उन्मूलन के लिए प्रतिपक्ष भावना यानी संयम के लाभ पर विचार करना चाहिए। यही ब्रह्मचर्य है। पतंजलि पुनः कहते है कि जो व्यक्ति अपने में पूरी तरह ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा कर लेता है उसे वीर्यलाभ होता है अर्थात् ब्रह्मचर्य में पूर्ण निष्ठा रखने वाला योगी शक्ति-विशेष अर्जित कर लेता है।[३७] ब्रह्मचर्य व्रत का पालन

भी अन्य व्रतों की भांति मन वचन और काय से करना चाहिए तथा अब्रह्मचर्य को करना, कराना तथा उसका अनुमोदन करना, इन सभी से बचना चाहिए।

जैन दर्शन में भी ब्रह्मचर्य को व्यापक और सीमित-दोनों ही अर्थों में समझा गया है किन्तु नैतिक रूप से इसके सीमित अर्थ-अर्थात्, इन्द्रीय-निग्रह-पर ही अधिक बल दिया गया है। सामान्यतः ब्रह्मचर्य मोक्षानुकूल आचरण है लेकिन नैतिक आचरण के संदर्भ ने ब्रह्मचर्य का अर्थ, काम-विरति ही है क्योंकि 'काम' को मोक्षमार्ग में सबसे बड़ा बाधक माना गया है।

उमास्वामी ने ब्रह्मचर्य को कामेच्छाओं से विरति के रूप में प्रस्तुत करते हुए, मैथुन को अब्रह्म माना है।[३८] मैथुन अर्थात् मिथुन की प्रवृत्ति। काम-राग आदि चेष्ठा ही मैथुन है। यह ऐसी प्रवृत्ति है जिसके अधीन मनुष्य अपना विवेक खो देता है और अच्छे-बुरे में भेद नहीं कर पाता। इसीलिए इसे अब्रह्म कहा गया है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि हिंसा, असत्य आदि दुर्गुण 'प्रमत्तयोग' से होते हैं किन्तु अब्रह्म में प्रमत्तयोग विशेषण नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह दोष अप्रमत्त दशा में संभव ही नहीं है।[३९] जब दो व्यक्ति राग और मोह में पड़कर परस्पर संभोग की चेष्टा करते है तो यही मैथुन है। अतः मैथुन में अप्रमत्त दशा नहीं होती, यह राग और मोह से पूरी तरह ग्रसित होता है। पुनः ब्रह्मचर्य के लिए सभी संभोग-चेष्टाएं-वे प्राकृतिक हों अथवा अप्राकृतिक-वर्जित हैं।

अन्य बातों की भाँति ब्रह्मचर्य का आधार भी अहिंसा ही है। मैथुन वस्तुतः एक हिंसक-कर्म ही है। इसीलिए यदि जैन दर्शन में हिंसा के बाद किसी की निंदा की गई है तो वह 'अब्रह्म' (अथवा, मैथुन) ही है। मैथुन में अनेकानेक सूक्ष्म जीवों की हत्या होती है। अतः वे योगी मुनि या साधु जो मैथुन से विरत रह पाते हैं सचमुच धन्य हैं।

महाव्रत के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन अत्यंत कठिन है। यह केवल मुनियों और साधुओं के लिए ही विहित है। महाव्रत के रूप में ब्रह्मचर्य कामेच्छाओं का संपूर्ण त्याग है। यह केवल संभोग से ही विरति न होकर पांचों इन्द्रियों (श्रवण, स्वाद, दृष्टि, गंध,और स्पर्श) की संतुष्टि के प्रति उदासीनता है।[४०] अतः महाव्रत के रूप में ब्रह्मचर्य-'सब्बाओ मेहुणाओ बेरमणं" व्रत है। अर्थात्, सभी प्रकार की कामनाओं (जिनमें कामेच्छा भी है) का वर्जन है। एक मुनि के लिए इस व्रत के पालन में किसी भी प्रकार भी छूट या सुविधा नहीं दी गई है। इसका पालन निरपवाद (अत्यंत) है। ब्रह्मचर्य भंग

होने पर सभी व्रत तत्काल भंग हो जाते हैं। आसक्ति और मोह से जनित होने से अब्रह्मचर्य आत्मा के पतन का कारण बनता है। अतः आत्मविकास के लिए भी ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक है। जैन श्रमण के लिए समस्त प्रकार का मैथुन त्रिकरण (कृत, कारित और अनुमोदित) और त्रियोग (मन, वचन और काय) से वर्जित है। जैन आचारविधि में ब्रह्मचर्य के महत्व को देखते हुए उसकी रक्षा हेतु कठोरतम नियमों एवं मर्यादाओं का विधान है। *आचारांग* में ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावनाएं बनाई गई हैं- (१) स्त्री, अथवा नपुंसक द्वारा सेवित शयन आदि का वर्जन, (२) रागपूर्वक स्त्री कथा का वर्जन (३) स्त्रियों के मनोहर अंगों के अवलोकन का वर्जन (४) पहले के रतिविलास के स्मरण का वर्जन और (५) प्रणीतरस भोजन का वर्जन।[४१] इनका अपवाद बहुत ही दुष्कर परिस्थितियों में ही संभव है।

जैन साधना में जहाँ श्रमण साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर स्त्री-पुरुष संबंधी काम क्रिया से पूर्णतः विरत हो जाता है, वहीं गृहस्थ के लिए केवल इतना ही आवश्यक माना गया है कि वह अपनी भोग-लिप्सा को केवल अपनी पत्नी तक ही सीमित रखे एवं सम्भोग की मर्यादा बाँधे। ब्रह्मचर्य व्रत गृहस्थ के लिए वस्तुतः ' पत्नी संतोष व्रत' का रूप ले लेता है।

जैन दर्शन में विवाह का निषेध नहीं है, लेकिन विवाह का उद्देश्य घर बसाना या सन्तानोत्पत्ति भी नहीं है। विवाह केवल इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति संन्यासी नहीं हो सकता। अतः, उसे अपनी कामेच्छा की दुर्बलता को संयमित करने के लिए, विवाह आवश्यक माना गया है। व्यक्ति को विवाह योग्य वयस्क कन्या से ही विवाह करना चाहिए तथा विवाह के बाद भी भावना यही रखनी चाहिए कि व्यक्ति निवृत्ति के मार्ग पर चल सके।

गृहस्थों के लिए जितने भी अन्य अणुव्रत हैं उनमें उनके निषेधात्मक पालन के लिए त्रि-करण (मन-वचन-काय) और त्रियोगो में दो योगों (कृत-कारित) का व्रत-पालन जैन दर्शन में अवश्य बताया गया है। गृहस्थ को केवल 'अनुमोदन' की ही छूट दी गई है। किन्तु ब्रह्मचर्य के संदर्भ में अधिक उदारता बरती गई है। इस व्रत की प्रतिज्ञा में त्रियोग और त्रिकरण का उल्लेख नहीं मिलता। यहाँ श्रावक को इस व्रत के पालन के लिए अपनी परिस्थिति और सामर्थ्य पर छोड़ दिया गया है। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि श्रावक को केवल अपनी पत्नी में संतोष (स्वदार संतोष) और पर-पत्नी से विरति (परदार विरमण) तो रखना ही होता है। इसके अतिरिक्त

उसे पाँच अतिचारों से भी वचना होता है। ये पाँच 'अतिचार' क्रमशः इस प्रकार हैं।[४२]

(१) *परविवाहकरण*- गृहस्थ जीवन में व्यक्ति को अपने परिवार के सदस्यों का विवाह संस्कार करना होता है, लेकिन यदि श्रावक स्वसंतान और परिजनों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के विवाह संबंध या नाते रिश्ते-करवाने की प्रवृति में रुचि लेता है तो यह उसकी भोगाभिरुचि को ही प्रकट करेगा और यह मन की निराकुलता में बाधक होगा, अतः गृहस्थ साधक के लिए परविवाहकरण का निषेध किया गया है।

(२) *इत्वरपरिगृहीतागमन*- 'इत्वरपरिगृहीता' के अंतर्गत तीन प्रकार के समागमों का निषेध है। इतवरप्ररिगृहीता वह रखैल हो सकती है जिसे अल्प समय के लिए पत्नी के रूप में रख लिया जाए, अथवा, यह वाग्दत्ता हो सकती है, अथवा, अल्पवयस्क पत्नी भी हो सकती है। इन तीनों ही प्रकार की स्त्रियों से समागम वर्जित माना गया है। इनका संभोग अतिचार है।

(३) *अपरिगृहीतागमन*- अपरिगृहीता उस स्त्री को कहते हैं जिस पर किसी का अधिकार नहीं होता। वेश्या, इस प्रकार, अपरिगृहीता है। वेश्या के साथ समागम अपरिगृहीतागमन है। अपरिगृहीता से आशय कभी-कभी कुमारी कन्या या पर-स्त्री से लगाया गया है क्योंकि इन पर भी व्यक्ति का कोई अधिकार (काम-संबधी) नहीं होता। अतः इस व्यापक अर्थ में अपरिगृहीता गमन वेश्या से समागम ही नहीं बल्कि अविवाहित स्त्री और पर-स्त्री से समागम भी है। जैन दर्शन इन सभी प्रकार के संभोगों को गृहस्थ के लिए पूर्णतः वर्जित मानता है।

(४) *अनंगक्रीड़ा*- मैथुन के स्वाभाविक "अंगों" से काम वासना की पूर्ति न कर, अप्राकृतिक रूप से वासना-पूर्ति अनंगक्रीड़ा कहलाती है। हस्त, मुख, गुदादि से, अथवा, किसी बाह्य उपकरण से, अथवा समलिंगी या पशुओं आदि से मैथुन करना और इस प्रकार वासना की पूर्ति करना गृहस्थ के लिए वर्जित है। यह भी मैथुन संबंधी अतिचार हैं।

(५) *तीव्रकामाभिनिवेश*- कामवासना की तीव्र इच्छा रखना है। अतः काम वासना के उत्तेजन के लिए गृहस्थ को किसी औषधि आदि का सेवन सर्वथा वर्जित है। मादक द्रव्य आदि भी जो क्षणिक उत्तेजना पैदा करते हैं, त्याज्य बताए गए हैं क्योंकि ये सभी विवेक को भ्रष्ट कर साधक को उसकी साधना से च्युत करते हैं।

एक गृहस्थ को अणुव्रत के रूप में ब्रह्मचर्य पालन के लिए उपर्युक्त मर्यादाओं को बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है। इन मर्यादाओं के उल्लंघन का अर्थ है- अब्रह्म अतिचार।

अपरिग्रह व्रत

क्रमानुसार अपरिग्रह हिन्दू और जैन दोनों ही धर्मों में पाँचवाँ व्रत है किन्तु अंतिम होने से इसका महत्व कम नहीं आँका जा सकता।

अपरिग्रह परिग्रह न करना है। परिग्रह, 'परि+ग्रहण' है। 'परि' से अर्थ है ढेर, विपुल। अतः परिग्रह का अर्थ हुआ ढेर सारी (वस्तुओं) को ग्रहण कर लेना। परिग्रहणं परिग्रहः। अपरिग्रह-व्रत, इस प्रकार, हमें वस्तुओं आदि को विपुल मात्रा में ग्रहण न करने के लिए निर्देश है। इसमें दो अर्थ निहित हैं। एक, अपरिग्रह से यह अर्थ नहीं है कि हम वस्तुओं को ग्रहण ही न करें और दो, जो अनावश्यक वस्तुएं हैं हम उन्हें त्याग दें।

भारतीय दर्शन में 'दान' और 'त्याग' इन दोनों ही निष्ठाओं पर आरंभ से ही बल दिया गया है। जो अपने पास है उसे दूसरे को-जरूरतमंदों को-दे दिया जाए, यह दान है। जो अपने पास है उसे अपना न समझ कर छोड़ दिया जाए- यह त्याग है। दान में देने पर आग्रह है त्याग में छोड़ने पर। जब हम 'दान देते' हैं तो किसी दूसरे को देते हैं। दान में सामाजिक भावना है। त्याग वैयक्तिक है। हम अपनी वस्तु पर से अपना अधिकार छोड़ देते हैं। लेकिन दान में भी त्याग निहित है क्योंकि हम दान तब तक नहीं कर सकते जब तक कि हम वस्तु पर से अपना अधिकार न छोड़ें। इसी प्रकार त्याग में दान निहित है क्योंकि अधिकार छोड़ने के बाद वस्तु अपनी न रहकर अंततः किसी और के ही अधिकार में चली जाती है। दान में सामाजिक कल्याण की भावना व्यक्ति रूप से समाहित है क्योंकि दान सदैव जरूरत मंद को ही दिया जाता है। त्याग में व्यक्ति रूप से तो समाजिक कल्याण की भावना नहीं होती लेकिन अव्यक्त रूप से उसमें भी यह निहित तो रहती ही है। प्राचीन हिंदू चिंतन में दान पर कदाचित् अधिक महत्त्व था किन्तु कालान्तर में अपरिग्रह व्रत के साथ त्याग पर अधिक आग्रह हो गया।

वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में हमें दान पर स्पष्ट आग्रह दिखाई देता है इसका कारण शायद गृहस्थ जीवन रहा हो जिसमें सामाजिक कल्याण के लिए दान

को एक निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। लेकिन जैसे-जैसे हिन्दू विचार संन्यास की ओर उन्मुख होने लगा उसका त्याग और अपरिग्रह पर बल बढ़ता गया। *ईशावास्य उपनिषद्* के तो प्रथम श्लोक में ही स्पष्ट कहा गया है-

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन न भुञ्जीथा मा गृधः कस्यास्विद्धनम्।।

अर्थात् इस चर जगत् में जो भी कुछ है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। (लब्ध वस्तु में से) त्याग करके ही भोग करें, किसी अन्य के धन का लोभ न करें। इसमें त्याग और अलोभ के लिए स्पष्ट निर्देश है जो 'अपरिग्रह' व्रत का सार है।

पतंजलि ने तो अपरिग्रह को पांच यमों में से एक यम माना ही है। कारण स्पष्ट है। विषयों के अर्जन में, रक्षण में, उनके क्षय में और उनके साहचर्य में-अर्थात् उनके किसी भी प्रकार के ग्रहण में, हानि ही हानि है, दुःख ही दुःख है। अतः उनका त्याग ही उचित है। विषय-वस्तुओं को तो, केवल प्राण धारण के सहायक द्रव्यों के रूप में वे जितनी अत्यावश्यक हों, बस उतना ग्रहण करना चाहिए। एक वास्तविक अपरिग्रही तो दान को भी स्वीकार नहीं करता किन्तु परिग्रहीत वस्तुओं से अनासक्त रह कर दान देने में, उनका त्याग करने में, विश्वास रखता है।

योगसूत्र में कहा गया है कि वह योगी जो अपरिग्रह में पूर्णतः स्थिर हो जाता है उसे जन्मकथन्ता का ज्ञान होता है।[४३] अर्थात् उसे यह बोध हो जाता है कि वह कौन था और किस प्रकार था? यह शरीर क्या है? यह कैसे हुआ? भविष्य में यह और क्या-क्या होगा? इत्यादि। यही सब जन्मकथन्ता है!

जैन दर्शन में अपरिग्रह का अपना एक विशेष महत्व है। पार्श्वनाथ ने पंचव्रतों की बजाय केवल चतुर्याम-धर्म ही स्वीकार किया था। किन्तु इस चतुर्याम-धर्म में भी अपरिग्रह सम्मिलित था। इसे तब "बहिद्धादीनाओ बेरमणम्" के नाम से जाना जाता था। इसका शाब्दिक अर्थ है कि किसी भी बाहरी वस्तु को स्वीकार न करें। बाहरी वस्तुओं की स्वीकृति ही परिग्रह है। बाहरी वस्तुओं में स्त्री भी आती है। अतः पार्श्वनाथ के समय में बाहरी स्त्री (पर-स्त्री) का परिग्रह न करना भी अपरिग्रह व्रत में ही आता था। महावीर के समय में जब 'ब्रह्मचर्य' व्रत स्वतंत्र रूप से स्वीकार किया जाने लगा, व्रतों की संख्या पाँच हो गई।

जैन दर्शन में 'परिग्रह' केवल बाहरी वस्तु की स्वीकृति (या ग्रहण) ही नहीं

है। यह एक ऐसा परिग्रह है जिसमें 'मूर्च्छा' (अर्थात् ममत्व-भाव या आसक्ति) भी निहित होती है। उमास्वामी ने तो स्पष्ट ही कहा है कि 'परिग्रह' वस्तुतः 'मूर्च्छा' ही है।[४४] परिग्रह के मूल में कामना होती है और कामना ही दुःख का कारण है-"कामे कामाहि कमियं खु दुक्खं"। कामनाओं का आकाश अनंत है। यदि मनुष्य अपनी सभी परिग्रहीत वस्तुओं का त्याग भी कर दे, तो भी वह पूर्णतः अपरिग्रही नहीं बन सकता। इसीलिए मूर्च्छा को परिग्रह का सार माना गया है। वस्तुओं के प्रति आसक्ति हमें बार-बार उन्हें ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है। जब तक यह आसक्ति या मूर्च्छा नहीं जाती, अपरिग्रह असंभव है।

परिग्रह के कई आयाम हैं।[४५] यह 'जड़' या 'चेतन' हो सकता है। जीव का परिग्रह चेतन-परिग्रह है जबकि अजीव का परिग्रह जड़-परिग्रह है। परिग्रह 'रूपी' या 'अरूपी' हो सकता है। दृश्य वस्तुओं का परिग्रह रूपी-परिग्रह है जबकि अदृश्य वस्तुओं (जैसे-विचार, भाव आदि) का परिग्रह अरूपी-परिग्रह है। इसी प्रकार परिग्रह 'स्थूल' या 'अणु' हो सकता है। सूक्ष्म वस्तुओं का परिग्रह अणु-परिग्रह है तथा स्थूल वस्तुओं का स्थूल-परिग्रह कहलाता है। किन्तु परिग्रह की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा 'बाह्य' और 'आभ्यांतर' के भेद में देखी जा सकती है। अभ्यांतर परिग्रह से आशय जागतिक विषयों के प्रति ममत्व की वृत्ति है। यह जड़-चेतन, रूपी-अरूपी, स्थूल-अणु किसी भी प्रकार की वस्तु के प्रति हो सकती है। मूलतः वास्तविक परिग्रह आभ्यांतर ही है। इसका संबंध हमारी वृत्ति और विचार से है। यह १४ प्रकार का माना गया है- मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया और लोभ।[४६]

जहाँ आभ्यांतर परिग्रह में उपर्युक्त चौदह वृत्तियाँ आती हैं वहीं बाह्य परिग्रह में जिन वस्तुओं का समावेश होता है- वे हैं- क्षेत्र (खेत), वास्तु (निवास, भवन), हिरण्य (रजत), सुवर्ण, धन (सम्पत्ति), धान्य, द्विपद (दास-दासी, नौकर-चाकर), और कुप्य (गृहस्थी का सामान)।

जैन दर्शन जहाँ एक ओर वाह्य वस्तुओं के परिग्रह का निषेध करता है वहाँ, वह अभ्यांतर विचार और वृत्तियों से भी, कि जो वाह्य वस्तुओं के लिए आसक्ति का कारण बनती हैं, विरति का उपदेश देता है।

अपरिग्रह के प्रसंग में भी महाव्रत और अणुव्रत की व्यवस्था की गई है अपरिग्रह- महाव्रत मुनियों और साधुओं के लिए विहित है। अणुव्रत के रूप में अपरिग्रह गृहस्थों के लिए है।

एक श्रमण को सभी प्रकार के परिग्रहों से पूरी तरह बचना होता है वह न तो जड़ वस्तुओं का अधिग्रहण कर सकता है और न ही चेतन का। इसी प्रकार वह न तो रूपी-वस्तुओं को संग्रहीत कर सकता है और न ही अरूपी वस्तुओं के प्रति आसक्त हो सकता है। वह न तो सूक्ष्म वस्तुओं के प्रति ममत्व रख सकता है और न ही स्थूल वस्तुओं को आदान में प्राप्त कर सकता है। वह न तो थोड़ी मात्रा में (अणु) और न ही पर्याप्त मात्रा में (बहुत) वस्तुओं को संग्रहीत कर सकता है। इतना ही नहीं, न तो उसे केवल बाह्य वस्तुओं को संग्रह का अधिकार है और न ही उसे आभ्यांतर परिग्रह के लिए स्वीकृति है।

श्रमण, मन, वचन और काय तीनों ही योगों से परिग्रह से बचता है और इसी प्रकार न तो परिग्रह करता है, न करवाता है और न ही उसका अनुमोदन करता है (त्रिकरण)।

यद्यपि श्रमण के लिए सभी प्रकार का आभ्यंतर एवं बाह्य परिग्रह त्याज्य है तथापि शिक्षु जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से श्रमण को न्यूनतम वस्तुओं को रखने की अनुमति दी गयी है। इस संबंध में श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपराओं में किंचित मतभेद है कि कौन-कौन सी वस्तुएं एक श्रमण अपने पास रख सकता हैं। इनमें विस्तार से जाने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः जैन श्रमण के लिए जिस रूप में भी आवश्यक सामग्री रखने का विधान है, उसमें संयम की रक्षा प्रमुख है। वह केवल वे ही उपकरण अपने पास रखता है जिससे वह अपनी संयम यात्रा का निर्वाह कर सके। इतना ही नहीं, उसे इन उपकरणों पर कोई ममत्व भी नहीं रखना चाहिए। वस्तुतः एक सच्चा श्रमण तो अपने शरीर के लिए भी ममत्व नहीं रखता।

एक श्रमण के लिए अपरिग्रह व्रत पालन हेतु जिन पाँच भावनाओं का विधान है, वे हैं-मनोज्ञ या अनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप तथा शब्द पर समभाव रखना। ये पाँचों भावनाएँ इंद्रियों के विषयों में आसक्ति का निषेध करती हैं। एक मुनि को इन्द्रीय-विषयों में आसत्ति और कषायों के वशीभूत नहीं होना चाहिए, यही उसकी सच्ची अपरिग्रह वृत्ति है।[४७]

जिस प्रकार अपरिग्रह एक महाव्रत के रूप में मुनियों के लिए प्रस्तुत किया गया है उसी प्रकार अपरिग्रहाणुव्रत गृहस्थों के लिए विहित है। श्रमण साधक के लिए सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग है लेकिन गृहस्थ के लिए यह संभव नहीं है। अतः गृहस्थ को परिग्रह से अधिकाधिक बचने के लिए परिग्रह की केवल सीमा रेखा निश्चित की

गई है। इसी लिए अपरिग्रहाणुव्रत को परिग्रह परिमाणव्रत अथवा इच्छापरिमाणव्रत अथवा स्थूलपरिग्रह विरमणव्रत भी कहते हैं। इन सभी संबोधनों से हम अपरिग्रह-अणुव्रत के स्वरूप को समझ सकते हैं।

गृहस्थ को जिन वस्तुओं के परिमाण को सीमित करने के लिए निर्देश दिया गया है वे हैं- क्षेत्र-वस्तु, हिरण्य-सुवर्ण, द्विपद-चतुष्पद और कुप्यादि, गृहस्थी की वस्तुएं। एक गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह इन सभी वस्तुओं की अपने लिए सीमा निर्धारित करे, उस सीमा का उल्लंघन न करे और यदि संभव हो तो उस सीमा को वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में ओर कम करता जाए।

एक बार यदि गृहस्थ अपने लिए यह सीमा (परिमाण) निर्धारित कर लेता है तो उसे इस परिग्रह परिमाण व्रत को "मणसा-वयसा-कायसा" निभाने का प्रावधान है वह इस व्रत को कृत और कारित दोनों ही तरह से अपनाता है। किन्तु इसके अनुमोदन के लिए स्वतंत्र होता है।

पुनः जिस प्रकार जैन धर्म में अन्य व्रतों के परिप्रेक्ष्य में कुछ अतिचारों की गणना की गई है, परिग्रह-परिमाण व्रत के भी पाँच अतिचार बताए गए हैं ये हैं- (१) क्षेत्र-वास्तु परिमाण का अतिक्रमण (२) हिरण्य-सुवर्ण परिमाण का अतिक्रमण (३) धन-धान्य परिमाण का अतिक्रमण (४) द्विपद-चतुष्पद परिमाण का अतिक्रमण और (५) कूप्य-धातु परिमाण का अतिक्रमण। इनमें से किसी के भी परिमाण का जो व्यक्ति ने अपने लिए निश्चित किया है, अतिक्रमण अतिचार है और उससे बचना आवश्यक है।

यह बचाव स्पष्ट ही तभी संभव है जब व्यक्ति न केवल अपनी संग्रह वृत्ति को सीमित करे बल्कि अपनी इच्छाओं को भी मर्यादित करे। परिग्रह-परिमाण व्रत इसीलिए वस्तुतः इच्छा-परिमाण व्रत है।

परिग्रह या संग्रह वृत्ति सामाजिक हिंसा है।[४६] जैन आचार्यों की दृष्टि में सभी प्रकार का परिग्रह अततः हिंसा से ही प्रत्युत्पन्न है। बिना हिंसा के संग्रह असंभव है। हिंसा से यहाँ अर्थ स्पष्टतः शोषण से है। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस तरह संग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है। अनासक्ति को जीवन में उतारने के लिए जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना है कि मनुष्य बाह्य परिग्रह का भी त्याग करे। परिग्रह त्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति, इन दोनों में कोई मेल नहीं

है। इसीलिए अनासक्ति की धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन में परिग्रह-मर्यादा और श्रमण जीवन में समग्र परिग्रह के त्याग का निर्देश है।

पुनः जैन मूल्य-दर्शन में 'समत्व' को एक महत्त्वपूर्ण मूल्य के रूप में ग्रहण किया गया है। समत्व के लिए समविभाग और सम-वितरण साधना का आवश्यक अंग है। जैन विचार धारा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो समविभाग और समवितरण नहीं करता उसकी मुक्ति संभव नहीं हैं इसलिए भी जैन आचार्यों ने नैतिक साधना की दृष्टि से अनासक्ति, जो अपरिग्रह का ही सार तत्व है, को अनिवार्य माना है।[५०]

सन्दर्भ

१. व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति-*सर्वार्थसिद्धि* ७-१-६६४

२. अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः।। *योगसूत्र*, २/३०

३. हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। *तत्त्वार्थसूत्र*, ७/१

४. अतः यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।। *छन्दोग्य उप०*, ३/१४/४।

५. अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।। *मनुस्मृति*, १०/६३

६. हिंसादयः कृत कारितानुमोदिता।। *योगसूत्र*, २/३४

७. लोभ-क्रोध-मोहपूर्वका।। *योगसूत्र*, २/३४

८. वही, २/३४

९. वही, २/३४

१०. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। वही, २/३५

११. *समणसुत्तं*, १४८

१२. *दशवैकालिकसूत्र*, ६.१०

१३. *तत्त्वार्थसूत्र*, ७.८

१४. देखें, *आचारांग*, २.१५.१७६

१५. देखें, सागरमल जैन, *जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलानात्मक अध्ययन*, भाग २, जयपुर १९८२, पृष्ठ २७७

१६. *मुण्डक*, ३/१/६

१७. सच्चं लोगम्मि सारभूयं गंभीरतरं महासमुद्दाओ थिरतरंग मेरुपव्वयोआ।

-*प्रश्नव्याकरण*, संवरद्वार, २४

१८. देखें, जैन, डा० कमल, *द कंसेप्ट ऑफ पंचशील इन इण्डियन थॉट*, वाराणसी, १९८३ पृ० १८५-१८६

१९. देखें, संघवी, सुखलाल, *तत्त्वार्थसूत्र विवेचन सहित*, वाराणसी १९८५, पृ० १७६-१७७

२०. "तं सच्चं भगवं तित्थकर सुभासियं दस विहं"- *प्रश्नव्याकरणसूत्र*, ७.२४

२१. *आयारो*, लाडनूं ३.४०-४१

२२. वही, २.१५.१७६

२३. देखें, *श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र* (दूसरा अणुव्रत)

२४. "मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः"

२५. "अहिंसासत्यमस्तेयंशौचमिन्द्रियनिग्रहः" *तत्त्वार्थसूत्र* ७.२१ *मनुस्मृति*, १०.६६

२६. देखें, *पातंजल योग-दर्शन*, साधन पाद, सूत्र ३०-३७ तक।

२७. *तत्त्वार्थ-सूत्र*, ७.१०

२८. देखें, संघवी, सुखलाल, *तत्त्वार्थसूत्र विवेचन सहित*, (ऊपर उद्धरित) पृ० १७७

२९. देखें, जैन, डा० कमल, *द कंसेप्ट ऑफ पंचशील*, (उपर्युक्त) पृ० १०६-१०७

३०. संघवी, सुखलाल- *तत्त्वार्थसूत्र*, पृ० १६८

३१. देखें-जैन, डा० कमल, '*द कंसेप्ट ऑफ पंचशील*' (उपर्युक्त) पृ० १११

३२. वही, पृ० ११२

३३. "स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।" *तत्त्वार्थसूत्र*-७.२२

३४. देखें, जैन, डा० कमल, *द कंसेप्ट ऑफ पंचशील*' (उपर्युक्त) पृ० १३०-१३१

३५. "ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः", *पातंजल योगसूत्र* पर व्यास-भाष्य, २.३०

३६. "स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निष्पत्तिरेव च।"-*पातंजलयोग दर्शनम्* (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८०) श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य द्वारा उद्धरित, पृ० २४८

३७. *पातंजल योगसूत्र*, २.३८

३८. "मैथुनमब्रह्म"-*तत्त्वार्थसूत्र*, ७.११

३९. देखे, सुखलाल संघवी *तत्त्वार्थसूत्र विवेचन सहित*, (उपर्युक्त) पृ० १७६.

४०. "सद्दे रूवे च गंधे च रसे फासे तहैव च,

पंच विहे कामगुणे निच्चयो परिवज्जए।"-*उत्तराध्ययन,* १६.१०

४१. संघवी, सुखलाल- *तत्त्वार्थसूत्र विवेचन सहित* (उपर्युक्त) पृ० १६८-१६६

४२. वही,२३-"परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतायतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः।।"

४३. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।। *योगसूत्र,* २.३६

४४. *तत्त्वार्थसूत्र,* ७.१२

४५. देखें, जैन, डा० कमल, *द कन्सैप्ट ऑफ पंचशील* (उपर्युक्त) पृ० २२४-२२५

४६. जैन, डा० सागरमल- *जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन* (उपर्युक्त) पृ० ३४१

४७. देखें, वही, पृ० ३४२

४८. देखें, सागरमल जैन, *जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन,* जयपुर १६८२ पृ० ६१

५०. वही, पृ० ६२

अध्याय-६

साधनापक्ष : योग

योग का अर्थ और उद्देश्य

भारत में दर्शनशास्त्र कभी भी विशुद्ध रूप से शास्त्रीय अध्ययन का विषय नहीं रहा। दर्शन के शास्त्रीय अध्ययन के साथ-साथ हमेशा यह प्रयत्न रहा कि उसे जीवन से भी संपृक्त किया जाए। और जीवन से संपृक्त कैसे किया जाए-इसकी विधि बताना ही योग का उद्देश्य रहा है। *कठोपनिषद्* (१.६.१८) में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यम ने नचिकेता को केवल ब्रह्मज्ञान की शास्त्रीय व्याख्या ही नहीं पढ़ाई बल्कि सम्पूर्ण योग विधि भी बताई-'योगंविधि च कृत्स्नम्'। इसी प्रकार *गीता* में भी हम प्रत्येक अध्याय के बाद 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' शब्दों का प्रयोग देखते हैं। तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शन में ब्रह्म-विद्या और योगशास्त्र दोनों ही सदैव संयुक्त रहे हैं और योग का अर्थ आध्यात्मिक साधना से लगाया गया है। यह सत्योपलब्धि की विधियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि *साधना के अर्थ में योग, दर्शनशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है।* किसी भी साधना प्रणाली से युक्त होना ही योगी होना होता है।

भारतीय वाङ्मय में योग शब्द बहुत प्राचीन है और इसका उपयोग इतना व्यापक हुआ है कि इसके अध्ययन और व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में, अनेक अर्थ उपलब्ध हैं। योग शब्द 'युज्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है-मिलना या जुड़ना। इस प्रकार अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में *योग शब्द का सामान्य अर्थ संयुक्त होने से है।* इस शब्द के जितने भी अर्थ हैं उन सबमें भी मिलना या संयुक्त होना समान रूप से ध्वनित होता है। उदाहरण के लिए फलित ज्योतिष में ग्रहों और नक्षत्रों की विशेष स्थिति को योग कहते हैं-ऐसे अवसर या संयोग जिनमें दो या दो से अधिक नक्षत्र संयुक्त होकर दुःखद या सुखद स्थितियों का निर्माण करते हैं, ज्योतिष में योग कहलाता है। गणित के क्षेत्र में भी दो या कई राशियों या अंकों के जोड़ के लिए योग शब्द प्रयोग होता है। *योग का एक अर्थ उपाय भी है।* भारतीय नीति में साम, दाम, दंड और भेद, ये चारों उपाय योग ही कहलाते हैं। योग के बिना किसी भी वस्तु की प्राप्ति असंभव बताई गई है। इस अर्थ में *योग मानव प्रयत्न है।*

भारतीय दर्शन में साधना के पारिभाषिक अर्थ में योग शब्द का उपयोग योग में निहित उपरोक्त सभी अर्थों को ध्वनित करता है। साधना के अर्थ में योग साध्य न होकर

केवल साधन है, उपाय है जिसमें मानव प्रयत्न आवश्यक है और जब तक किसी न किसी प्रणाली से मनुष्य युक्त नहीं होता वह योगी नहीं हो सकता।

भारतीय दर्शन में साधना की विभिन्न प्रणालियों को ही योग कहा गया है। ये प्रणालियाँ अनेक हैं किंतु अंततः इन सबका उद्देश्य कदाचित् एक ही है। ये जिन लक्ष्यों की ओर अग्रसर हैं उनके नाम भले ही भिन्न हों किन्तु सार रूप में वे एक ही हैं। कभी इसे निर्वाण कहा गया है तो कभी ईश्वर-साक्षात्कार, कभी कैवल्य कहा गया है तो कभी आत्मानुभूति।

बौद्ध दर्शन के जीवन में अंतिम लक्ष्य को निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ बुझा देने से है। अतः निर्वाण वह स्थिति है जहां दुःख की आग बुझा दी गई है। बुद्ध का एकमात्र उद्देश्य दुःख-निरोध है। जब तक पूर्णतः दुःख का निवारण नहीं हो जाता हम निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते। किंतु निर्वाण की यह स्थिति केवल निषेधात्मक ही नहीं है। यह दुःख-सुख से परे स्पष्टतः एक शांतावस्था है।

बौद्ध मत की भांति सांख्य-योग दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि समस्त जगत् और इसके अनुभव दुःखमय हैं। इस दुःख को समाप्त करने के लिए सांख्य के अनुसार यह आवश्यक है कि मनुष्य अपना अर्थात् 'पुरुष' का वास्तविक स्वभाव समझे और उसे प्रकृति से विलग करे। पुरुष की प्रकृति से मुक्तावस्था ही कैवल्य बताई गई है-जो योग का अंतिम लक्ष्य है।

कभी-कभी योग के उद्देश्य को मोक्ष भी कहा गया है। मोक्ष शब्द का उपयोग प्रायः अद्वैत वेदान्त में हुआ है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष की अवस्था वस्तुतः कोई नई अवस्था नहीं है। वह स्वयं आत्मा का अपना स्वभाव है। मोक्ष प्राप्ति आत्मानुभूति है। मनुष्य जब अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसे अज्ञान से छुटकारा मिल जाता है। अज्ञान से यह छुटकारा ही मोक्ष है।

हम योग का उद्देश्य-चाहे निर्वाण कहें, या कैवल्य, या मोक्ष सभी में जो बात निहित है वह यह है कि योग हमें अंततः दुःख और विषाद और अज्ञान रूपी जगत् से परे ले जाता है और मनुष्य को उसकी वास्तविक स्थिति में स्थित करता है।

यों तो साधना की विभिन्न प्रणालियों के रूप में योग के अनेक प्रकार हैं किंतु इनमें से चार मुख्य हैं। ये हैं- *कर्म-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग* और *राज-योग*। योग के ये प्रमुख चार मार्ग मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों पर आधारित हैं। जो व्यक्ति पीड़ित मानवता के बारे में सोचता है और उसकी पीड़ा को अपने सामाजिक कर्तव्यों

से हटाना चाहता है, उसके लिए कर्म-योग का मार्ग है। जो व्यक्ति भगवान् की सुन्दरतम कृति को आश्चर्य व भय से देखता है। तथा उसमें मिल जाना चाहता है, उनके लिए भक्ति-योग का मार्ग निश्चित किया गया है। जो व्यक्ति उपनिषदों में प्रतिपाद्य विषय की यथार्थता को देखना चाहते हैं तथा जिनमें बुद्धि की प्रधानता है उन्हें ज्ञान-योग के मार्ग पर चलना है तथा जो लोग संसार के आश्चर्यमय रहस्य को जानना चाहते हैं उन्हें पतंजलि द्वारा बताए गए राज-योग को ग्रहण करना होता है।

कर्म-योग

कर्म-योग के प्रतिष्ठापन के पूर्व भारतीय दार्शनिक परिदृश्य में दो विरोधी धारणाएं प्रचलित थीं-प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति के अनुसार कर्म से छुटकारा नहीं है अतः कर्म करते रहना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत निवृत्ति के अनुसार कर्म क्योंकि बंधनकारक है अतः कर्म का त्याग आवश्यक है। स्पष्ट ही दोनों बातें एक दूसरे की विरोधी हैं और इनका एक साथ पालन नहीं किया जा सकता। इन दोनों विरोधी धारणाओं का सामञ्जस्यपूर्ण समावेश कर्म-योग में हुआ है। इसमें प्रवृत्ति के रूप में कर्म को स्वीकार किया गया है और निवृत्ति के रूप में कर्म-फल की आशा के त्याग का समर्थन किया गया है। यही कर्म-योग है।

'कर्मयोग' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है एक संयुक्त पद है जो 'कर्म' और 'योग' इन दो शब्दों से बना है। 'कर्म' शब्द 'कृ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है-करना। इसी प्रकार 'योग', जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर ही चुके हैं, 'युज्' धातु से निकला है जिसका अर्थ युक्ति, साधन, उपाय या जोड़ है।

गीता (२.५०) में योग को 'योगः कर्मसु कौशलम्' कह कर परिभाषित किया गया है। *गीता* (२.४८) में ही 'समत्वं योग उच्यते' कह कर भी योग की व्याख्या की गई है। इससे स्पष्ट है कि पाप-पुण्य से अलिप्त रह कर समत्व भाव से कर्म करने की विशेष युक्ति ही कर्म-कौशल है। इसी कुशलता या युक्ति से कर्म करने को गीता में योग कहा गया है। यदि हम अपने कर्मों में आसक्त न हों तो हमारी आत्मा में किसी प्रकार का बंधन नहीं पड़ सकता।

कर्म-योग बताता है कि कुशलता से, अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली से, कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्मानुष्ठान की विधि ठीक-ठीक जानने से मनुष्य को श्रेष्ठतम फल प्राप्त हो सकता है। किन्तु हमारा केवल कर्म करने का ही अधिकार है, कर्म फल में हमारा कोई अधिकार नहीं। कर्म-फलों को एक ओर कर देना चाहिए, उनकी चिंता नहीं करना चाहिए। दूसरे शब्दों में निःस्वार्थ कर्म ही हमारे आचरण का सर्वोच्च आदर्श है। *गीता*

का निम्नलिखित सुप्रसिद्ध श्लोक इसी आदर्श को भलीभांति अभिव्यक्त करता है:-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (*गीता* २.४७)

इस श्लोक में हम आचरण संबधी चार सिद्धान्त को, जो एक दूसरे से अनिवार्यतः संबंधित हैं, निहित पाते हैं। सर्वप्रथम इसमें कहा गया है *कि मात्र कर्म में ही तेरा अधिकार है।* परंतु इस पर शंका हो सकती है कि कर्म से कर्मफल सदैव ही संयुक्त होने के कारण कर्म का अधिकारी फलों का भी अधिकरी होगा। इसी शंका के निवारण हेतु दूसरे चरण में कहा गया है कि *फल में तेरा अधिकार नहीं है।* कर्मफल तो कर्म-विपाक सिद्धान्त या ईश्वर पर अवलम्बित है। अतः जिस बात में हमारा अधिकार ही नहीं है, उसके विषय में आशा करना, केवल मूर्खता का लक्षण है। इससे तीसरा सिद्धान्त निष्पन्न होता है कि *तू मन में फलाशा रखकर कर्म करने वाला मत बन* क्योंकि कर्मों के अनुसार जो फल होना होगा वही होगा। उसमें तेरी फलाशा से फलसिद्धि में कोई न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता। लेकिन इस पर यह शंका उठाई जा सकती है कि ऐसे में कर्म करके फलाशा छोड़ने के झगड़े में न पड़ कर, क्या कर्माचरण ही छोड़ देना अधिक उचित नहीं होगा? इसके निवारण हेतु अंतिम सूत्र यह बताता है कि *कर्म न करने का आग्रह तू मत कर।* स्पष्ट ही ऐसा इसलिए है कि बिना कार्य के हम एक क्षण भी नहीं रह सकते।

संक्षेप में कर्मयोग के अन्तर्गत कर्म की प्रेरणा कर्म से बाहर न होकर, उसके फल में न होकर, स्वयं कर्म ही है। दूसरे शब्दों में अनासक्ति कर्मयोग का अनिवार्य तत्त्व है, उसका आधार है।

हम आरंभ में ही यह संकेत दे चुके हैं कि कर्म-योग, जो वस्तुतः निष्काम कर्म है, निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्गों का एक सुखद समन्वय है। निवृत्ति सभी कर्मों के त्याग का मार्ग है। इसके अनुसार क्योंकि कर्म बन्धनकारक है अतः उनका सम्पूर्ण त्याग ही हमें मुक्त कर सकता है।

किन्तु यदि थोड़ा गहराई से विचार करें तो निवृत्ति असंभव है क्योंकि सभी कर्म तो छोड़े नहीं जा सकते और यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें सभी कर्मों को त्याग दिया जा सकता है तो भी कर्म छोड़ देने मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती क्योंकि यदि कामनाओं, इच्छाओं आदि में परिवर्तन नहीं हुआ तो कर्म-त्याग भी निष्फल हो जायेगा। हम कर्म भले ही न करें लेकिन लालसा बनी रहे तो मुक्ति भला क्योंकर हो सकती है। पुनः निवृत्ति मार्ग एक ऐसा मार्ग है जो गिने-चुने संत-महात्मा ही अपना सकते हैं। यह

जन-साधारण के बस का नहीं है। इसके लिए तो प्रबल इच्छा-शक्ति चाहिए। ऐसे लोग दुर्लभ हैं। यही कारण है कि अधिकांश लोग प्रवृत्ति-मार्ग ही ग्रहण करते हैं, और सबसे बड़ी बात यह है कि यदि सभी निवृत्ति-मार्ग को अपना लें तो फिर हमारे इस व्यावहारिक जगत् का क्या होगा? हमें तो वस्तुतः उस कौशल को प्राप्त करना है कि हम इस व्यावहारिक जगत् में न सिर्फ अपना अस्तित्व बनाए रखें बल्कि इसका बचाव भी कर सकें।

प्रवृत्ति मार्ग, बेशक कर्मत्याग के लिए नहीं कहता क्योंकि यह असंभव है। अतः कर्म करते हुए, इसके अनुसार, हमें मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन अपनी तमाम प्रवृत्तियों को खुला छोड़ कर यह संभव नहीं है। क्योंकि प्रवृत्ति मार्ग हमें अंततः रागात्मक प्रवृत्तियों की ओर ले जाता है और इस प्रकार मोक्ष असंभव बना देता है।

निष्काम कर्म ही वास्तव में कर्म-योग है क्योंकि यह वह कर्म है जो कामना से रहित हो। इसमें प्रवृत्ति मार्ग के अनुरूप कर्म को स्वीकार किया गया है किन्तु निवृत्ति को भी स्थान दिया गया है। यह निवृत्ति, कर्म से निवृत्ति न होकर कर्म के पीछे फलाशा की मानसिकता से निवृत्ति है।

स्वयं कर्म बन्धनकारी नहीं होता-जैसा कि निवृत्तिमार्गी सोचते हैं। *कर्म के पीछे फलाशा और आसक्ति और अहंभाव बन्धनकारी है।* यदि आसक्ति को समाप्त कर दिया जाए तो कर्म बन्धनकारी नहीं रहेगा। यह ठीक इसी तरह है कि यदि हम किसी विषैले सर्प के दांत तोड़ दें तो वह विष-रहित हो जाएगा। 'कर्मसु कौशलम्' का यही अर्थ है कि हम कर्म इस युक्ति से करें कि वह बंधनकारी न रहे।

कर्म-योग जहां एक ओर निष्काम कर्म है-उसमें फलाशा और कामना का पूर्ण त्याग है- वहीं वह अनासक्त-कर्म भी है। कर्म के प्रति आसक्ति का मुख्य कारण अहंभाव है-यह समझना है कि कर्म मैंने किया है। मैं और मेरे के इस भाव से जब तक मुक्ति नहीं मिलती कर्म बंधनकारी ही रहता है। इसीलिए कर्म-योग जहां कर्म को निष्काम भाव के करने के लिए कहता है वहीं वह कर्म से अहंभाव के त्याग की भी वकालत करता है।

प्रश्न यह उठता है कि यदि कर्म से कर्ता भाव हटा दिया जाए तो फिर वह कर्म किसका कहलाएगा। कर्म-योग इस संबंध में बिलकुल स्पष्ट है। इसके अनुसार हमें सभी कर्म ईश्वरार्पण कर देने चाहिए (कर्म योग इसी बिन्दु पर भक्ति योग से जुड़ जाता है)। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें लोक-संग्रह पर दृष्टि रखते हुए करना चाहिए। 'लोकसंग्रह-मेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि'। (*गीता*, ३-२०) यहां यह ज्ञातव्य है कि जब कर्म-योग कर्म को लोक-संग्रह (लोकहित) पर दृष्टि रखते हुए भी कर्म करने को कहता है तो इसमें

लोकसंग्रह रूपी फल प्राप्त करने की कल्पना नहीं है। इसमें केवल अहंभाव का नाश है।

भक्ति-योग

भारतीय दर्शन में जहां कर्म-योग का प्रावधान-प्रवृत्ति प्रधान पुरुषों के लिए किया गया है वहीं भक्ति-योग मुख्यतः भावना प्रधान व्यक्तियों के लिए है।

भाव अथवा प्रेम के आश्रय से सत्य का अनुसंधान ही भक्ति-योग है। भावना में ईश्वर को खोजना भक्ति-साधना है। इस खोज का आरंभ, मध्य और अंत प्रेम में होता है। जब मनुष्य इसे प्राप्त कर लेता है तो सभी उसके प्रेम पात्र बन जाते हैं। वह किसी से घृणा नहीं करता। ईश्वर के प्रति ऐकांतिक प्रेम की अभिव्यक्ति ईश्वर के निरंतर ध्यान करने में होती है। एक पतिव्रता स्त्री अपने विदेश गए पति का जिस प्रकार निरंतर ध्यान करती है, उसी प्रकार भक्ति में भी एक प्रकार से उत्कंठायुक्त निरंतर स्मृति ही लक्षित है।

उपनिषद् आर्य साधना के श्रेष्ठ अवधान हैं। इनमें किसी एक में भी 'भक्ति' शब्द का उल्लेख नहीं है। वैदिक वाङ्मय में 'भक्ति' शब्द उस अर्थ में नहीं मिलता, जिस अर्थ में वह आज प्रचलित है। यह वहां 'भाग' अर्थ में मिलता है। 'भक्ति' और 'भाग' दोनों शब्द एक ही धातु से सिद्ध होते हैं। यद्यपि दोनों शब्दों में प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं तथापि उन दोनों प्रत्ययों का अर्थ व्याकरण में एक ही माना गया है। इससे पता चलता है कि 'भक्ति' और 'भाग' शब्द समानार्थक हैं। वैदिक वाङ्मय के अनुसार यदि शब्द का अर्थ लिया जाए तो 'ईश्वर की भक्ति करो' का अर्थ होगा 'ईश्वर के भाग बनो', अर्थात् अपने को ईश्वर के अधिकार में होना, या उसका अंश होना समझो। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में इसी का अर्थ विस्तार हुआ और भक्ति शब्द का अर्थ भगवान् का प्रेम हो गया।

प्रेम के अर्थ में 'भौतिक' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कदाचित् हमें श्रीभगवदगीता में मिलता है। यहां भक्ति पद संस्कृत के 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय से बना है। प्रत्यय का अर्थ प्रेम-भाव है और धातु-भज् का अर्थ है सेवा करना, अतः 'भक्ति' का अर्थ हुआ 'प्रेम भाव से सेवा करना।'

भक्ति सूत्र के नाम से दो ग्रंथ है। एक के रचयिता देवर्षि नारद बताए जाते हैं और दूसरे के महर्षि शांडिल्य। भक्ति की संज्ञा और स्वरूप का निर्णय करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं कि भक्ति परमप्रेमस्वरूपा और अमृतस्वरूपा है। अर्थात् भगवान के प्रति

एकनिष्ठ प्रेम ही भक्ति है जो अमृतस्वरूपा है। महर्षि शांडिल्य भी ईश्वर के प्रति एकांतिक अनुराग को ही भक्ति मानते हैं-'परानुरक्तिरीश्वरे'। श्री रामनुजाचार्य कहते हैं कि एक पात्र से दूसरे पात्र में तेल डालने पर जिस प्रकार वह एक अखण्ड धारा में गिरता है उसी प्रकार किसी ध्येय वस्तु के निरंतर स्मरण अथवा ध्यान को ही भक्ति कहते हैं।

भक्तियोग उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। प्रवृत्ति में हम सर्वत्र प्रेम देखते हैं। मानव समाज में जो कुछ सुन्दर और महान है वह समस्त प्रेम-प्रसूत है। प्रेम एक त्रिकोण है जिसका प्रत्येक कोण उसके एक-एक अविभाज्य गुण का सूचक है। प्रेम रूपी त्रिकोण का पहला कोण तो यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का क्रय-विक्रय नहीं होता। जहां प्रेम के बदले कुछ प्राप्त करने की आशा रहती है वहां वास्तविक प्रेम नहीं है। प्रेम कोई पुरस्कार नहीं चाहता। यह प्रेम, प्रेम के लिए है। भगवान् के प्रति वास्तविक प्रेम भी बदले में उससे कुछ नहीं मांगता।

प्रेम का दूसरा कोण प्रेम का भय रहित होना है। भयवश भगवान् का प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है। प्रेम सभी प्रकार के भय पर विजय पा लेना है। प्रेम और भय एक साथ कभी नहीं रह सकते। प्रेम रूपी त्रिकोण में तीसरा कोण प्रेम में किसी प्रतिद्वन्द्वी का न होना है। प्रेम में प्रेमी का सर्वोच्च आदर्श मूर्त रहता है। सच्चा प्रेम तब तक नहीं होता जब तक हमारे प्रेम का पात्र हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं बन जाता। प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही ईश्वर कहते हैं।

प्रेम के अनेक रूप बताए गए हैं-शांत प्रेम, दास्य प्रेम, साख्य प्रेम, वात्सल्य प्रेम और मधुर प्रेम।

शांत प्रेम, प्रेम का निम्नतम रूप है। जब भक्त की उपासना में प्रबल प्रेम की उन्मत्तता नहीं रहती, तब वह उपासना शांत-प्रेम या शांत-भक्ति कहलाती है। शांत प्रेम धीर और नम्र होता है।

दास्य प्रेम, शांत प्रेम की अपेक्षा उच्चतर है। इस अवस्था में मनुष्य अपने को ईश्वर का दास समझता है। विश्वासी सेवक की अपने स्वामी के प्रति अनन्य भक्ति ही उसका आदर्श है।

साख्य प्रेम अगला सोपान है। यहां भगवान् भक्त का प्रिय सखा है। संगी है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र के सम्मुख अपना हृदय खोल देता है और उससे बराबरी का भाव रखता है वैसी ही मनःस्थिति साख्य प्रेम में भक्त और भगवान् के बीच निर्मित होती है।

वात्सल्य प्रेम में भगवान् का चिंतन संतान रूप में किया जाता है। यह थोड़ा अजीब लग सकता है क्योंकि प्रायः भगवान् को परमपिता के रूप में देखा जाता है, न कि संतान रूप में। पर इस प्रकार के प्रेम में ईश्वर की भावना में निहित ऐश्वर्य का भाव तिरोहित हो जाता है। ऐश्वर्य की भावना भय प्रदान करती है लेकिन जहां प्रेम है वहां भय के लिए कोई स्थान नहीं है। ईसाई और हिन्दुओं में क्रमशः बाल-ईसा और बाल-कृष्ण के प्रति भक्ति वात्सल्य प्रेम के ही रूप हैं।

प्रेम का वह सर्वोच्च दिव्य रूप जो मानवी भाव में प्रकाशित होता है उसे *मधुर-प्रेम* कहा गया है। यह श्रेष्ठतम है। दैवी प्रेम के इस मधुर भाव में भगवान् का चितंन पति के रूप में किया जाता है- इस विचार के साथ कि हम सब स्त्रियां हैं। इस संसार में केवल एक ही पुरुष है और वह ईश्वर है-यहां भगवान् प्रेमस्वरूप है।

भक्ति को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है- *स्थूल और सूक्ष्म*। पहले स्थूल भक्ति होती है और फिर उसी के बाद में *सूक्ष्म भक्ति* का उदय होता है। *भागवत* में इसी प्रकार *सगुण* और *निर्गुण* भेद से भक्ति के दो विभाग किए गए हैं। सगुणा भक्ति तामस्, राजस् और सात्विक भेद से तीन प्रकार की होती है। किन्तु *सात्विक भक्ति* उत्तमा होने पर भी सर्वोत्तमा नहीं होती। मोक्ष की कामना भी जब त्याग दी जाती है और भगवान् जब एकमात्र काम्य वस्तु रह जाते हैं-उस अवस्था को निर्गुणा भक्ति या प्रेम की अवस्था कहते हैं।

इसी प्रकार *गौणी* और *परा भक्ति* में भी भेद किया गया है। गौणी भक्ति का निम्नतर रूप है। वह कट्टरता और मतांधता से ग्रसित हो सकती है-लेकिन परा-भक्ति में मतांधता और कट्टरता की आशंका नहीं रहती। इसी परा-भक्ति से अविभूत व्यक्ति प्रेमस्वरूप भगवान् के इतने निकट पहुंच जाता है कि वह फिर किसी के प्रति भी घृणा का भाव रख ही नहीं सकता। अपरा या गौणी भक्ति में कर्म की आवश्यकता रहती है। यह भक्ति सर्वसाधारण के लिए है अतः सरल भी है। इसमें भक्त सदा भगवान् के गुणों का श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, चरणों की सेवा, उनकी अर्चना और वन्दना करता है। परा भक्ति इसकी अपेक्षा सूक्ष्म और गहन है। यह भक्ति बुद्धिजन्य होती है तथा इसमें जो प्रीति होती है वह स्वाभाविक होती है। यह केवल ज्ञानवान को ही आनन्दित कर सकती है।

भक्ति और प्रपत्ति में अंतर है। भक्ति में परम के प्रति समर्पण में मानव प्रयत्न दोनों ही सम्मिलित हैं। यह प्रयत्नरहित नहीं होती। हम अपनी सभी इच्छाओं को आग्रहपूर्वक ईश्वर को समर्पित करते हैं और फिर उसकी प्रतीक्षा करते हैं। लेकिन प्रपत्ति में प्रयत्न

अनुपस्थित है। बिल्ली अपने शिशु को मुंह में पकड़कर उसके गंतव्य तक ले जाती है। यहां शिशु को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता-यह प्रपत्ति है। किन्तु एक बन्दर को अपनी मां के पेट से चिपटना पड़ता है तभी वह अपने गंतव्य तक जा पाता है-यहां शिशु-प्रयत्न सम्मिलित है। यह भक्ति है, प्रपत्ति नहीं। भक्ति में ईश्वर की कृपा अर्जित करनी पड़ती है। प्रपत्ति में इसे अर्जित नहीं किया जाता। ईश्वर इसे निछावर कर देता है।

भक्ति ज्ञान की ओर ले जाती है। जब भक्ति विकसित होने लगती है तो ईश्वर, जो भक्त की आत्मा में निवास करता है, भक्त को अपनी कृपा से ज्ञान का प्रकाश देता है। भक्त ईश्वर से घनिष्ट एकाकार की अनुभूति करता है। वह अपने को ईश्वर में और ईश्वर को अपने में देखता है।

ज्ञान-योग

शास्त्रों में भावुकता से शून्य विचार-प्रधान व्यक्तियों के लिए ज्ञानयोग का विधान किया गया है। ज्ञान का उद्देश्य वही है जो भक्तियोग और राजयोग का है किन्तु प्रक्रिया भिन्न है। यह योग दृढ़ साधकों के लिए है, उनके लिए है जो न तो रहस्यवादी हैं न भक्तिमान हैं अपितु बौद्धिक हैं। जिस प्रकार भक्तियोगी प्रेम और भक्ति के द्वारा उस सर्वोपरि परम से पूर्ण एकता की सिद्धि का अपना मार्ग ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार ज्ञानयोगी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार का अपना मार्ग प्रशस्त करता है।

अज्ञानवश आत्मा अपने को शरीर समझ लेती है और यही बंधन का कारण है। इस नासमझी से स्वार्थ की भावना बढ़ती है और दृष्टि दूषित हो जाती है। दूषित दृष्टि से सत्य का साक्षात्कार नहीं होता। तो बंधन से मुक्त होने के लिए ज्ञान द्वारा अज्ञान को हटाना होगा, दृष्टि को शुद्ध करना होगा। इसी को 'ज्ञान-योग' कहा गया है।

ज्ञान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। एक अर्थ में तो वह आध्यात्मिक ज्ञान है जो पूर्णता का द्योतक है और दूसरे अर्थ में वह इस पूर्णता तक पहुंचने का मार्ग है। *ज्ञान इस प्रकार पूर्णता भी है और पूर्णता प्राप्ति का मार्ग भी है।* इसी कारण कुछ लोग कभी-कभी ज्ञान-योग को और मार्गों से अधिक महत्व देते हैं।

ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक तो साधारण ज्ञान और दूसरा आध्यात्मिक ज्ञान। साधारण ज्ञान बुद्धि से मिलता है। इसे विज्ञान कहा जा सकता है। इस विज्ञान से सत्य का, आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता। बौद्धिक ज्ञान वस्तुतः इन्द्रिय प्रदत्त ज्ञान है। ईश्वर से इन्द्रिय संपर्क नहीं हो सकता। इन्द्रियां तो सभी बाह्य उपाधियों पर आधारित है।

सत्य आन्तरिक ज्ञान है जिसके लिए आंतरिक, आध्यात्मिक दृष्टि चाहिए। इस दृष्टि के लिए चित्त को शुद्ध करना होगा-शरीर और इन्द्रियों को बाहर के आकर्षण से मुक्त कर एक नवीन और आंतरिक दृष्टि अपनानी होगी।

चित्त शुद्धि के लिए ज्ञानयोग में चार साधन (*साधन-चतुष्टय*) बताए गए हैं। ये चित्त शुद्धि के केवल अनुष्ठान मात्र हैं। इन चार साधनों से सम्पन्न जिज्ञासु ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो सकता है। ये वे गुण हैं जिनसे सम्पन्न होने पर ही व्यक्ति ब्रह्मज्ञान की साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है-*ये साधन चतुष्टय विवेक, वैराग्य, संपत्ति और मुमुक्षुता हैं।*

१. *विवेक* का अर्थ जिज्ञासु की यह 'अंतःप्रतीति' है कि ब्रह्म ही एक मात्र नित्य वस्तु है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब अनित्य, नाशवान और क्षणभंगुर है। नित्यानित्य वस्तु विवेक बहुत कठिन होता है। जिज्ञासु के लिए यह आवश्यक है कि वह इसे प्राप्त करे।

२. *वैराग्य* सभी भोग वासनाओं का त्याग है। यह संसार में निर्लिप्त भाव से रहना है। ठीक पद्मपत्र की तरह जिसे पानी स्पर्श नहीं करता और न ही उसे भिगो सकता है। मन को अन्य वस्तुओं से हटाकर भगवान् या आत्मा में लीन कर देना ही 'वैराग्य' है। ज्ञान-योग में वैराग्य आरम्भ से ही आवश्यक हो जाता है। जिज्ञासु को प्रारंभ से ही यह जान लेना होता है कि यह ठोस दिखनेवाली प्रकृति पूर्णतः भ्रम है, इसमें जो शक्ति की अभिव्यक्ति है वह आत्मा की ही शक्ति है, प्रकृति की नहीं। इस विचार से ही उसे प्रकृति से ऊपर उठना होता है, उसे त्यागना होता है और आत्म-पद में अवस्थित होने का प्रयत्न करना पड़ता है।

३. *संपत्ति* छः प्रकार की होती है जिससे जिज्ञासु को संपन्न होना आवश्यक है 'शम', 'दम', 'उपरति', 'तितिक्षा', 'श्रद्धा', और 'समाधान'।

'शम' का अर्थ मानसिक नियन्त्रण से है। मन को बहिर्मुख होने से रोकना 'शम' कहलाता है। और इन्द्रियों पर संयम करना, उन्हें अपने केन्द्रों में स्थिर करना और उनका बाहरी साधनों से निग्रह 'दम' है। *उपरति* का अर्थ है इन्द्रियों के विषयों का चिंतन न करना। जो ज्ञान मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है उसे इसे अपनाना होगा। 'तितिक्षा' चिंता और शोक से रहित होना है तथा विवेकपूर्वक संपूर्ण दुःखों को सहन करना है। सहिष्णुता और क्षमाशीलता का नाम ही 'तितिक्षा' है। यह इस विचार को स्वीकार करना है कि परिस्थिति कैसी भी हो उसे सहन किया जाएगा और बिना शिकायत उसे स्वीकार किया जाएगा। जिज्ञासु के लिए यह मानसिकता आवश्यक है। 'श्रद्धा' शास्त्रों और गुरुवाक्यों

में विश्वास का नाम है। श्रद्धा निष्ठा के साथ मन को एकाग्र करना है। यह तभी संभव है जब सबसे पहले व्यक्ति में स्वयं आत्मविश्वास हो। 'समाधान' अपने लक्ष्य में चित की एकाग्रता है।

४. *मुमुक्षता* साधन-चतुष्टय का चौथा सोपान है। अज्ञान-निवृत्ति और आत्मोपलब्धि की इच्छा ही मुमुक्षुता है। मुमुक्षुता मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा है। यह अज्ञान से मुक्ति और सांसारिक दुःख सुख से छुटकारा पाने की प्रबल इच्छा है। साथ ही ब्रह्मानुभूति के लिए व्याकुलता भी है। अतः मुमुक्षुत्व के बिना ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि असंभव है।

ज्ञान मार्गी की साधना दो स्तरों पर होती है। एक आरंभिक स्तर है जिसमें जिज्ञासु ज्ञानयोग का अधिकारी बनता है। साधन चतुष्टय, जिनका उल्लेख अभी किया गया, ज्ञानमार्गी की आरंभिक साधना है। जब यह पूर्ण हो जाती है तब वह अद्वैत के गहन अध्ययन में प्रवेश करता है और ज्ञान योग का अधिकारी बन जाता है। इस स्तर पर उसका लक्ष्य साक्षात् आत्मोपलब्धि अथावा ब्रह्मानुभूति होता है। आरंभिक स्तर की साधना वैराग्य के विकास हेतु होती है किन्तु साक्षात् ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसे साधना के उच्चतर स्तर पर कार्य करना होता है। साधना के इस उच्चतर स्तर के भी चार पक्ष हैं *श्रवण, मनन, निदिध्यासन* और *तत्-त्वम् पदार्थशोधनम्*।

१. *श्रवण* का अर्थ एक योग्य गुरु की सहायता से उपनिषदों का अध्ययन है। *आचार्यवान् पुरुषो वेद*। श्रवण प्रशिक्षण की परंपरा और उपदेश का स्थान परिभाषित करता है। यह इस बात को भी रेखांकित करता है कि केवल किताबी अध्ययन हमें इतना कभी प्रभावित नहीं कर सकता जितना कि उस आचार्य का व्यक्तिगत सम्पर्क प्रभावित करता है जिसने दार्शनिक आदर्श को आत्मसात् कर लिया है। लेकिन इसे धर्म-ग्रन्थों की अवमानना नहीं समझा जाना चाहिए। वस्तुतः श्रवण के दो महत्त्व हैं। एक तो यह कि उपनिषदों और वेदों के अध्ययन से हम अंतिम सत्ता के स्वरूप को समझें और दूसरे यह कि योग्य आचार्य के व्यक्तिगत संपर्क द्वारा उसे आत्मसात् करने का प्रयत्न करें, केवल ग्रन्थों का अध्ययन ही काफ़ी नहीं होता। सद्गुरु के शब्दों का श्रवण और उसके उपदेशों की आवृत्ति करते रहना भी ज़रूरी है।

२. *मनन* श्रवण को कारगर बनाता है। जो भी श्रवण किया है उस पर निरन्तर विचार करना ही मनन है। यह एक प्रकार का आत्मचिंतन है जिसमें जिज्ञासु उपनिषदों के उपदेशों को निश्चित रूप से जान लेने के पश्चात् स्वयं ही उन पर तिर्क-वितर्क करता है। इस आत्मचिंतन का उद्देश्य अपने मन में यह पुष्ट करना है कि गुरु द्वारा प्रदान

किया गया उपनिषदों का उपदेश ही एकमात्र सत्य है। मनन की प्रक्रिया सत्य की खोज नहीं है। सत्य के बारे में तो श्रवण द्वारा पता लग ही चुका है, मनन केवल उस संशय की संभावना को दूर करता है जो कभी सत्य के बारे में मन में कहीं उत्पन्न न हो जावे। मनन श्रवण को वैचारिक स्वीकृति और विश्वसनीयता प्रदान करता है। मनन इस प्रकार ब्रह्म का अनवरत चिंतन करना है। यह विचार-तत्त्व द्वारा आत्म-तत्त्व को जानना है। मनन सभी संदेहों का निराकरण करता है और ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, इस निश्चय को दृढ़ करता है।

३. *निदिध्यासन*-मैं ब्रह्मस्वरूप हूं-इस सजातीय वृत्ति (ब्रह्माकार वृत्ति) का ध्यान में अखंड प्रवाह का नाम ही 'निदिध्यासन' अथवा 'ध्यान' है।

निदिध्यासन द्वारा जिज्ञासु अपने आप से अनेकरूप विश्व के पीछे जो मूल एकता है उसे आत्मसात् करता है। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि व्यक्ति प्रत्यक्षतः तो जागतिक विविधता ही 'देखता' है। अतः इस विविधता की धारणा को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपरोक्ष रूप से विविधता के पीछे जो एकता है उसे भी उतना ही स्पष्टता से 'देख' सकें, केवल उसे मनन या श्रवण द्वारा 'जाने' ही नहीं। उपनिषदों में इसी आध्यात्मिक प्रत्यक्ष को 'दर्शन' कहा गया है- *आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः*। इसी आध्यात्मिक एकत्व पर-उसे 'देखने' के लक्ष्य से-ध्यान देना ही निदिध्यासन है। निदिध्यासन का लक्ष्य अद्वैत को 'देख पाना' है। निदिध्यासन इस प्रकार ध्यान का सर्वोच्च सोपान है। और यह एक लम्बी तैयारी और प्रयत्न के बाद ही संभव हो पाता है।

४. *तत्-त्वम् पदार्थशोधनम्*-यह वस्तुतः श्रवण, मनन और निदिध्यासन से कोई पृथक प्रक्रिया नहीं है। यह प्रक्रिया श्रवण से ही आरंभ हो जाती है और अंत में अपरोक्षानुभूति में ही इसका लय होता है। 'तत्त्वम् पदार्थ-शोधनम्' से तात्पर्य है 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' इन दो पदों के वाच्यार्थ और लक्षणार्थ का अनुसंधान। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के ज्ञानमार्ग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधना यही है। 'तत्त्वमसि' के वाच्यार्थ के त्याग, एवं लक्षणार्थ के ग्रहण, द्वारा ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति ही तत्-त्वम् शोध का विषय है।

तत्त्वमसि का अर्थ यही है कि हम अपना वास्तविक स्वरूप पहचानें। इस बहुविध जगत् में जो उस 'एक' को, इस परिवर्तनशील जगत् में जो उस अपरिवर्तनशील को, अपनी आत्मा को, आत्मा के रूप में देखता है, वही अपना वास्तविक स्वरूप समझता है-वही मुक्त है, वही आनन्दमय है। आत्मा इस जगत् का सार तत्त्व है। समस्त जीवों का केन्द्र स्थल है और वही अपने जीवन का भी सार है। तुम वही हो-तत्त्वमसि। अद्वैत

वेदान्त आज भी यह मानता है कि ऐसे अनेक ऋषि मुनि विद्यमान हैं जिन्हें एक बार तत्त्वमसि सुनने पर तत्क्षण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। क्षण मात्र में यह जगत् असार हो जाता है। किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए, जाहिर है, ज्ञान-योग की साधना से होकर गुजरना ही पड़ेगा।

पातंजल योग

(राजयोग)

कर्म, भक्ति और ज्ञान के अतिरिक्त साधना का एक राज-मार्ग भी है जिसे सबसे पहले व्यवस्थित रूप से पतंजलि ने सूत्रबद्ध किया। पतंजलि का *योगसूत्र* राजयोग का शास्त्र है और इस पर सर्वोच्च प्रमाणिक ग्रंथ है। भारतीय दर्शन के सभी संप्रदाय, भले ही उनका पतंजलि से थोड़ा-बहुत वैचारिक मतभेद हो, उनकी साधना-प्रणाली का अनुमोदन करते हैं । राजयोग वह मार्ग है जिससे हम एकाग्रता और ध्यान अर्जित करते हैं और जिसकी आवश्यकता कोई भी साधना-प्रणाली क्यों न अपनाई जाए, प्रत्येक में पड़ती है। राजयोग अंततः हमें उस समाधि की ओर ले जाता है जहां व्यक्ति अपने प्राणों को पूर्णतः नियंत्रित कर सभी बन्धनों से मुक्त होता है।

जिस प्रकार कर्मयोग विशेषकर गीता-समर्पित है और भक्तियोग का समर्थन रामानुज के विशिष्टाद्वैत में हुआ है तथा ज्ञानयोग शंकराचार्य द्वारा अद्वैत दर्शन में अपनाया गया है, उसी तरह राजयोग की दार्शनिक पृष्ठभूमि सांख्य दर्शन में है। पातंजल योग ने सांख्य दर्शन की तत्त्वमीमांसा को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है केवल वह एक ईश्वर की सत्ता में अतिरिक्त विश्वास करता है। इसीलिए कभी-कभी योगदर्शन को सेश्वर सांख्य कहा गया है।

सांख्य दर्शन का आदर्श, पुरुष का प्रकृति के बंधन से मुक्त होना है और इस प्रकार कैवल्य की स्थिति को प्राप्त करना है। इसे कभी-कभी अपवर्ग भी कहा गया है क्योंकि पुरुष इस स्थिति में दुःख के क्षेत्र से पलायन कर जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कैवल्य की स्थिति कोई आनन्द की स्थिति है। इस अवस्था में न केवल आनन्द नहीं है, बल्कि यह ज्ञानरहित भी है क्योंकि यह वह स्थिति है जिसमें ज्ञान के सभी साधनों-बुद्धि और अन्य ज्ञानेन्द्रियों आदि-से पुरुष मुक्त हो जाता है। ज्ञान के सभी साधन प्रकृति के अंग जो हैं।

कैवल्य की स्थिति को कैसे प्राप्त किया जाए, सांख्य दर्शन इस बात पर लगभग मौन है। किन्तु योगदर्शन कैवल्यावस्था को प्राप्त करने के लिए विस्तार सहित साधना

का मार्ग बताता है। सांख्यदर्शन की मूल कृति सांख्य *कारिका* में केवल इतना भर कहा गया है कि जिज्ञासु को केवल इस सत्य को ध्यान करना चाहिए कि प्रकृति और पुरुष एक दूसरे से पृथक् हैं। बाकी सब साधना संबंधी बातों की जानकारी योगदर्शन देता है।

पतंजलि का *योगसूत्र* चार भागों में विभाजित है। प्रथम भाग समाधिपाद है जिसमें समाधि का स्वभाव और लक्ष्य निर्धारित किया गया है। दूसरा भाग साधनापाद है जो इस लक्ष्य को प्राप्त करने की विधि बताता है। तीसरा, विभूतिपाद उन अति प्राकृतिक शक्तियों के बारे में बताता है जो योग के द्वारा अर्जित की जा सकती हैं। चौथा भाग कैवल्यपाद है जो मुक्ति के स्वभाव पर प्रकाश डालता है।

पातंजल-योग को जैसा कि हम बता आए हैं राज-योग भी कहा गया है। इस योग की परिभाषा चित्त की वृत्तियों के निरोध के अर्थ में दी गई है-*योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः*। चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में होता है जिसे योग भी कहा गया है-*योगः समाधिः*।

चित्त से अर्थ तीन आन्तरिक इन्द्रियों से है-बुद्धि, अहंकार और मन। चित्त प्रकृति का प्रथम विकासज है और इसमें सत्वगुण की प्रधानता है। यह स्वयं अचेतन है लेकिन इसमें वह शक्ति है कि पुरुष इसमें प्रतिबिंबित होता है और यह इसलिए चेतन जैसा प्रतीत होता है। जब यह किसी विषय से संबंधित होता है तो उसी का आकार ग्रहण कर लेता है । यही विषयाकार वृत्ति कहलाती है।

पुरुष वस्तुतः शुद्ध अनुभवातीत चेतना है। चित्त में प्रतिबिंबित पुरुष जीव है और यही जीव जन्म और मरण लेता है और दुःख-सुख के अनुभवों से गुज़रता है तथा स्वयं को भोक्ता समझता है। मानसिक वृत्तियों से स्वयं को एकात्म कर लेना ही पुरुष (आत्मा) की भूल है और यह भूल तभी सुधारी जा सकती है जब पुरुष और प्रकृति में उचित विवेक पैदा किया जा सके। इस विवेक से ही वृत्तियों का निरोध हो सकता है। योग का यही लक्ष्य है।

चित्त के अनेक स्तर हैं। इन्हें चित्तभूमियां कहा गया है। चित्तभूमियों में अंतर विभिन्न गुणों के प्रभुत्व के कारण होता है। चित्त की १. निम्नतम भूमि (या स्तर) 'क्षिप्त' कहलाती है। 'क्षिप्त' अवस्था में रजस् गुण की प्रधानता होती है इसलिए चित्त इस अवस्था में टिकता नहीं, एकाग्र नहीं हो पाता। यह एक विषय से दूसरे विषय पर भटकता रहता है। यह अवस्था योग में साधक नहीं हो सकती क्योंकि योग में तो एकाग्रता और ध्यान की आवश्यकता होती है।

२. *प्रमूढ़ या मोह* की स्थिति क्षिप्तावस्था के ठीक विपरीत है। इसमें तमस् गुणों का प्रधान्य रहता है। यह आलस्य और किंकर्तव्यविमूढ़ की दशा है। इस अवस्था में मनुष्य न कुछ कर पाता है न ठीक सोच पाता है। वह जड़-वत् हो जाता है। ज़ाहिर है यह चित्तभूमि भी योग में सहायक नहीं हो सकती।

३. *विक्षिप्त* अवस्था क्षिप्त और मूढ़ के बीच की अवस्था है। इसमें सत्त्व गुण तो है लेकिन रजस् का अंश भी है। इस स्थिति में कुछ देर तक तो ध्यान दिया जा सकता लेकिन रजस् अंश के कारण ध्यान बंट जाता है। इसीलिए यह अवस्था भी योग के लिए सहायक नहीं है।

विक्षिप्त अवस्था बेचैनी की अवस्था नहीं है। यह विशेष रूप से क्षिप्त स्थिति नहीं है जैसा कि क्षिप्त के साथ 'वि' प्रत्यय से संकेत होता है। वस्तुतः यह क्षिप्त अवस्था से बेहतर स्थिति है-इसीलिए इसे 'विक्षिप्त' कहा गया है। क्षिप्त अवस्था में यदि रजस् का प्राधान्य होता है तो विक्षिप्त अवस्था में सत्त्व गुण का प्राधान्य है।

४. *एकाग्र* अगली चित्त-भूमि है। यहां चित्त पूरी तरह से सत्त्व गुण के प्रभाव में होता है। रजस् और तमस् मंद पड़ जाते हैं। ध्यान की वस्तु पर मन एकाग्र हो जाता है। मन केन्द्रित करने के लिए यह एक अनिवार्य अवस्था है। योग में एकाग्रावस्था बहुत सहायक होती है।

५. *निरुद्ध* चित्त की पांचवी सर्वोत्तम भूमि है। इस अवस्था में चित्तवृत्तियों का पूरी तरह निरुद्ध कर दिया जाता है एकाग्र से पता चलता है कि मनुष्य ध्यान केन्द्रित कर सकता है। निरुद्ध में अन्य वस्तुओं से ध्यान हटाकर किस वस्तु पर उसे केन्द्रित किया जाए उसका चयन हो जाता है। चित्त के प्रथम चार रूप साधारण स्तर हैं किन्तु निरुद्धावस्था एक असाधारण स्थिति है। योगी मन को इसी स्थिति में लाना चाहता है क्योंकि तभी पूर्ण ध्यान और समाधि संभव है।

अष्टांग-योग

राजयोग शरीर, मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण की वकालत करता है। यह मन या शरीर को मारना नहीं चाहता बल्कि उसे पूर्णता तक पहुंचाना चाहता है। एक स्वस्थ मन एक स्वस्थ शरीर में ही रह सकता है। विषयों से आसक्ति मन और शरीर दोनों को ही विचलित करती है। इस पर विजय पाना होगा। और इसके लिए योग ने अनुशासन का एक अष्टांगमार्ग निर्धारित किया है। ये योग के आठ साधन हैं जिन्हें अष्टांग-योग या *योगांग* भी कहा गया है। ये *यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।*

१-२ यम-नियम— यम का अर्थ है नियंत्रण। नियंत्रण के ये नियम मुख्यतः निषेधात्मक हैं। ये यह बताते हैं कि हमें क्या नहीं करना चाहिए। हमें सर्वप्रथम हिंसा नहीं करना चाहिए (*अहिंसा*) सत्य बोलना चाहिए (*सत्य*) दूसरों की वस्तुओं और संपत्ति की चोरी नहीं करना चाहिए (*अस्तेय*) कामनाओं पर रोक लगानी चाहिए *(ब्रह्मचर्य)* और संग्रह नहीं करना चाहिए (*अपरिग्रह*)। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य- ये पांच व्रत हैं (पंचव्रत) जो यम के अन्तर्गत आते हैं। मन, वचन, कर्म से इन व्रतों का पालन ही 'यम' है। इनके पालन से बुरी प्रवृत्तियाँ- ईर्ष्या, द्वेष, लालच, मोह, काम आदि नियंत्रित हो जाते हैं और जिज्ञासु योग मार्ग पर अग्रसर होने लगता है।

यम जहाँ मुख्य रूप से निषेधात्मक नियम है, नियम भावात्मक सद्गुणों की ओर संकेत करते हैं। ये भी पांच हैं। *शौच* (बाह्य और आंतरिक शुद्धि), *संतोष, तपस्, स्वाध्याय* और *ईश्वरप्रणिधान*। शौच से अर्थ केवल शरीरिक शुद्धि से ही नहीं है बल्कि मानसिक शुद्धि से भी है। मन में अच्छे विचारों का उदय होना भी मानसिक शुद्धि प्रदान करता है-मैत्री, मुदिता और करुणा जैसे गुणों का विकास किया जाना चाहिए। संतोष इसलिए आवश्यक है कि हमारी इच्छाओं का कोई अंत नहीं होता। तपस् सहने की प्रबल शक्ति है। कठिन से कठिन अनुशासन का पालन करना ही तप है। स्वाध्याय से तात्पर्य न केवल धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन है बल्कि आचार्यों और ऋषि-मुनियों के उपदेशों का पालन भी है। ईश्वरप्रणिधान, ईश्वर में श्रद्धा और विश्वास है। योगदर्शन ईश्वर को सर्वोच्च पुरुष के रूप में ग्रहण करता है और ईश्वर की कृपा के बिना शारीरिक-मानसिक नियंत्रण असंभव मानता है। योग के लिए जहाँ नैतिक और मानसिक नियंत्रण आवश्यक है, ईश्वर की अनुकंपा भी उतना ही आवयश्क है। अतः ईश्वरप्रणिधान का नियम। योग के अनुसार पांच-यम और पांच-नियमों से जो लाभ प्राप्त होते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं :-

१. अहिंसा से विद्वेष का नाश होता है।

२. सत्य से कर्म के परिणामों पर अधिकार हो जाता है।

३. अस्तेय से सभी रत्न प्राप्त हो जाते हैं।

४. ब्रह्मचर्य से बल प्राप्त होता है।

५. अपरिग्रह से जन्मों का रहस्य पता चलता है।

६. बाह्य शौच से जहां शरीर स्वच्छ होता है वहीं मानसिक शौच, दयालुता, प्रसन्नता

और सहानुभूति इत्यादि गुणों को विकसित करता है।

७. संतोष से सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है।

८. तपस् से अशुद्धियां दूर होती हैं, शरीर और इन्द्रियों को बल मिलता है।

९. स्वाध्याय से दिव्य पुरुषों से संपर्क होता है और

१०. ईश्वरप्रणिधान से धारणा शक्ति विकसित होती है।

३. *आसन*- योग का, यम और नियम के बाद, आसन तीसरा अंग है। योग में मन के साथ-साथ शरीर को भी समान महत्त्व दिया गया है। आसन ध्यान केन्द्रित करने के लिए शारीरिक रूप से सहायता पहुंचाता है। आसन का सामान्य अर्थ है बैठना। जाहिर है हम दौड़ते हुए या सोते हुए ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकते। अतः आसन आवश्यक है। ध्यान के लिए एक सुविधाजनक मुद्रा या शारीरिक स्थिति में अवस्थित होना ही आसन है। आसन विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। योगीगण अपनी-अपनी सुविधा और इच्छा के अनुसार ध्यान के लिए भिन्न-भिन्न आसन अपनाते हैं। हम कोई भी आसन क्यों न अपनाएं, वह सुखकर, सुविधाजनक और स्थिर होना चाहिए। आसन हमारे शरीर को नियंत्रित करता है। पतंजलि ने शरीर को विकार और व्याधियों से बचाने के लिए आसन बताए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि योग शारीरिक अनुशासन पर बल देता है किन्तु शरीर को मारता नहीं। विषयों से बचना शारीरिक हनन नहीं है। इस संबंध में बड़ी ग़लतफ़हमी है। योग के अनुसार शरीर की पूर्णता उसके लावण्य और रूप में है, उसके वज्र की तरह कठोर होने में है और उसके बल में है। सही आसन शरीर को उसकी पूर्णता में ले जाता है।

४. *प्राणायाम*- आयाम का अर्थ है बढ़ाना। अतः प्राणायाम का शब्दार्थ है वह क्रिया जिससे जीवन या प्राण की वृद्धि हो। योगदर्शन में प्राणायाम का अर्थ श्वास क्रिया पर नियंत्रण लाना है। योग में इस पर काफी आग्रह है किन्तु स्वयं पतंजलि ने प्राणायाम को योग के लिए अनिवार्य नहीं माना है। प्राणायाम का महत्त्व विशेषकर हठ योग में अधिक है।

स्वास्थ्य के लिए श्वास-संबंधी व्यायामों का महत्त्व निर्विवाद है। प्राणायाम हमारे मन को स्थिर करता है, शरीर को दृढ़ता प्रदान करता है, चित्त-वृत्तियों के निरोध में सहायक होता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म शारीरिक क्षमताओं और शक्तियों के प्रति जागरूक बनाता है और उन पर नियंत्रण को संभव बनाता है।

प्राणायाम श्वास खींचने, उसे रोके रखने और उसे छोड़ने की प्रक्रियाओं को नियमित करता है। श्वास नियंत्रण के तीन अंग हैं पूरक, कुंभक और रेचक। पूरक में पूरी की पूरी श्वास भीतर खींच ली जाती है। कुंभक इस भीतर खींची हुई श्वास को रखना है। और रेचक नियमित विधि से श्वास छोड़ना है। प्राणायाम की क्रियाएं किसी प्रशिक्षित आचार्य के निर्देशन में ही संपन्न करनी चाहिए अथवा इससे हानि भी हो सकती है।

५. *प्रत्याहार*- प्राणायाम यदि श्वास-नियंत्रण है तो प्रत्याहार इन्द्रिय-निग्रह है। प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ है खींच लेना। योग की इस प्रक्रिया में इन्द्रियों के वस्तुओं की ओर अधिगमन को खींच लिया जाता है और उन्हें इस प्रकार वस्तु-संसर्ग से बचाया जाता है। इससे मन वश में हो जाता है। इन्द्रियों की यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे बाह्य विषयों की ओर आकर्षित हों। इस वृत्ति पर रोक लगाकर उन्हें अंतर्मुखी करना और आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अभिमुख करना ही प्रत्याहार है। वह जिसे आधुनिक मनोविज्ञान में अंतर्मुखता कहा गया है, प्रत्याहार है। यह मन में बाह्य संस्कारों और छाप के प्रवेश को पूरी तरह रोक देना है। स्पष्ट ही यह कार्य कठिन है, किन्तु असंभव नहीं। इसके लिए प्रयत्न और अभ्यास की आवश्यकता है। दृढ़ संकल्प की ज़रूरत है।

उपरोक्त पांच योगांग योग की बहिरंग साधना के अंतर्गत आते हैं। शेष तीन- ध्यान, धारणा और समाधि-योग की अंतरंग साधना के अंग है। इसे यों भी कह सकते हैं कि प्रथम पांच योग के सहायक अंग हैं तथा अंतिम तीन योग के संघटक अंग हैं। इन्हें संयम भी कहा गया है। धारणा, ध्यान और समाधि वस्तुतः एक ही प्रक्रिया के तीन सोपान हैं। धारणा से आरंभ करके, हम समाधि तक ध्यान से होते हुए पहुंचते हैं।

६. *धारणा*-चित्त को एक विशेष बिन्दु पर एकाग्र करना है। मन की एकाग्रता का नाम ही 'धारणा' है। हमारे सामान्य जीवन में विचार आते हैं और चले जाते हैं। हम उन पर केवल कुछ क्षणों के लिए ही एकाग्रचित्त हो पाते हैं। धारणा में किसी एक वस्तु पर चित्त को लगा देना होता है। यह वस्तु कोई बाह्य पदार्थ भी हो सकता है, जैसे सूर्य या किसी देवता की प्रतिमा, अथवा अपने शरीर का कोई स्थल भी, जैसे नाभि या भौहों के मध्य का भाग अथवा हृदयस्थल। चित्त को इस प्रकार जब किसी विषय पर एकाग्र करने का अभ्यास हो जाता है तो हमें योग की वास्तविक कुंजी मिल जाती है। इसे सिद्ध करने वाला समाधि अवस्था पर पहुंच जाता है। धारणा, ध्यान के लिए एक अभ्यास है।

७. *ध्यान-* ध्यान की क्रिया एक प्रकार से धारणा से ही आरंभ हो जाती है। अभ्यास द्वारा ध्यान होने लगता है। ध्यान का अर्थ है बिना रोकथाम के, बिना किसी विकर्षण के, एक लंबी अवधि तक किसी एक वस्तु पर ध्यान बनाए रखना। ध्येय विषय पर निरन्तर मनन करना ही ध्यान है- *तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्*। यह इच्छित विषय पर विचार का अनवच्छिन्न प्रवाह है। ध्यान से विषय का सुस्पष्ट ज्ञान होता है। पहले भिन्न-भिन्न अंशों या स्वरूपों का बोध होता है। तदनन्तर अविराम ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण चित्र आ जाता है और वस्तु का पूर्ण दर्शन हो जाता है। ध्यान से इस प्रकार ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है।

जब एक बर्तन से दूसरे बर्तन में तेल उड़ेला जा रहा होता है तो तेल के प्रवाह में कोई व्यवधान नहीं होता, उसी प्रकार ध्यान की अवस्था में ध्यान ध्येय वस्तु पर बिना व्यवधान लगा रहता है।

ध्यान की परिणति समाधि में होती है। समाधि की अवस्था में व्यक्ति की अपनी पहचान खो जाती है। मन और शरीर बाह्य संस्कारों से पूरी तरह कट जाते हैं और केवल ध्येय वस्तु ही, वह कोई भी क्यों न हो, बचे रहते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि जब एक ही वस्तु पर निर्दिष्ट होते हैं तो इसे ही संयम कहते हैं। जब यह संयम बाह्य या आंतरिक विषयों की ओर अग्रसर होता है तो असाधारण शक्तियां फलीभूत होती हैं- जैसे बंद दरवाजों के आरपार देख पाना, दृश्य से गायब हो जाना, दूसरे लोगों के विचारों को पढ़ लेना, इत्यादि। मुक्ति का जिज्ञासु अक्सर इन विभूतियों में उलझ जाता है और अपना आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाता। ऊपर उठ पाने के लिए उसे इस लालच से बचना होता है।

८. *समाधि-* मुक्ति से ठीक पहले की अवस्था समाधि है। योगदर्शन इस बात पर आग्रहशील है कि मुक्ति समाधि के द्वारा ही हो-*योगः समाधिः*। समाधि आनंदातिरेक की वह अवस्था है जिसमें मुमुक्षु का बाह्य जगत् से पूरी तरह से नाता समाप्त हो जाता है। योगसाधना का यही लक्ष्य है क्योंकि इससे आत्मा देश-काल का संक्रमण करके अपने सहज, शाश्वत और पूर्ण रूप में आ जाती है। पुरुष अपनी नित्य स्थिति में पहुंच जाता है।

समाधि दो प्रकार की होती है *संप्रज्ञात* और *असंप्रज्ञात*। *संप्रज्ञात समाधि में मन ध्यान के विषय पर एकाग्र बना रहता है* हालांकि ध्याता और ध्यान का विषय दोनों इसमें एक हो जाते हैं। असंप्रज्ञात में ध्येय विषय लुप्त हो जाता है। संप्रज्ञात समाधि एकाग्र

है जबकि असंप्रज्ञात एकाग्र न होकर निरुद्ध है।

संप्रज्ञात समाधि के चार प्रकार हैं-(१) *सवितर्क*-इसमें चित्त ध्यान के किसी स्थूल विषय पर एकाग्र होता है, जैसे नासिका के अग्र भाग पर अथवा भौहों के मध्य में। (२)*सविचार*- इसमें चित्त किसी सूक्ष्म वस्तु पर एकाग्र होता है, जैसे तन्मात्र। (३) *सानन्द*- इसमें चित्त और भी सूक्ष्म विषय पर, जिससे आनन्द प्राप्त हो सके, एकाग्र होता है। तथा (४) *सास्मिता*- इसमें चित्त अहंकार पर एकाग्र होता है जिसे आत्मा से अलग नहीं समझा जाता। यहां चेतनानन्द है और व्यक्तित्व भी बना रहता है।

असंप्रज्ञात समाधि-में ध्यान का विषय लुप्त हो जाता है। यह ध्यान की अति चेतन अवस्था है जहां ध्यान करने वाला और ध्यान का विषय, ये दोनों एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं और ध्येय विषय की अलग से कोई चेतना नहीं रहती। इस अवस्था में कोई नई-चित्तवृत्ति उदय नहीं होती। वे सभी निरुद्ध हो जाती हैं हालांकि पुराने संस्कार बने रहते हैं। जिस तरह यदि आग को किसी एक ईंधन तक सीमित कर दिया जाए तो वह ईंधन को पूरी तरह जला देती है और साथ ही साथ खुद भी समाप्त हो जाती है। इसी तरह असंप्रज्ञात समाधि में विषय और विषयी दोनों की ही पहचान लुप्त हो जाती है। यह योग का सर्वोच्च शिखर है।

समत्वयोग (सामायिक)

मूल्योपलब्धि के लिए साधना की आवश्यकता होती है। इस साधना के अनेक मार्ग हैं। हमारा जो लक्ष्य या प्रयोजन है। हमें उसी के अनुसार अपना मार्ग भी सुनिश्चित करना होता है। हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि भारतीय मूल्य-दर्शन में सर्वोच्च मूल्य मोक्ष माना गया है और इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए एक कठिन साधना की आवश्यकता है जिसका संकेत पंचव्रत देते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य मनोगठन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का- जिन्हें 'योग' कहा है- भी विधान किया गया है। इन मार्गों की चर्चा हम इस अध्याय के पिछले खंडों में कर चुके हैं। इस खंड में हम जैन दर्शन की एक विशिष्ट अवधारणा-जिसे वस्तुतः हम जैन दर्शन का सर्वोच्च मूल्य भी कह सकते है- का उल्लेख करना चाहते हैं। यह अवधारणा है, समत्व की।

जैन-दर्शन में 'समत्व' मूल्य भी है और इस मूल्य को प्राप्त करने की साधना भी है। इसका संकेत हमें, जैसा कि हम पहले भी बता चुके है, भगवान महावीर और उनके शिष्य गौतम के बीच हुए संवाद में मिलता है। गौतम पूछते हैं- भगवन, आत्मा क्या

है और आत्मा का अर्थ, या साध्य, क्या है? महावीर उत्तर देते हैं-गौतम, आत्मा का स्वरूप 'समत्व' है और समत्व को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।[1]

यह एक छोटा सा प्रकरण है किन्तु बहुत ही सार गर्भित है 'समत्व' का अर्थ सामान्यतः 'समानता' या 'बराबरी' से लगाया जाता है। समत्व प्राप्त कर लेना ही यदि आत्मा का लक्ष्य है तो सहज ही यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि आत्मा आखिर अपनी बराबरी किससे करना चाहती है? जैन दर्शन एक नास्तिक दर्शन केवल इस पारिभाषिक अर्थ में ही नहीं है कि वह वेदों को अस्वीकार करता है, बल्कि सामान्य अर्थ में भी वह नास्तिक ही है क्योंकि वह भगवान के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता। यदि भगवान होता तो मनुष्य अपनी 'बराबरी' भगवान से कर सकता था और इसी में उसकी समत्व-साधना होती। किन्तु जैन दर्शन में पुरुष का पुरुषोत्तम के बराबर होना समत्व नहीं है। हो भी नहीं सकता क्योंकि यहाँ पुरुष से अलग कोई पुरुषोत्तम है ही नहीं।

ऐसे में आत्मा का स्वरूप और साध्य 'समत्व' है, इसका क्या अर्थ है? इसका वास्तविक अर्थ यह है कि सतत् शारीरिक और प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण आत्मा ने अपनी स्वयं की 'आत्मगत' पहचान खो दी है और वह 'स्व' की बजाय 'पर' से अपना तादात्म्य स्थापित करने लगी है। वह पर-पदार्थों में ममत्व का आरोपण कर उनमें अपनी पहचान खोजने की कोशिश करती है। किन्तु आत्मा 'पर' से नहीं 'स्व' से ही जानी जा सकती है। आत्मा को अपनी सही पहचान के लिए 'स्व'- केन्द्र में, अपने केंद्र में, आना है- अपने काय में ही प्रतिष्ठित होना है। यही वास्तविक समत्व है। समत्व आत्मा का आत्मा में प्रतिष्ठित होना है। यह आत्मा का आत्मा से तादात्म्य है, आत्मा की, आत्मा की तरह पहचान है और यह पहचान तभी प्राप्त हो सकती है जब आत्मा स्वयं को 'पर' से अलग कर उसमें (पर में) अपना ममत्व न रखे। अपनी पहचान 'पर' से न बनाए। किन्तु विडम्बना यह है कि व्यक्ति- शरीर, परिवार और संसार के अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व रखने के कारण- स्वयं को इन्हीं सब वस्तुओं से संपृक्त कर लेता है तथा उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति या संयोग-वियोग में अपने को सुखी या दुःखी मानता है।

व्यक्ति की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि वह बाह्य जगत में रस लेने के लिए, जैसे ही उसमें अपना आरोपण करता है- बाह्य जगत् उसके लिए 'स्व' बन जाता है जो कि वह हो नहीं सकता। न तो 'स्व' कभी 'पर' बनाया जा सकता है और न ही 'पर' कभी 'स्व' हो सकता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि जीव स्वयं अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित हो, न कि 'अनात्मा' या 'पर' में अपनी पहचान ढूँढे। समत्व की

वास्तविक साधना यही है। समत्व इस अर्थ में 'आत्म-तादात्म्य' है- स्वयं अपनी आत्मा से तादात्म्य बनाए रखना ही 'समत्व' है।

समत्व के लिए इसी साधना को समत्व-योग कहा जा सकता है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'सामायिक' कहा गया है। सामायिक शब्द 'समृ' उपसर्ग पूर्वक 'अय्' धातु से बना है।[२] 'अय' के तीन अर्थ हैं- ज्ञान, गमन (आचरण, क्रिया) और प्रापण (प्राप्ति, उपलब्धि) समृ उपसर्ग इन तीनों की उचितता का बोध कराता है। सामायिक का अर्थ इस प्रकार सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र और सम्यग् प्राप्ति से है। प्रकारान्तर से कहें तो सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र द्वारा ही समत्व-प्राप्ति संभव है। 'समत्व' इस प्रकार मूल्य भी है और मूल्य-साधना भी।

जैन दर्शन में 'श्रमण' उसी को माना गया है जिसमें समत्व है- "समयाए समणो होइ"[३] और समता, मध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्वभाव आराधना- ये सभी एकार्थक शब्द हैं।[४] आत्मा को आत्मा के रूप में जानते हुए जो राग द्वेष में समभाव रखता है, वही श्रमण पूज्य माना गया है।[५] ऐसा साधु ममत्वरहित, निरहंकारी और निस्संग, होता है और त्रस तथा स्थावर जीवों के प्रति समदृष्टि (समो य सव्वभूएसु) रखता है।[६] वह लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निंदा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समभाव रखता है।[७] इस प्रकार तिनके और सोने में, शत्रु और मित्र में समभाव रखना ही सामायिक है। सामायिक निरभिष्वंग (अनासक्त) होना है और चित्त की प्रवृत्तियों को उचित दिशा देना है।[८] सामायिक मौन होकर (वचन-उच्चारण की क्रिया का परित्याग करके) वीतरागभाव आत्मा का ध्यान है।[९]

उपरोक्त विवरणों से स्पष्ट है कि समत्व-प्राप्ति के लिए ध्यान-रूप होना आवश्यक है। समत्व-योग का साधक राग-द्वेष में समभाव रखते हुए, सभी जीवों के प्रति समदृष्टि बनाए रखता है। वह व्यवहार में दुःख सुख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर, ध्यान को आत्मा में केन्द्रित करता है। वह चित्त वृत्तियों को उचित दिशा देता है वीतरागता का विकास करता है। संक्षेप में समत्व-योग से आशय यही है कि व्यक्ति शरीर व मन से अपना तादात्म्य धीरे-धीरे कम करते हुए, आत्मा में ही प्रतिष्ठित हो जाए। इसके लिए एकाग्रचित्त से नियमित ध्यान करना आवश्यक है। ध्यान के द्वारा ही आत्मा की अनुभूति संभव हो सकती है।[१०]

समत्व प्राप्ति के लिए चारित्रशुद्धि आवश्यक है और चारित्रशुद्धि के लिए संयम

अनिवार्य है। इन दोनों की प्राप्ति ध्यानाभ्यास के द्वारा संभव है। राग-द्वेष, विषयासक्ति मनुष्य को अपने लक्ष्य से स्खलित करते हैं लेकिन ध्यानाभ्यास से साधक इष्ट-अनिष्ट विषयों के राग-द्वेष, और मोह से रहित हो जाता है।

तत्त्वानुशासन में कहा गया है कि चित्त को एकाग्र करके उसे विचलित न होने देना ही ध्यान है।[११] लेकिन चित्त को शुभ और अशुभ दोनों पर ही केंद्रित किया जा सकता है। अतः जैन परंपरा में ध्यान की प्रकृति के अनुसार इसके दो भेद किए गए हैं। प्रशस्त ध्यान और अप्रशस्त ध्यान।[१२] जो शुभ परिणामों के लिए तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप-चिंतन से उत्पन्न होता है, वह प्रशस्त ध्यान कहलाता है। यह ध्यान पुण्यरूप आशय के वश से तथा शुभलेश्या के आलम्बन से उत्पन्न होता है। अशुभ परिणामों की पूर्ति हेतु, मोह-मिथ्यात्वकषाय और तत्त्वों के अयथार्थ रूप विश्रम से उत्पन्न ध्यान अप्रशस्त कोटि में आता है। प्रशस्त ध्यान और मोक्ष प्राप्ति में सहायक माना जाता है। इसकी साधना से मनुष्य आत्मानुभूति के रहस्य को प्राप्त कर सकता है। यही ध्यान का उत्स है। समत्व लाभ के लिए प्रशस्त ध्यान की साधना का विधान किया गया है।

प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान के भी दो-दो उपविभाग किए गए हैं। प्रशस्त के दो उपभेद-धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं। इसी प्रकार अप्रशस्त के दो उपभेद-आर्त्त और रौद्र ध्यान है।[१३] आर्त्तध्यान दुःख के निमित्त से होता है जबकि रौद्रध्यान कुटिल भावों के चिंतन से प्रारंभ होता है। इन दोनों ध्यानों से विरत रहना चाहिए। धर्मध्यान श्रुत, चारित्र एवं धर्म से युक्त ध्यान है, जबकि शुक्ल ध्यान निष्क्रिय, इन्द्रियातीत और ध्यान की धारणा से रहित ध्यान की अवस्था है।[१४] ऐसी अवस्था में पहुँचकर ही व्यक्ति समत्व की स्थिति में प्रतिष्ठित हो पाता है।

क्या समत्व साधना केवल एक आध्यात्मिक साधना मात्र है जिससे कि व्यक्ति 'पर' से अपने तादात्म्य को धीरे-धीरे समाप्त कर, स्वयं को 'स्व' में प्रतिष्ठित करता है? अथवा इसका कोई व्यवहार पक्ष भी है? समत्व के व्यवहार पक्ष पर प्रकाश डालते हुए डा० सागरमल जैन ने इसकी एक सुन्दर व्याख्या की है जिसे हम पूर्णतः उद्धरित करना चाहेंगे।[१५]

"समत्वयोग का तात्पर्य चेतना का संघर्ष या द्वन्द्व से ऊपर उठ जाना है। वह निराकुल, निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प दशा का सूचक है। समत्व-योग जीवन के विविध पक्षों में एक ऐसा सांग सन्तुलन है जिसमें न केवल चैतसिक एवं वैयक्तिक जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं, वरन् सामाजिक जीवन के संघर्ष भी समाप्त हो जाते हैं, शर्त यह है कि

समाज के सभी सदस्य उसकी साधना में प्रयत्नशील हों।

"समत्वयोग में इन्द्रियाँ अपना कार्य तो करती हैं, लेकिन उनमें भोगासक्ति नहीं होती है और न इन्द्रियों के विषयों की अनुभूति चेतना में राग और द्वेष को जन्म देती है। चिन्तन तो होता है, किन्तु उससे पक्षपात और वैचारिक दुराग्रहों का निर्माण नहीं होता। मन अपना कार्य तो करता है, लेकिन वह चेतना के सम्मुख जिसे प्रस्तुत करता है, उसे रंगीन नहीं बनाता है। आत्मा विशुद्ध द्रष्टा होता है जीवन के सभी पक्ष अपना-अपना कार्य विशुद्ध रूप में बिना किसी संघर्ष के करते हैं।

"मनुष्य का अपने परिवेश के साथ जो संघर्ष है, उसके कारण के रूप में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी प्रमुख नहीं है जितनी कि व्यक्ति की भोगासक्ति। संघर्ष की तीव्रता आसक्ति की तीव्रता के साथ बढ़ती जाती है। प्रकृति-जीवन जीना न तो इतना जटिल है और न इतना संघर्षपूर्ण ही। व्यक्ति का आन्तरिक संघर्ष जो उसकी विभिन्न आकांक्षाओं और वासनाओं के कारण होता है उसके पीछे भी व्यक्ति की तृष्णा या आसक्ति ही प्रमुख है।

"इसी प्रकार वैचारिक जगत् का सारा संघर्ष आग्रह, पक्ष या दृष्टि के कारण है। वाद, पक्ष या दृष्टि एक ओर सत्य को सीमित करती है, दूसरी ओर आग्रह से सत्य के अन्य अनन्त पहलू आवृत रह जाते हैं। भोगासक्ति स्वार्थों की संकीर्णता को जन्म देती है और आग्रहवृत्ति वैचारिक संकीर्णता को जन्म देती है। संकीर्णता चाहे वह हितों की हो या विचारों की, संघर्ष को जन्म देती है। समस्त सामाजिक संघर्षों के मूल में यही हितों की या विचारों की संकीर्णता काम कर रही है।

"जब आसक्ति, लोभ या राग के रूप में पक्ष उपस्थित होता है तो द्वेष या घृणा के रूप में प्रतिपक्ष भी उपस्थित हो जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष की यह उपस्थिति आंतरिक संघर्ष का कारण होती है। समत्वयोग राग और द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठाकर वीतरागता की ओर ले जाता है। वह आन्तरिक सन्तुलन है। व्यक्ति के लिए यह आन्तरिक सन्तुलन ही प्रमुख है। आन्तरिक सन्तुलन की उपस्थिति में बाह्य जागतिक विक्षोभ विचलित नहीं कर सकते हैं।

"जब व्यक्ति आन्तरिक सन्तुलन से युक्त होता है तो उसके आचार-विचार और व्यवहार में भी वह सन्तुलन प्रकट होता है। उसका कोई भी व्यवहार या आचार बाह्य असन्तुलन का कारण नहीं बनता है। आचार और विचार हमारे मन के बाह्य प्रकटन हैं, व्यक्ति के मानस का बाह्य जगत् में प्रतिबिम्ब हैं। जिसमें आन्तरिक सन्तुलन या समत्व

है, उसके आचार और विचार भी समत्वपूर्ण होते हैं। इतना ही नहीं, वह विश्व-व्यवहार में एक सांग सन्तुलन स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील होता है, उसका सन्तुलित व्यक्तित्व विश्व-व्यवहार को प्रभावित भी करता है एवं उसके द्वारा सामाजिक जीवन का निर्माण भी हो सकता है। फिर भी सामाजिक जीवन में ऐसा व्यक्तित्व एक मात्र कारक नहीं होता, अतः उसके प्रयास सदैव ही सफल हों यह अनिवार्य नहीं है। सामाजिक समत्व की संस्थापना समत्वयोग का साध्य तो है, लेकिन उसकी सिद्धि वैयक्तिक समत्व पर नहीं वरन् समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक प्रयत्नों पर निर्भर है। फिर भी समत्व योगी के व्यवहार से न तो सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होता है और न बाह्य संघर्षों, क्षुब्धताओं और कठिनाइयों से वह अपने मानस को विचलित होने देता है। समत्वयोग का मूल केन्द्र आन्तरिक संतुलन या समत्व है, जो कि राग और द्वेष के प्रहाण से उपलब्ध होता है।

"समत्व योग भारतीय साधना का केन्द्रीय तत्त्व है लेकिन इस समत्व की उपलब्धि कैसे हो सकती है यह विचारणीय है। सर्वप्रथम तो जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शन समत्व की उपलब्धि के लिए त्रिविध साधना पथ का प्रतिपादन करते हैं। चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प पक्ष को समत्त्व से युक्त या सम्यक् बनाने हेतु जहाँ जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का प्रतिपादन करता है वहीं बौद्ध दर्शन प्रज्ञा, शील और समाधि का और गीता ज्ञानयोग कर्मयोग और भक्तियोग का प्रतिपादन करती है। केवल इतना ही नहीं, अपितु इन आचार दर्शनों ने हमारे व्यावहारिक और सामाजिक जीवन की समता के लिये भी कुछ दिशा निर्देशक सूत्र प्रस्तुत किये हैं। हमारे व्यावहारिक जीवन की विषमताएँ तीन है-१. आसक्ति २. आग्रह और ३. अधिकार भावना। यही वैयक्तिक जीवन की विषमताएँ सामाजिक जीवन में वर्ग-विद्वेष शोषकवृत्ति और धार्मिक एवं राजनैतिक मतान्धता को जन्म देती है और परिणाम स्वरूप हिंसा, युद्ध और वर्ग संघर्ष पनपते हैं। इन विषमताओं के कारण उद्भूत संघर्षों को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं-

(१) व्यक्ति का आन्तरिक संघर्ष- जो आदर्श और वासना के मध्य है, यह इच्छाओं का संघर्ष है। इसे चैतसिक विषमता कहा जा सकता हैं इसका सम्बन्ध व्यक्ति स्वयं से है।

(२) व्यक्ति और वातावरण का संघर्ष- व्यक्ति अपनी शारीरिक आवश्यकताओं और अन्य इच्छाओं की पूर्ति बाह्य जगत् में करता है। अनन्त इच्छा और सीमित पूर्ति के साधन इस संघर्ष को जन्म देते हैं। यह आर्थिक संघर्ष अथवा मनोभौतिक संघर्ष है।

(३) व्यक्ति और समाज का संघर्ष- व्यक्ति अपने अहंकार की तुष्टि समाज में करता है, उस अहंकार को पोषण देने के लिए अनेक मिथ्या विश्वासों का समाज में सृजन करता है। यहीं वैचारिक संघर्ष का जन्म होता है। ऊँच-नीच का भाव, धार्मिक मतान्धता और विभिन्न वाद इसी के परिणाम हैं।

(४) समाज और समाज का संघर्ष- जब व्यक्ति सामान्य हितों और सामान्य वैचारिक विश्वासों के आधार पर समूह या गुट बनाता है तो सामाजिक संघर्षों का उदय होता है। इसका आधार धार्मिक और वैचारिक दोनों ही हो सकता है।

सामान्य मूल्यांकन

भारतीय मनोविज्ञान व्यक्तियों की मानसिक बनावट में अंतर को स्वीकार करता है। सभी व्यक्तियों की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि जो उन्हें अपने पिछले जन्मों से प्राप्त होती है एक सी नहीं होती। जन्म के समय से ही प्रत्येक व्यक्ति के भावात्मक और बौद्धिक स्तर में फर्क होता है। कुछ लोग दुःखी मानवता के लिए संवेदनशील होते हैं और उनकी सेवा करना आवश्यक मानते हैं, कुछ दूसरे लोग भावुक अधिक होते हैं तथा संसार के पीछे जो रहस्यमय शक्ति काम कर रही है, उसे न केवल जानना चाहते हैं वरन् उसके साथ अपना तादात्म्य भी स्थापित करना चाहते हैं। कुछ अन्य लोग अपने विवेक और बुद्धि के प्रति आग्रहशील होते हैं। इन सभी लोगों को एक ही प्रकार की साधना-प्रणाली अनुकूल नहीं हो सकती। पहले प्रकार के लोगों के लिए कर्म-योग का प्रावधान किया गया है। वे दूसरों की निष्काम सेवा से अपना आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करते हैं। जो विश्व को संचालित करने वाली शक्ति को आश्यर्च और भय से देखते हैं उन भाव-प्रवण लोगों के लिए भक्तियोग है। वे लोग जो स्वयं प्रकृति के रहस्य का अनुसंधान करना चाहते हैं वे राजयोग की साधना कर सकते हैं। इसी प्रकार वे जो अपने शुद्ध विचार और बुद्धि द्वारा अपना आध्यात्मिक विकास करना चाहते हैं, उनके लिए ज्ञान-योग निर्धारित किया गया है। किन्तु हम किसी भी साधना से क्यों न आगे बढ़ें, अंततः सभी साधनाओं का लक्ष्य एक ही है। योग का शाब्दिक अर्थ 'संयुक्त करना' है और मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि सभी योग मनुष्य को उसकी दिव्यता के साथ संयुक्त करते हैं।

भक्ति-योग एक सहज और स्वाभाविक साधना का मार्ग है। अधिकांश लोग ब्रह्म के निर्गुण एवं अमूर्त स्वरूप पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते। अतः भक्ति ही एक सरल मार्ग है। भक्त में स्वतः भागवत-प्रेम के कारण विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम

जाग्रत् हो जाता है। भक्ति का आरंभ साधारण पूजापाठ से होता है और अंत भगवान् के प्रति प्रगाढ़ और अनन्य प्रेम में। यद्यपि भक्ति का प्रारंभ द्वैत से होता है (भक्त स्वयं अपने में और भगवान् में एक अंतर बनाए रखता है) किन्तु परमार्थ अवस्था में पहुंचकर प्रेम, भक्त और भगवान् में कोई अन्तर नहीं रहता अतः भक्ति से भी अभेद-प्राप्ति संभव है।

भावुकता से शून्य व्यक्तियों के लिए ज्ञान योग का विधान है। ज्ञान योग में ज्ञान का अर्थ इन्द्रियजन्य अथवा बौद्धिक ज्ञान से नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि' का अपरोक्ष ज्ञान ही, आत्मानुभूति ही, वास्तविक ज्ञान है। जिस प्रकार भक्ति योग में पारमार्थिक अवस्था में प्रेम, भक्त और भगवान् में कोई अन्तर नहीं रहता उसी प्रकार ज्ञानयोग में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का संक्रमण हो जाता है और ज्ञानी अद्वैत अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर लेता है।

प्रायः ज्ञानयोग और कर्मयोग को एक दूसरे का विरोधी समझा गया है। यह धारणा विशेषकर शंकराचार्य की उन उक्तियों द्वारा उत्पन्न हुई है जिनके अनुसार कर्म, मोक्ष का साधन नहीं बन सकता। शंकराचार्य ने सदैव प्रकृति-मार्ग को अस्वीकार किया है, किन्तु इससे यह अनुमान लगाना कि उन्होंने सभी कर्मों को निरस्त कर दिया है, ग़लत होगा। शंकर ने निष्काम कर्म की उपयोगिता स्पष्ट स्वीकार की है। केवल सकाम कर्म का खण्डन किया है। शंकराचार्य वस्तुतः कर्म को कर्मयोग में बदल देना चाहते हैं और इसके लिए यत्न को आवश्यक समझते हैं। उन्होंने निष्क्रियता का समर्थन कभी नहीं किया।

कर्मयोग का अर्थ है कुशलता के साथ कार्य करने की विधि। कर्मयोग जहाँ एक ओर स्वार्थयुक्त कर्मों के त्याग का विधान करता है तथा फलाशा और आसक्ति से रहित होने का उपदेश देता है वहीं दूसरी ओर लोक-संग्रह की दृष्टि रखते हुए निस्वार्थ कर्म का विधान भी करता है। अहंभाव को समाप्त कर, "मैं यह कर्म कर पा रहा हूं", इस भावना को निरस्त कर कर्म करना ही कर्मयोग है। कर्मयोगी की एकाग्रता केवल कर्म पर होती है, उसके फल पर नहीं। अतः कर्मयोग की सफलता के लिए एकाग्रता की, अथवा योग की आवश्यकता है।

कहा गया है कि साधक रूपी पक्षी के उड़ने के लिए ज्ञान और भक्ति उसके यदि दो पंख हैं तो योग (अर्थात् राजयोग) सामञ्जस्य बनाए रखने वाली उसकी पूंछ है। राजयोग ही वह मार्ग है जिससे हम एकाग्रता और ध्यान अर्जित करते हैं। इसकी आवश्यकता

कम या ज्यादा प्रत्येक साधन प्रणाली में पड़ती है। राजयोग में वर्णित यम-नियमादि सद्गुण सार्वभौमिक हैं और बिना किसी भेदभाव के सभी प्रकार के योगियों को स्वीकार करने आवश्यक होते हैं। ये साधक को एक नैतिक आधार देते हैं। बिना इनका पालन किए मुमुक्षु किसी भी प्रकार के मार्ग पर चल ही नहीं सकता। भक्ति मार्ग के लिए नारद ने जिन गुणों को आवश्यक बताया है उनमें न केवल सत्य और अहिंसा है, वरन् शौच, दया और विश्वास भी हैं। इसी प्रकार ज्ञानमार्गी के जिए जहाँ आसक्त कर्मों के त्याग की आवश्यकता है वहीं 'यम' और दया को आचरण में उतारने की व्यवस्था भी है। कर्मयोग जो फलाशा त्याग की अपेक्षा करता है वह इन्द्रियों पर नियंत्रण से ही इसे संभव बताता है। कर्मों के फल के प्रति निष्कामता तब तक हो ही नहीं सकती जब तक हम अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रख कर नैतिक सद्गुणों को अपने व्यवहार में स्थान न दें। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजयोग द्वारा निर्धारित यम-नियम केवल राजयोग के ही अनिवार्य अंग नहीं हैं वरन् अन्य सभी साधनाओं के लिए भी ज़रूरी हैं। सभी प्रकार की साधनाओं में एक नैतिक आयाम अवश्य होता है।

एक दूसरा पक्ष जो सभी योगों को सूत्रबद्ध करता है, एकाग्रता और 'ध्यान' है। राजयोग में तो स्पष्ट ही ध्यान को एक योगांग के रूप में स्वीकार किया गया है। राजयोग वस्तुतः कुल मिलाकर ध्यानयोग ही है। अन्य साधना प्रणालियों में जबकि हमारा ध्यान अन्यान्य विषयों पर रहता है राजयोग में हम स्वयं ध्यान पर ही ध्यान देते हैं। किन्तु भक्तियोग भी किसी भी या कोई भी विषय पर ध्यान देने के लिए अनुमति नहीं देता। वह केवल भगवान् पर ही ध्यान को स्वीकार करता है। भक्ति का अर्थ ईश्वर के प्रति आसक्ति अथवा उसका ही निरन्तर ध्यान है।

ध्यान न केवल राजयोग और भक्तियोग के लिए अनिवार्य है वरन् ज्ञानयोग के लिए भी यह उतना ही आवश्यक है। ज्ञानयोग अपेक्षाकृत एक नया शब्द है। पहले ज्ञानयोग को ब्रह्मविद्या कहा जाता था और विद्या का अर्थ उपासना और ध्यान से है। ज्ञानयोग के अनुसार जब तक हम नित्यानित्य विवेक नहीं कर पाते, आत्मन् पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकते। आत्मन् ही अंततः नित्य है। एक बार ईश्वर के अस्तित्व को हम संदेह की दृष्टि से देख सकते हैं, किन्तु स्वयं अपने पर भला कौन संदेह कर सकता है? अतः ध्यान का एकमात्र विषय ज्ञानयोग के अनुसार आत्मा ही है।

क्या कर्मयोग में ध्यान के लिए कोई स्थान है? यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। कर्मयोग नकारात्मक रूप से उन विषयों की ओर संकेत करता है जिन पर हमें ध्यान नहीं देना

चाहिए। कर्म-योग का मूल पाठ कर्म से फल की आशा का त्याग है। अतः कर्मयोग हमें यह उपदेश देता है कि हम अपना ध्यान केवल कर्म पर ही केन्द्रित करें, उसके फल पर नहीं। जिस प्रकार भक्त की संपूर्ण आसक्ति भगवान् पर होती है और इस प्रकार भगवान् ही उनके ध्यान का केन्द्र बनता है, उसी प्रकार कर्मयोगी की आसक्ति कर्मफल पर नहीं होती और कर्मफल उसके ध्यान का विषय नहीं बनता। कर्म-योगी का कर्म अनासक्त कर्म है, अर्थात् कर्म के फल पर उसका ध्यान नहीं है।

नैतिक सद्गुणों और ध्यान के अतिरिक्त एक तीसरा तत्त्व जो सभी साधनाओं में समान रूप से परिलक्षित है, वह है अहं-नाश। सभी प्रणालियों में मूलतः अहं-नाश द्वारा ही अंतिम लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। कर्मयोग में कर्म को फलाकांक्षा से रहित ईश्वरार्पण किये जाने पर अहं नहीं रहता। भक्तियोग में भक्त का अहं भगवान् के अहं में लय हो जाता है। राजयोग में साधक का अहं समाधि में विलीन हो जाता है और ज्ञानयोग में ज्ञानी का अहं ब्रह्म में एकाकार हो विश्वेक की स्थिति में आ जाता है। अतः कहा जा सकता है कि अहं-त्याग के बिना कोई साधना पूरी होती ही नहीं।

विभिन्न साधनाओं (योगों, मार्गों) में जो प्रकारान्तर है वह मनुष्य की प्रवृत्ति अथवा गुण-प्राधान्य के अनुसार किया गया है। किन्तु ये सभी मार्ग एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। वे वस्तुतः एक दूसरे के सहयोगी हैं। जो तत्त्व इन्हें एकसूत्रता प्रदान करते हैं वे हैं-नैतिक आधार, ध्यान और अहम् शून्यता।

सन्दर्भ

१. *भगवती सूत्र*, देखें, जैन, डा० सागरमल, *धर्म का मर्म*, वाराणसी, पृ० ८६.

२. देखें, जैन, डा० सागरमल, *जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग*, जयपुर, १९८२ पृ० ३.

३. *समण-सुत्तं*, वाराणसी १९८६, गाथा, ३४१

४. वही, गाथा, २७५

५. वही, गाथा, ३४२

६. वही, गाथा, ३४६

७. वही, गाथा, ३४७

८. वही, गाथा, ४२३

९. वही, गाथा, ४२४

१०. "दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह"

-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४७

११. "एकाग्र-चिंता-रोधो यः परिस्पंदेन वर्जितः।
तद्ध्यानम्....." *तत्त्वानुशासन,* वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, दिल्ली, श्लोक ५६

१२. "....ध्यानमप्रशस्त-प्रशस्तेभेदेन द्विविधं" वही।

१३. "आर्त्तरौद्रधर्मशुक्लानि," *तत्वार्थसूत्र,* ६.२६

१४. "निष्क्रियं करुणातीतं ध्यान धारणा वर्जितम्", *ज्ञानार्णव,* ३६/४१

१५. जैन, डा० सागरमल, *जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग,* जयपुर, १६८२, पृ० १६-१६.

उपसंहार

यूँ तो मूल्य सदैव ही दार्शनिक अभिरुचि के विषय रहे हैं, लेकिन एक शास्त्र के रूप में मूल्यों का अध्ययन एक सर्वथा नई दार्शनिक विधा है जिसे मूल्य-मीमांसा (ऐक्सिऑलॉजी) के नाम से केवल पिछली शताब्दी के अन्त में ही अपनी पहचान मिल सकी है। दर्शनशास्त्र की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में मूल्य-मीमांसा का अस्तित्व इससे पहले न तो दर्शन की पाश्चात्य परम्परा में ही रहा है और न ही भारतीय परम्परा में। लेकिन दोनों ही परम्पराओं में मूल्यगत सन्दर्भों को स्पष्ट देखा जा सकता है।

'मूल्य' - जैसा कि आज हम समझते हैं - वस्तुतः एक पाश्चात्य अवधारणा है और इसका अर्थ 'वह जो होना चाहिये' माना गया है। अतः मूल्य को एक तथ्यात्मक अथवा प्रकृतिवादी तत्त्व नहीं माना जा सकता। वस्तुतः कई बार दार्शनिकों द्वारा यह प्रयत्न किया गया है कि मूल्य की एक प्रकृतिवादी परिभाषा विकसित की जाए। उदाहरण के लिये मूल्य को कभी 'अभिरुचि का विषय' तो कभी 'सुख का विषय' या फिर कभी 'इच्छा का विषय' निरूपित किया गया है। लेकिन ये सारे प्रयत्न अन्ततः असफल रहे हैं, क्योंकि मूल्य का मर्म किसी मनोवैज्ञानिक वृत्ति में न होकर उसके नैतिक स्वरूप में है। 'वह जो होना चाहिये' को निर्नैतिक पदों में घटित नहीं किया जा सकता।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मूल्य की अवधारणा प्रकृतिवादी सन्दर्भ से पूर्णतः कटी हुई है। प्रकृतिवादी सन्दर्भ के बिना मूल्य केवल एक आकारगत प्रत्यय मात्र रह जाता है। मूल्य को उसकी अन्तर्वस्तु तो वस्तुतः प्रकृतिवादी सन्दर्भ ही देते हैं। सुप्रसिद्ध दार्शनिक ई. सी. ईविंग ने मूल्य की एक ऐसी परिभाषा देने का प्रयत्न किया है जिसमें ग़ैर प्रकृतिवादी तत्त्वों का एक सुन्दर समन्वय है। उसके अनुसार मूल्य हमारी 'अनुकूल वृत्ति का एक उचित विषय है' (फिटिंग ऑब्जेक्ट ऑफ ए प्रो-एटीट्यूड)। इस परिभाषा में 'वृत्ति के विषय' के रूप में मूल्य जहाँ एक ओर प्रकृतिवादी तत्त्व से जुड़ जाता है वहीं दूसरी ओर एक 'उचित' विषय होने के नाते वह प्रकृतिवाद का अतिक्रमण भी कर जाता है और इस प्रकार, एक नैतिक पद बन जाता है। 'उचित' स्पष्ट ही वह है 'जो होना चाहिए'। यह मूल्य के नैतिक स्वरूप को अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

परम्परागत भारतीय दर्शन में उपर्युक्त अर्थ में मूल्य के समानार्थक कोई अन्य पद नहीं है। मूल्य के बजाय कई अन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है – जैसे इष्ट, प्रयोजन, श्रेय और अर्हता आदि। इन सभी पदों की अर्थ छटाएँ थोड़ी भिन्न-भिन्न

हैं। वे मूल्य के अर्थ तक तो अवश्य जाती हैं, किन्तु मूल्य की समानार्थक नहीं हैं। 'श्रेय' जहाँ मूल्य के आत्मगत स्वरूप को बतलाता है (मूल्य को मूल्य होने का श्रेय आखिर व्यक्ति ही देता है), वहीं अर्हता मूल्य के वस्तुनिष्ठ पक्ष की ओर संकेत करता प्रतीत होता है (क्योंकि यदि किसी तत्त्व में मूल्यगत अर्हता नहीं होगी तो उसे श्रेय दिया ही क्यों जाएगा)।

मूल्य के आधुनिक अर्थ में सर्वाधिक निकट शब्द 'इष्ट' और 'प्रयोजन' हैं। इष्ट का अर्थ सामान्यतः 'इच्छा' के विषय से लिया जाता है, लेकिन स्पष्ट ही इच्छा का विषय मूल्य नहीं हो सकता। वह एक उचित विषय भी होना चाहिये। भारतीय दर्शन में प्रयोजन की परिभाषा में 'इष्ट' तो सम्मिलित है ही, लेकिन 'इष्ट' क्या हो इसके बारे में 'अवगत' होना भी आवश्यक माना गया है। इष्ट के विषय में अवगत होने से तात्पर्य वस्तुतः इष्ट के उचित विषय के बारे में जानकारी होना है। भिखारी के एक उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। एक भिखारी इस बात से अच्छी तरह अवगत होता है कि भीख में उसका प्रयोजन सुस्वादु भोजन प्राप्त करना नहीं है। उसका इष्ट रूखा-सूखा भोजन ही प्राप्त करना है और यही उसका प्रयोजन कहा जाएगा। आधुनिक शब्दावली में कहें तो उसके लिये यही मूल्य है। प्रयोजन से तात्पर्य, इस प्रकार, 'इच्छा का उचित विषय' ही है।

भारतीय दार्शनिक साहित्य में हमें मूल्यों के दो प्रतिमान (मॉडल्स) देखने को मिलते हैं – (क) त्रिवर्ग और (ख) पुरुषार्थ। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि मूल्यों के इस प्रकार के प्रतिमानों की कल्पना केवल भारतीय चिन्तन में ही हुई है। इन प्रतिमानों में इस बात पर विचार किया गया है कि इच्छा के उचित विषय क्या होने चाहिये और वे किस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित रहने चाहिये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'त्रिवर्ग' और 'पुरुषार्थ', दोनों ही पद्धतियाँ एक दूसरे से विलग नहीं हैं। सच तो यह है कि 'पुरुषार्थ' प्रतिमान 'त्रिवर्ग' का ही तार्किक विस्तार है। इसमें त्रिवर्ग में स्वीकृत मूल्यों के अतिरिक्त एक और मूल्य जोड़ दिया गया है और इस प्रकार त्रिवर्ग को ही और अधिक समृद्ध किया गया है।

त्रिवर्ग में मूल्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है – धर्म, अर्थ और काम। धर्म नैतिक मूल्यों का, अर्थ आर्थिक मूल्यों का और काम मनोवैज्ञानिक मूल्यों का समूह है। किन्तु अर्थ और काम अपने आप में मूल्य नहीं कहे जा सकते। वे केवल वृत्तियाँ मात्र हैं और इन वृत्तियों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। अर्थ जहाँ एक ओर 'अनेकान्तिक' है वहीं काम दूसरी ओर 'अनात्यन्तिक' है। अतः इनको मूल्य की परिधि में लाने के लिये यह आवश्यक है कि इन्हें औचित्य प्रदान किया जाए। यह औचित्य धर्म प्रदान करता है। धर्म के बिना अर्थ और काम दोनों ही अन्धे हैं। किन्तु इससे यह सोचना कि 'धर्म' का कार्य अर्थ और काम के बिना

चल सकता है, ग़लत होगा। धर्म अपने आपमें केवल एक आकारगत प्रत्यय है, उसे उसकी अन्तर्वस्तु अर्थ और काम ही प्रदान करते हैं। जिस तरह धर्म के बिना अर्थ और काम अन्धे हैं उसी तरह अर्थ और काम के बिना धर्म रिक्त है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि त्रिवर्ग मूल्य-व्यवस्था में धर्म, अर्थ और काम तीनों का ही समन्वित सेवन जरूरी है। समन्वित सेवन से तात्पर्य है कि इन तीनों ही तत्त्वों का कुछ इस प्रकार सेवन किया जाए कि वे एक-दूसरे के अपघाती न हों।

त्रिवर्ग प्रतिमान में जब मोक्ष तत्त्व और जोड़ दिया गया तो यही त्रिवर्ग मूल्यों की 'पुरुषार्थ चतुष्टय' पद्धति बन गया। यह परिवर्तन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। त्रिवर्ग में जहाँ तीनों तत्त्वों के समन्वित सेवन पर बल दिया गया है, पुरुषार्थ-व्यवस्था में यह मापदण्ड बदल गया है और त्रिवर्ग की मूल्यवत्ता केवल इस बात में निहित मान ली गई है कि उसका सेवन मोक्षानुकूल हो। त्रिवर्ग का मोक्षानुकूल होने का अर्थ है मोक्ष की दिशा में धर्म, अर्थ और काम का उदात्तीकरण। पुरुषार्थ चतुष्टय इस प्रकार त्रिवर्ग को नकारता नहीं, वह उदात्तीकरण के पक्ष में है।

भारत में वैदिक और श्रमण ये दो संस्कृतियाँ सदैव ही अपनी पहचान बनाए रखने में सफल रही हैं। वैदिक संस्कृति को प्रायः प्रवृत्ति-प्रधान संस्कृति माना गया है और श्रमण संस्कृति निवृत्तिमार्गी मानी गई है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वैदिक परम्परा में मूल्यों की त्रिवर्ग-पद्धति पर सामान्यतः बल दिया गया है, जबकि निवृत्तिमार्गी श्रमण-संस्कृति 'मोक्ष' को एकमात्र (परम) पुरुषार्थ मानते हुए त्रिवर्ग की मूल्यवत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाती रही है। अतः यह एक सहज प्रश्न उठता है कि क्या श्रमण परम्परा में केवल मोक्ष ही मूल्यवान है, और अन्य सभी तत्त्व - धर्म, अर्थ और काम - मूल्यरहित हैं।

जैन दर्शन में मोक्ष को एकमात्र साध्य मानकर धर्म को मोक्ष-मार्ग कहा गया है। इस प्रकार मोक्ष और धर्म दोनों की ही मूल्यवत्ता को स्वीकार किया गया है। परन्तु कुछ जैन ग्रन्थों में अर्थ और काम को मोक्ष का बाधक मानते हुए इन्हें नकार दिया गया है, और इस प्रकार इन तत्त्वों को विमूल्य कर दिया गया है। आजकल के कुछ जैन विचारक इस मत को स्वीकार नहीं करते। आधुनिक व्याख्याकारों के अनुसार जैन-दर्शन निरपेक्ष रूप से अर्थ और काम को मूल्य रूप में अस्वीकार नहीं करता। उसका केन्द्रीय भाव सापेक्ष-भाव है। अतः अर्थ और काम की मूल्यवत्ता भी सन्दर्भानुसार ही निश्चित की जा सकती है। मोक्ष के परिप्रेक्ष्य में वे भले ही विमूल्य हों किन्तु व्यवहार दृष्टि से उन्हें पूरी तरह मूल्य-रहित नहीं माना जा सकता। यह बात कुरल काव्य (तमिल में तिरुवल्लुवर द्वारा रचित, नीति-ग्रंथ) से और भी स्पष्ट हो जाती है जिसमें त्रिवर्ग को ही आदर्श बनाया गया है। कुरल राजा और उसकी प्रजा के मूल्यों की विवेचना करती है न कि श्रमणों की मूल्य-व्यवस्था पर। अतः उसके द्वारा त्रिवर्ग पर आग्रह स्वाभाविक है। यहाँ ध्यातव्य है कि सामान्यतः कुरल को एक जैन नीति-ग्रन्थ ही माना गया है।

मूल्य मानव प्रयोजन हैं और इन प्रयोजनों की सार्थकता इसी में है कि इन्हें हासिल किया जा सके। मूल्य केवल वैदिक समझ की वस्तु नहीं हैं। ये साध्य हैं जिन्हें हम अपनी साधना से प्राप्त कर सकते हैं। अतः मूल्य को सार्थक बनाने के लिये साधना की आवश्यकता है। पुरुषार्थ-चतुष्टय पद्धति में क्योंकि मोक्ष को सर्वोच्च मूल्य माना गया है अतः मोक्षोन्मुख साधना की कई पद्धतियाँ विकसित हुई हैं। मोक्ष यदि सर्वोच्च मूल्य है तो उसकी साधना-पद्धति का उल्लेख किये बिना मूल्य-चर्चा अधूरी ही रह जाएगी।

जब हम किसी सद्गुरु को अपने आचरण में प्रतिबिम्बित करने के लिये 'व्रत' लेते हैं तो वस्तुतः हम इस सद्गुरु के प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त कर रहे होते हैं। ऐसी निष्ठा के बिना इष्ट कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। भारतीय चिन्तन में पाँच प्रमुख निष्ठाएँ मानी गई हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन सद्गुणों के अनुकूल आचरण ही हमें मोक्ष-मार्ग पर ले जा सकता है। किन्तु इन पाँचों व्रतों का पूर्ण पालन लगभग असम्भव है। जब तक मनुष्य के पास उसका शरीर है, उसे इन व्रतों में थोड़ी बहुत छूट की आवश्यकता बनी ही रहती है। इस प्रश्न को लेकर जैन दर्शन में काफी विचार हुआ है। जैन-दर्शन व्रतों के दो रूपों में स्पष्ट भेद करता है – महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रतों का पालन मुनियों/साधुओं (श्रमणों) के लिये है। जो केवल मोक्ष-साधन में ही रत हैं, उन्हें इन व्रतों के पालन में कोई छूट नहीं है। किन्तु जहाँ तक सामान्य गृहस्थों का प्रश्न है, उन्हें इन व्रतों का पालन करने में काफी कुछ छूट दी गई है। श्रमणों और श्रावकों के मध्य साधना का यह अन्तर हिन्दू धर्म की विशेषता नहीं है। हिन्दू दर्शन में वृत्ति के अनुसार केवल साधना-पद्धतियों में विकल्प सुझाए गए हैं। मनुष्य अपनी अभिरुचि के अनुसार ज्ञान, भक्ति या कर्मयोग चुन सकता है। इसके अतिरिक्त पातंजल-योग का विकल्प भी खुला हुआ है। इन सभी साधना-पद्धतियों में अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना ही है, अतः इन सभी में अनेक समान तत्त्व हैं। यदि अन्तर है तो वह व्यक्ति के मनोगठन का, जो उसे किसी एक पद्धति को चुनने के लिये प्रेरित करता है। जैन साधना-पद्धति 'सामायिक' कहलाती है। जैन-दर्शन का केन्द्रीय मूल्य क्योंकि सम्यक्त्व को प्राप्त करना है अतः उसी के लिये यह सामाजिक साधना निर्धारित की गई है।

भारतीय समाज में भारत की प्राचीन मूल्य-पद्धति आज जीर्ण-शीर्ण हो चुकी है और सामान्य जीवन पर पाश्चात्य मूल्यों का वर्चस्व है। क्या हम अपनी अस्मिता को बचाने के सीमित उद्देश्य को सामने रखकर भी भारतीय मूल्य व्यवस्था को पुनर्जीवित कर सकेंगे ? आज का यह यक्ष प्रश्न बन गया है।

●

अनुक्रमणिका (विषयानुसार)

अर्थ
— अनर्थ २२-२३
— और काम, (जैन दर्शन में), १३८-१३६
— का तात्पर्य, ५५
— और परिग्रह, ६०-६२
— की मूल्यवत्ता, ५७-६२
— का स्वरूप (जैन दर्शन में), १३६-१४०
इष्ट-द्विष्ट, २०-२२
काम, का अर्थ, ६५-६६
—, अभीष्ट पदार्थ के रूप में, ६८-७०
—, इच्छा या संकल्प के रूप में, ६६-६८
— का स्वरूप (जैनदर्शन में) १४२-१४४
—, सुख के रूप में, ७१-७७
कुरल, १०६-१२६
— में अर्थ, ११४-११७
— में काम, ११७-१२२
— में धर्म, १०८-११४
— में मोक्ष, १२३-१२५
— का परिच्छेद १२, न्यायशीलता, ११०
— — — १५, परस्त्रीत्याग, १२०
— — — ३३, अहिंसा, ११३-११४
— — — ५५, न्यायनिष्ठता, १११-११२
— — — १०५, दरिद्रता, ११५
जीवन मुक्ति, ६०-६२
त्रिवर्ग, २५-३१
— और पुरुषार्थ, ३६-४१
धर्म का अर्थ, ४४
— की अर्थक्रिया (कार्य), ४६
— और ऋत, ४५-४६
—, नित्य और काम्य, ४७
—, नैमित्तिक और आपात्, ४७-४८
धर्म
—, सामान्य और विशेष, ४६-४७
— के स्रोत (लक्षण), ४६
— का स्वरूप (जैनदर्शन में), १३०-१३७
पंचकोष, ६२-६८
— और पुरुषार्थ-पद्धति, ६८-१००
परिग्रह-अपरिग्रह (जैनदर्शन में), १४०-१४२
पुरुषार्थ, ३०-३३
— का अर्थ, ३३-३६, १२८-१३०
—, कुरल काव्य में (अध्याय ६)
—, जैनदर्शन में (अध्याय ७)
प्रेय और श्रेय, २३-२५
मूल्य का अधिष्ठान, १५
— और तथ्य, १३-१७
—, पुरुषापेक्षी, ३३-३६
—, प्राचीन दर्शनों में, १-५
— का स्वरूप, ५-१३
मोक्ष, आत्मसंयम के रूप में, ८८-६०
—, आत्मानुभूति के रूप में, ८५-८७
—, आनन्दानुभूति के रूप में, ८७-८८
—, दुःखाभाव के रूप में ८२-८४
— का स्वरूप, (जैनदर्शन में), १४५
योग, अर्थ और उद्देश्य, १८४-१८६
—, अष्टांग, १६८-२०३
—, कर्म, १८६-१८६
—, पातंजल (राजयोग), १६६-१६८

—, समत्व, २०३-२०६
व्रत, १५४-१५६
—, अपरिग्रह, १७६-१८१
—, अस्तेय, १६७-१७१
—, अहिंसा, १५६-१६२
—, ब्रह्मचर्य, १७१-१७६
—, सत्य, १६२-१६६
सुख, सौन्दर्यमूलक, ७७-८०
सुखवाद, ७१-७७

प्रस्तुत कृति

जीवन के विविध मूल्यों के स्वरूप और इनके आपेक्षिक महत्त्व का प्रश्न दर्शन का केन्द्रीय विषय है। हमारे देश के प्राचीन तथा मध्ययुगीन विचारक प्रायः मोक्ष की चर्चा करते हैं जो उनकी दृष्टि में जीवन का परम-मूल्य है। उपनिषद् काल से ही मोक्ष की चर्चा होती आई है किन्तु हमारे दो विशिष्ट महाकाव्य, रामायण और महाभारत का सरोकार मुख्यतः नैतिक प्रश्नों से ही रहा है।

आज, भौतिकवादी पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ और काम को ही महत्त्व-पूर्ण पुरुषार्थ मानने लगे हैं और इसीलिए उनके सेवन को भी निरापद मानते हैं। अर्थ और काम निस्सन्देह मूल्यों की कोटि में रखे जा सकते हैं किन्तु पुरुषार्थ-चतुष्टय की पद्धति में वे मूल्यवान तभी माने गए हैं जब धर्म द्वारा वे परिसीमित हों और उनका उदात्तीकरण सम्भव हो।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय जीवन मूल्य इस बिन्दु को विशेष रूप से रेखांकित करती है। हिन्दी में अभी तक मूल्यों के विषय में अलग से सोचने और लिखने की प्रवृत्ति बलवती नहीं रही है। इस दृष्टि से भी यह पुस्तक एक सुखद अपवाद प्रस्तुत करती है।

लेखक

डॉ० सुरेन्द्र वर्मा

जन्म १९३२, मैनपुरी (उ० प्र०)

शिक्षा — क्रिश्चियन हाईस्कूल मैनपुरी, के० पी० कॉलेज इलाहाबाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा विक्रम वि० वि०, उज्जैन।

प्रकाशित ग्रन्थ — मेटाफिजिकल फाउण्डेशन्स ऑफ महात्मा गांधीज थॉट (ओरिएण्ट लॉंगमैन्स), ... प्रवृत्तियाँ' तथा 'भारतीय दर्शन — सम्प्र... ग्रन्थ अकादमी, भोपाल), भारती...)।

अस्वीकृत सूर्य (क...), 'कुर्सियाँ हिल रही हैं' तथा 'लो... प्रेस में)।

पूर्व पदादि — प्राध्यापक ... विभाग, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर। प्राचार्य, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जावरा, मंदसौर, नीमच और इन्दौर (म० प्र०)। कला संकायाध्यक्ष, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर।

सम्प्रति — उपनिदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

सम्पर्क — १/१० सर्कुलर रोड, सिविल लाइन्स, इलाहाबाद।